PRAMARSH

VOL. 11 1989—90

G. K. V. HARDWAR

परामर्श

(हिंदी)

खण्ड ११ अंक १

दिसम्बर, १९८९ / मार्गशीर्ष–पौष, २०४६

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे	राजेन्द्र प्रसाद
आनन्दप्रकाश दीक्षित	मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

☐ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका

☐ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक सुरेन्द्र बार्लिंगे ☐ राजेन्द्र प्रसाद ☐ आनन्दप्रकाश दीक्षित ☐ मो. प्र. मराठे

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ☐ रमाकान्त सिनारी ☐ विजयकुमार भारद्वाज ☐ शारदा जैन संगमलाल पांडे ☐ आर्. बालसुब्रमणियन् ☐ अशोक रा. केळकर ☐ के. जे. शहा ☐ नारायणशास्त्री द्राविड ☐ के. सच्चिदानंद मूर्ति ☐ जी. सी. नायक ☐ ग. ना. जोशी ☐ मोहनलाल मेहता ☐ जे. फाईस ☐ सुमन गुप्ता ☐ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ☐ सु. ए. भेलके ☐ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें, संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय गणेशखिंड, पुणे ४११००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु. ४०–००
(२) व्यक्तियों के लिए	रु. ३०–००
(३) छात्रों के लिए	रु. २०–००
एक प्रति	रु. ८–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १२५०–००
व्यक्तियों के लिए रु. ३००–००

☐ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें ।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर क लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिण्टिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिण्टिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होन महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिण्टिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिण्टिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

संबद्धता और उसके प्रकार

–१–

भाषाविज्ञान और व्याकरण में मुख्यतः भाषा के नियमों और सिद्धान्तों की चर्चा होती है। कब और कैसे किस शब्द, रूप या रचना का प्रयोग होगा-- संक्षेप में यही भाषाविज्ञान है। दूसरी ओर शुद्धतावादी व्याकरण भाषा के नियमों को निर्धारित करता है जिनके आधार पर भाषा का एक प्रयोग शुद्ध तथा अन्य प्रयोग अशुद्ध माने जाने लगते हैं।

भाषा के प्रयोगों का एक दूसरा पक्ष भी है जिसमें भाषा को हम जीवन से जोड कर देखते हैं। भाषिक साधनों को देखने की यह दृष्टि अधिक जीवन्त है। इसके अंतर्गत भाषा के प्रयोगों को वस्तुजगत् तथा जीवन की वास्तविकता की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया जाता है और यह भी देखा जाता है कि मानवीय चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिये किस प्रकार भाषा के विभिन्न साधन प्रयोग में आते हैं। इसमें हम भाषा के प्रयोग को नियमों और सिद्धान्तों के आधार नहीं देखते हैं। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में भाषिक साधनों के प्रयोग और उनके नियमों को सामने रखा जाता है तथा शुद्धतावादी व्याकरण में भाषिक साधनों के प्रयोग के नियम बना या बता दिए जाते हैं। जैसे : 'उनका एक बेटा है' या 'उनके एक बेटा है।'–भाषाविज्ञान इन दोनों प्रयोगों को सही और शुद्ध मानेगा परन्तु शुद्धतावादी व्याकरण इनमें से किसी एक को शुद्ध तथा दूसरे को अशुद्ध मानेगा। ऐसे प्रयोगों के प्रति एक तीसरा दृष्टिकोन हो सकता है कि यदि वास्तविकता की अभिव्यक्ति में कोई अन्तर नहीं पडता तो दोनों ही प्रयोग ग्राह्य हैं। प्रस्तुत लेख में यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। इसमें हमने संबद्धता[1] को सामाजिक चिन्तन के रूप में देखते हुए उसकी अभिव्यक्ति के भाषिक साधनों का अध्ययन प्रस्तुत किया है तथा वाक्य के ढाँचों को भी वास्तविकता से जोड़ कर देखा है।

—२—

वाक्य के स्तर पर संबन्ध की अभिव्यक्ति के लिये हिन्दी में संबन्धसूचक परसर्ग का[२] तथा होना क्रिया का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिये :

(१) सुन्दरलाल के तीन बेटे हैं।

(२) शर्मा जी के दो मकान हैं।

इन वाक्यों में क्रमशः परिवार के सदस्यों (सुन्दरलाल और उनके बेटों) तथा संपत्ति (मकान) और उसके स्वामी (शर्मा जी) के संबन्ध को व्यक्त किया गया है। चूँकि संबन्ध शब्द का प्रयोग और भी कई अर्थों में होता है इसलिये उनके इन अर्थों का परिसीमन करते हुए हम यहाँ 'संबद्धता' शब्द का प्रयोग करना उचित समझते हैं। संबद्धता के उल्लिखित प्रकारों को वंशमूलक संबद्धता तथा संपत्ति मूलक संबद्धता कहा जा सकता है।[३]

संबद्धता को अभिव्यक्त करने वाली वाक्यरचना को हम संबद्धताबोधक वाक्यरचना कह सकते हैं। ऊपर आए वाक्य–१ और वाक्य–२ में प्रयुक्त संबद्धता–बोधक वाक्यरचना का ढाँचा इस प्रकार है :

(क) क–का– ख –होना[४]

अथवा :

(ख) स–का – स – होना[५]

इस ढाँचे में 'क' और 'ख' की संबद्धता स्पष्ट है। 'क' के स्थान पर संबद्ध पदार्थ[६] का वाचक पद आएगा तथा 'ख' के स्थान पर उस पदार्थ का वाचक पद आएगा जिससे उसकी संबद्धता है। वाक्य अथवा उक्ति में 'क' और 'ख' की भूमिका को देखते हुए तथा आगे के विवेचन की सुविधा के लिये हम 'क' को धारक तथा 'ख' को धारित कह सकते हैं। ऊपर के उदाहरणों में 'सुन्दरलाल' और 'शर्मा जी' धारक हैं तथा 'तीन बेटे' और 'दो मकान' धारित।

हम देखते हैं कि इस ढाँचे में 'ख' (धारित) के स्थान पर जातिवाचक संज्ञा का प्रयोग हुआ है तथा 'क' (धारक) के स्थान पर व्यक्तिवाचक संज्ञा का। इसलिये इस ढाँचे को ऐसे भी प्रस्तुत किया जा सकता है :

(ग) स (व्य.)–का – स (जाति.) – होना

धारक के रूप में संज्ञा का प्रतिस्थापन करनेवाला सर्वनाम भी आ सकता है। जैसे :

(३) उसके/उनके तीन बेटे हैं। (१)[७]

(४) उनके दो मकान हैं। (२)

(५) मेरी दो बहनें हैं।

धारित के स्थान पर प्रयुक्त पद या शब्द का प्रयोग कर्ता (अविकारी) कारक में होता है, इसलिये उसे 'स$_1$' के रूप में अंकित किया जा सकता है। इसी तरह धारक ('स–का') के स्थान पर प्रयुक्त पद या शब्द का प्रयोग विकारी (अथवा संबन्ध) कारक[८] में होता है, इसलिये उसे 'स$_2$–का' के रूप में अंकित किया जा सकता है। इस तरह उक्त संबद्धताबोधक वाक्यरचना का पूरा ढाँचा इस प्रकार बनेगा :

(घ) स$_2$ (व्य.)–का–स$_1$ (जाति.) – होना

कर्ता कारक में प्रयुक्त 'स$_1$' वाक्य में उद्देश्य के रूप में आता है तथा विकारी कारक में प्रयुक्त 'स$_2$' विधेय का अंग होता है। हम देखते हैं कि इस ढाँचे में उद्देश्य और विधेय का प्रयोग सामान्य क्रम का विपर्यय होने से इसे वैपर्यित वाक्यरचना भी कहा जा सकता है। परन्तु प्रकार्यात्मक वाक्यविन्यास[९] की दृष्टि से यह सामान्य क्रम है जिसमें ज्ञात अंश ('स$_2$ (व्य.)–का') पहले आया है तथा अज्ञात अंश ('स$_1$ (जाति') बाद में।

अब ऊपर बताई गई दो प्रकार की संबद्धताओं पर विचार करते हैं।

—३—

वंशमूलक संबद्धता—वंशमूलक संबद्धता का आधार है धारक और धारित का एक ही वंश अथवा परिवार का होना। दूसरे शब्दों में 'स$_1$' का 'स$_2$' से संबन्ध इस आधार पर होता है कि दोनों एक ही वंश के अंतर्गत आते हैं। उदाहरण के लिये :

(१) सुन्दरलाल के तीन बेटे हैं।

(६) राजा दशरथ के चार पुत्र थे।

(७) उनकी/उनके एक लडकी है।

इन सभी उदाहरणों में धारित पदार्थ के वाचक पद के साथ संख्यावाचक शब्द का प्रयोग हुआ है। संतान का उल्लेख करते समय संख्या भी बता देना स्वाभाविक ही है। उक्त वाक्यों में से संख्यावाचक शब्द हटाना संभव नहीं है।

इन वाक्यों को सामान्य अनुतान में बोला जाएगा। संख्यावाचक शब्द पर बल देने की आवश्यकता नहीं है। केवल विशेष परिस्थिति या संदर्भ में ही संख्यावाचक शब्द पर बल दिया जाएगा और तब उनके उच्चारण में तान ऊँची हो जाएगी।

अब एक अन्य उदाहरण लें :

(८) उनका/उनके एक बेटा है।

(९) उनके बेटा है।

यहाँ दोनों ही स्थितियों में बेटे की संख्या तो एक है परन्तु वाक्य–८ की अनुतान में 'बेटा' शब्द पर बल दिया गया है जिसका आशय है कि 'उनके बेटी नहीं, बेटा है'। इस वैषम्य को दिखाने के लिये यहाँ 'बेटा' के उच्चारण में तान ऊँची हो जाएगी।

३. १. पारिवारिक संबन्ध द्विपक्षीय तथा पारस्परिक होते हैं। इसलिये वंशमूलक संबद्धता वाले वाक्यों में धारक और धारित की भूमिका को बदल कर वंशमूलक संबद्धता को दो अलग–अलग प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

उदाहरण के लिये :

(१०) सुन्दरलाल का एक भतीजा है। उसका नाम राजेश है।

(११) राजेश के एक चाचा हैं। उनका नाम सुन्दरलाल है।

उल्लेखनीय है कि यहाँ 'एक' का प्रयोग परिचय देने के लिये हुआ है, न कि संख्या बताने के लिये। यह परिचय दूसरे वाक्य में भतीजे का (वाक्य–१०) और चाचा का नाम (वाक्य–११) बताने से पूरा होता है। इन वाक्यों के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि 'सुन्दरलाल का एक ही भतीजा है' या 'राजेश के एक ही चाचा हैं'। परन्तु यदि केवल इतना ही कहें कि 'सुन्दरलाल का एक भतीजा है', 'राजेश के एक चाचा हैं' (ऊपर वाक्य–८ भी देखें) तो यहाँ पर 'एक' निश्चित संख्या का वाचक है जिसके उच्चारण में तान ऊँची हो जाएगी। इस प्रकार 'एक' शब्द के संख्यात्मक और परिचयात्मक प्रयोगों में अंतर करना आवश्यक है। परिचयात्मक प्रयोग केवल वाक्य के स्तर पर ही निश्चित किया जा सकता है क्योंकि वह तो संख्यावाचक 'एक' का मूल अर्थ नहीं है। परिचयात्मक एक का संख्यावाचक 'एक' से संबन्ध यह है कि परिचयात्मक 'एक' के द्वारा वास्तविक अथवा संभावित पदार्थों में से किसी एक का परिचय देने का उपक्रम किया जाता है।

संख्यात्मक और परिचयात्मक 'एक' का प्रयोग माता-पिता, दादा-दादी और नाना–नानी के साथ संभव नहीं है। इसका कारण भी स्पष्ट है। उक्त पारिवारिक सदस्यों में से कोई भी संख्या में एक से अधिक नहीं होता है। इसलिये उनकी संख्या का उल्लेख व्यतिरिक्त है, आवश्यक ही नहीं है। इन पारिवारिक सदस्यों के साथ परिचयात्मक 'एक' का प्रयोग भी संभव नहीं है क्योंकि माता-पिता, दादा-दादी और नाना–नानी का होना तो आवश्यक ही है जबकि अन्य संबन्धी हो भी सकते हैं और नहीं भी।

३. २. संबद्धताबोधक वाक्यरचना में जातिवाचक संज्ञा ('स$_1$') के स्थान पर व्यक्तिवाचक संज्ञा का प्रयोग भी संभव है। ऐसी स्थिति में वाक्य का ढाँचा भी बदल जाता है। उदाहरणतः

(१२) सुन्दरलाल का बेटा रमेश है।

इस वाक्य में जातिवाचक संज्ञा 'बेटा' 'स₂ (व्य.) का' वाले वाक्यांश का अंग बन गई है। इस वाक्य में वाक्यांश 'सुन्दरलाल का बेटा' उद्देश्य है तथा वाक्यांश 'रमेश है' विधेय है। यहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों नामिक तत्त्व हैं। विधेयक 'है' के प्रकार्य की दृष्टि से यह परिचयबोधक वाक्यरचना है (विश्वजीत १९७१, पृ. ७३)। प्रस्तुत वाक्य का उच्चारण सामान्य अनुतान में होगा, शब्द विशेष पर तान ऊँची नहीं होगी।

वाक्य-१२ का ढाँचा इस प्रकार हे :

(ङ.) स₂ (व्य)–का–स₁ (जाति) – स₁ (व्य)–होना

इस ढाँचे के अन्तर्गत उद्देश्य 'स₂ (व्य.)–का – स₁ (जाति.) ') और विधेय ('स₁ (व्य.) – होना') अपने स्वाभाविक क्रम में आते हैं। प्रकार्यात्मक वाक्यविन्यास की दृष्टि से भी यह सामान्य क्रम है क्योंकि वाक्य-१२ में ज्ञात अंश ('सुन्दरलाला का बेटा') पहले आया है और अज्ञात अंश ('रमेश है') बाद में। उक्त वाक्य में सुन्दरलाल के बेटे की पहचान उसके नाम (रमेश) के द्वारा कराई गई है।

इस ढाँचे के अन्तर्गत क्रम-विपर्यय भी संभव है :

(१३) रमेश सुन्दरलाल का बेटा है।

वाक्य-१२ और वाक्य-१३ के घटकों में कोई अंतर नहीं है। परन्तु क्रम-विपर्यय होने से यहाँ पर उद्देश्य ('रमेश') और विधेय ('सुन्दरलाल का बेटा है') बदल गए हैं क्योंकि इस ढाँचे में उद्देश्य और विधेय दोनों ही नामिक तत्त्व होते हैं। नामिक तत्त्व होने के कारण उनका वाक्यगत प्रकार्य वाक्य में उनके क्रम पर निर्भर करता है। इस प्रकार हम यह भी देखते हैं कि (घ) और (ङ) ढाँचों में मौलिक अंतर है। इन ढाँचों के अंतर को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करके भी स्पष्ट किया जा सकता है :

(च) स₂ – स₁ – होना (घ)

(छ) स₁ – स₁ – होना (ङ)

(छ) ढाँचे के अन्तर्गत 'स₁ ' और 'स₁' में पारस्परिक बदलाव संभव है जबकि (च) ढाँचे के अन्तर्गत 'स₂ '' और 'स₁ ' में पारस्परिक बदलाव संभव नहीं है क्योंकि दोनों में रूपात्मक अंतर है।

३.३ वाक्य-१२ में 'रमेश' ज्ञात अंश है और 'सुन्दरलाल का बेटा है' अज्ञात अंश। प्रस्तुत वाक्य रमेश नाम के व्यक्ति की पहचान कराता है जो कि सुन्दरलाल का बेटा है। इस वाक्य का उच्चारण सामान्य अनुतान में होगा, शब्द विशेष पर तान ऊँची नहीं होगी। इस प्रकार प्रकार्यात्मक वाक्यविन्यास की

दृष्टि से वाक्य-१२ और वाक्य-१३ में मूल अंतर ज्ञात और अज्ञात अंश का है। इसलिये उनके प्रश्न भी अलग-अलग प्रकार से बनेंगे :

(१४) सुन्दरलाल का बेटा कौन है ? (१२)

(१५) रमेश कौन है ? (१३)

यदि वाक्य-१३ की अनुतान बदल कर 'सुन्दरलाल' पर बल दिया जाए तो प्रश्न भी बदल जाएगा :

(१६) रमेश सुन्दरलाल ↑ का बेटा है। (१३)

(१७) रमेश किसका बेटा है ? (१६)

यहाँ पर 'सुन्दरलाल' और 'किसका' अज्ञात अंश हैं। वाक्य-१६ में रमेश नामक व्यक्ति की पहचान यह कह कर कराई गई है कि वह सुन्दरलाल का ही बेटा है, किसी और का नहीं।

३. ४. वंशमूलक संबद्धता वाले इन वाक्यों (सं. १२ और १३) में द्विपक्षीयता के आधार पर पारस्परिक बदलाव भी संभव है जैसा कि उपर हमने वाक्य–१० और वाक्य–११ में दिखाया है। उदाहरणत:

(१२) सुन्दरलाल का बेटा रमेश है।

(१८) रमेश के पिता सुन्दरलाल हैं। (१२)

(१९) सुन्दरलाल रमेश के पिता हैं। (१२)

यह परिवर्तन इस प्रकार के सामान्य अनुतान वाले वाक्यों में ही संभव है। यदि किसी शब्द पर विशेष बल दिया गया हो तो यह बदलाव संभव नहीं होगा जैसे कि वाक्य- १६ जिसमें 'सुन्दरलाल' शब्द पर तान ऊँची हो जाती है।

—४—

स्वामित्वमूलक संबद्धता

स्वामित्वमूलक संबद्धता में धारित पदार्थ धारक की वैध संपत्ति होता है। इसलिये अ. व. इसाचेन्को ने इसे विधिमूलक संबद्धता कहा है। उदाहरण के लिये :

(२) शर्मा जी के दो मकान हैं।

(२०) उद्योगपति बिरला की कई मिलें हैं।

संपत्ति के संदर्भ में हमारा ध्यान इस बात की ओर सहज ही चला जाता है कि संपत्ति दो प्रकार की होती है – अचल और चल संपत्ति। ऊपर दोनों उदाहरणों में अचल संपत्ति के स्वामित्व की अभिव्यक्ति हुई है। और वही ढाँचा प्रयुक्त हुआ है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है अर्थात् ढाँचा-क या ढाँचा-ख।

चल संपत्ति के स्वामित्व की अभिव्यक्ति के लिये हिन्दी में **पास** परसर्ग का प्रयोग होता है, जैसे :

(२१) शर्मा जी के पास दो गाड़ियाँ हैं।

(२२) उसके पास पेन्सिल है।

(२३) मेरे पास पेन है।

इन वाक्यों का ढाँचा इस प्रकार है :

(ज) स-के पास – स – होना

इस ढाँचे में और ढाँचे-ख में केवल परसर्ग का अन्तर है।

अचल और चल संपत्ति के स्वामित्व में अन्तर करने के लिये ढाँचे ख और ढाँचे-ज को संशोधित करके इस प्रकार प्रस्तुत करना होगा :

(झ) $स_2$–का – $स_1$ (अच. संप.) – होना (ख)

(ञ) $स_2$–के पास – $स_1$ (च. संप.) – होना (ज)

४. १. कभी–कभी अचल संपत्ति के स्वामी के साथ भी **पास** परसर्ग का प्रयोग होता है :

(२४) शर्मा जी के पास दो मकान हैं। (२)

अर्थात् यहाँ ढाँचे-ञ का प्रयोग हुआ है। परन्तु ढाँचे-झ का प्रयोग साहित्यिक या लिखित भाषा में अचल संपत्ति के स्वामित्व की अभिव्यक्ति के लिये कभी नहीं होता।

अचल संपत्ति के स्वामी के साथ **के पास** के प्रयोग को देख कर हम यह कह सकते है कि संपत्तिमूलक संबद्धता की अभिव्यक्ति के लिये ढाँचे–ञ के रूप में क्रमशः एक पृथक् साधन का विकास हो रहा है जो उसे वंशमूलक संबद्धता से अलग करता है। इसीलिये तो निम्नलिखित उदाहरण में जिसमें 'संपत्ति / जायदाद' का सामान्य अर्थ में प्रयोग हुआ है **के पास** का ही प्रयोग होगा (न कि का का) :

(२५) उनके पास बहुत संपत्ति / जायदाद है।

यहाँ सामान्य अर्थ में 'संपत्ति / जायदाद' के अन्तर्गत चल और अचल दोनों प्रकार की संपत्ति शामिल है।

४, २. चल संपत्ति अस्थायी रूप से किसी और के पास भी रह सकती है। उस स्थिति में भी यही ढाँचा प्रयुक्त होगा। तो फिर संपत्ति के अस्थायी धारक और उसके स्थायी स्वामी में अन्तर कैसे किया जाता है? यदि स्थायी और अस्थायी स्वामी में अन्तर करना हो तो संपत्ति के स्थायी स्वामी का उल्लेख स्वामित्वबोधक सर्वनाम अथवा '$स_2$–का' के द्वारा किया जाता है :

(२६) मेरे पास उसकी पेन्सिल है।

(२७) राजा जनक के पास शिवजी का धनुष था।

यहाँ 'मैं' और 'राजा जनक' क्रमशः 'उसकी पेन्सिल' और 'शिवजी के धनुष' के अस्थायी स्वामी हैं, मात्र धारक हैं। स्थायी स्वामी तो 'वह' और 'शिवजी' हैं।

—५—

इस प्रकार वंशमूलक संबद्धता और संपत्तिमूलक संबद्धता के विश्लेषण से हमें यह पता चलता है कि भाषा का जीवन की वास्तविकता से कैसा गहरा संबन्ध है। वंशमूलक संबद्धता के अन्तर्गत हमने देखा कि पारिवारिक संबन्धों की विशिष्टता संबद्धताबोधक वाक्यरचना में स्वतः परिलक्षित हो जाती है।

हिन्दी में वंशमूलक संबद्धता को अभिव्यक्त करने वाली वाक्यरचना का प्रयोग संपत्तिमूलक संबद्धता के अन्तर्गत अचल संपत्ति के स्वामित्व की अभिव्यक्ति के लिये भी होता है। सामाजिक इतिहास में संपत्ति परवर्ती तथा पारिवारिक संबन्ध पूर्ववर्ती है। इसलिये पारिवारिक संबन्ध वाले ढाँचे को ही संपत्ति और उसके स्वामी के संबन्ध के लिये अपनाया गया है। साथ ही अचल और चल संपत्ति के अंतर के कारण भाषा ने उनके स्वामित्व की अभिव्यक्ति के लिये दो भिन्न साधनों का विकास किया है।

५.१. वास्तविकता की अभिव्यक्ति के लिये भाषा केवल शब्दों का ही नहीं व्याकरण का भी आश्रय लेती है। भाषिक साधनों का विकास और विस्तार वास्तविकता की माँग पर होता है और उनमें नये–नये अर्थ आते हैं। यही सब ध्यान में रखते हुए हमने शाब्दिक और व्याकरणिक साधनों के द्वारा वास्तविकता के रूप में सामाजिक चिन्तन की अभिव्यक्ति का एक दृष्टान्त प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

हेमचन्द्र पाण्डे

रूसी अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली – ११० ०६७

टिप्पणियाँ

१. हिन्दी भाषाविज्ञान में संबद्धता के लिये स्वामित्व शब्द का प्रयोग होता है जो स्वामी और उसकी संपत्ति के सबन्ध का संकेत करता है। इसके अन्तर्गत वियोज्य वस्तु (जैसे: 'मोहन के पास तीस रुपये हैं') को तो संपत्ति के रूप में देखा ही जाता है, साथ ही अवियोज्य वस्तु (जैसे: 'सुशीला की तीन बहनें हैं' को भी संपत्ति मान लिया जाता है (सिंह १९८५, पृ. २१७)। उचित यह होगा कि स्वामित्व शब्द का प्रयोग केवल भौतिक संपत्ति का उसके धारक के साथ संबन्ध बताने के लिए ही किया जाए। इसलिये स्वामित्व से अधिक व्यापक अर्थ वाले शब्द की आवश्यकता को देखते हुए यहाँ 'संबद्धता' शब्द को अपनाया गया है।

२. पारंपरिक व्याकरण में **ने, को, से, का** (**के, की**) / **रा** (**रे, री**), **में** आदि को विभक्ति कहा जाता है और तदनुसार हिन्दी में आठ कारक माने जाते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से ये विभक्तियाँ नहीं, परसर्ग (पोस्टपोजीशन) हैं, उसी तरह जैसे अंग्रेजी में पूर्वसर्ग (प्रीपोजीशन) होते हैं। आधुनिक भाषा-विज्ञान में जिसे परसर्ग कहा गया है कामताप्रसाद गुरु ने उसके लिये 'संबन्धसूचक' शब्द का प्रयोग किया है परन्तु उन्होंने विभक्ति और संबन्धसूचक में अन्तर किया है। संबन्धसूचक के अंतर्गत जो शब्द आते हैं उनका स्वतंत्र शब्द की तरह अपना अर्थ भी होता है तथा उनके साथ बहुधा के विभक्ति का प्रयोग होता है जबकि विभक्तियों का अलग से कोई अर्थ नहीं होता है (गुरु २०१९, पृ. १५५)। हिन्दी के व्याकरणों में अभी इस मामले में स्थिरता नहीं आई है।

पूर्वसर्ग और परसर्ग में प्रकार्य की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। दोनों को सामान्य रूप से संबन्धसूचक कहा जा सकता है। शब्द से पहले आने वाले संबन्धसूचक को हम पूर्वसर्ग या संबन्धसूचक पूर्वसर्ग कह सकते हैं तथा शब्द के बाद आने वाले संबन्धसूचक को परसर्ग कह सकते है। आधुनिक भाषाविज्ञान का अनुसरण करते हुए हमने विभक्ति के बदले संबन्ध सूचक परसर्ग शब्द को स्वीकार किया है।

३. संबद्धता की अवधारणा हमने अ. व. इसाचेन्को से ग्रहण की है (इसाचेन्को १९५४, पृ. १४१–१४५)। उनके अनुसार संबद्धता के दो प्रकार हैं: विधिमूलक संबद्धता (जैसे: 'उसके पास साइकिल है') तथा अंगमूलक संबद्धता (जैसे: 'उसकी नीली आँखें हैं')। विधिमूलक संबद्धता को हमने संपत्तिमूलक संबद्धता कहा है। हमारे विचार में यहाँ दोनों ही पारिभाषिक शब्द समीचीन हैं।

अंगमूलक संबद्धता की अभिव्यक्ति हिन्दी में दो प्रकार से होती है। (१) 'गाय के दो सींग होते हैं' और (२) 'उसकी नीली आँखें हैं'। यहाँ पहले वाक्य में 'का होता है' के द्वारा 'दो सींग' को सामान्य लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा दूसरे वाक्य में 'का है' के द्वारा 'नीली आँखें' को विशिष्ट लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

संबद्धता के दो और प्रकार भी संभव हैं : वंशमूलक संबद्धता और पूर्णांशमूलक संबद्धता। इन चार प्रकार की संबद्धताओं की चर्चा हमने रूसी भाषा के संदर्भ में अन्यत्र की है (पाँडे –प्रकाशनाधीन)।

अंश और पूर्ण के संबन्ध की अभिव्यक्ति पूर्णांशमूलक संबद्धता के अन्तर्गत आती है जैसे (१) 'मेज़ की चार टाँगें होती हैं' और (२) 'इस मेज की तीन टाँगें हैं'। अंगमूलक संबद्धता की तरह यहाँ भी सामान्य लक्षण के लिये 'का होता है' का प्रयोग हुआ है तथा विशिष्ट लक्षण के लिये 'का है' का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार अंगमूलक और पूर्णांशमूलक संबद्धता में कुछ समानता दिखाई देती है। इन पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख में हमने केवल वंशमूलक और संपत्तीमूलक संबद्धता पर विचार किया है।

४. 'होना' को यहाँ योजक क्रिया माना जाता है। इस क्रिया के अस्तित्वबोधक अर्थ की चर्चा हमने अन्यत्र की है (पाँडे, १९८४)।

५. यहाँ पर 'स' का प्रयोग संज्ञा अथवा सर्वनाम के प्रतीक स्वरूप किया गया है।

६. पदार्थ के अंतर्गत हमने सामान्य एवम् निरपेक्ष अर्थ में वस्तु और व्यक्ति दोनों का समावेश किया है।

७. कोष्ठक में उस वाक्य की संख्या दी गई है जिसका रचनान्तरण प्रस्तुत वाक्य में हुआ है।

८. पारंपरिक व्याकरण में का को संबन्ध कारक की विभक्ति माना जाता है। इसलिये हमने कोष्ठक में संबन्धकारक का भी उल्लेख किया है। आधुनिक भाषाविज्ञान के अनुसार हिन्दी में केवल तीन कारक हैं : अविकारी (कर्ता) विकारी और संबोधन। यह प्रश्न भी विभक्ति और परसर्ग के प्रश्न से जुड़ा हुआ है (दे. ऊपर टिप्पणी सं. २) इस मामले में भी हिन्दी व्याकरण में अभी स्थिरता नहीं दिखाई देती है। हमने आधुनिक भाषाविज्ञान का अनुसरण करते हुए विकारी कारक को स्वीकार किया है परन्तु कोष्ठक में पारंपरिक पारिभाषिक शब्द का भी प्रयोग किया है।

९. प्रकार्यात्मक भाषाविज्ञान का विकास चेकोस्लोवाकिया के भाषावैज्ञानिकों ने किया है। इसके अंतर्गत वाक्य का विशेषण उसके संप्रेषणात्मक

प्रकार्य की दृष्टि से किया जाता है और उसके दो अंश माने जाते हैं : ज्ञात और अज्ञात अंश। उदाहरण के लिये : (१) कल नेहरू स्टेडियम में **फुटबाल मैच** होगा; (२) नेहरू स्टेडियम में फुटबाल **मैच कल** होगा; और (३) कल फुटबाल मैच **नेहरू स्टेडियम** में होगा। इन वाक्यों में अज्ञात अंश को रेखांकित करके दिखाया गया है। यही इन वाक्यों का मुख्य कथ्य है। अज्ञात अंश की अभिव्यक्ति ही वाक्य का संप्रेषणात्मक प्रकार्य है।

१०. कोष्ठक में उस ढाँचे का संकेत है जिसका परिवर्तित रूप यहाँ दिया गया है।

११. यहाँ पर उपरिगामी तीर (↑) के द्वारा ऊँची तान का संकेत किया गया है।

संदर्भ सामग्री

इसाचेन्को, अ. व. : १९५४, **रूसी भाषा की संरचना का स्लोवाक भाषा के साथ व्यतिरेकी अध्ययन**, रूपरचना, भाग–१, स्लोवाक विज्ञान अकादमी प्रकाशन गृह, ब्रातिस्लावा, (रूसी में)

गुरू, कामताप्रसाद : (संवत्) २०१९, **हिन्दी व्याकरण**, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

पाँडे, हेमचन्द्र : १९८४, "'होना' क्रिया का अस्तित्वबोधक अर्थ"; **परामर्श** (हिन्दी), वर्ष ५, अंक ४, पृ. ४०१–४०६.

पाँडे, हेमचन्द्र : (प्रकाशनाधीन) "स्वामित्व, संबद्धता के प्रकार और सत्ता", **ल्युबोमिर दय़ुरोविच अभिनन्दन ग्रन्थ**, वियेनेर स्लाविश्विशेर अलमानाख, वियेना (रूसी में)

विश्वजीत : १९७१, "हिन्दी में 'होना' क्रिया की वाक्यरचना" **भारतीय साहित्य** (आगरा), वर्ष १६, अंक १–२, पृ. ६७–८८.

सिंह, सूरजभान : १९८५, **हिन्दी का वाक्यात्मक व्याकरण**, साहित्य सहकार, दिल्ली.

शब्दतत्त्वचिन्तन में क्रियाविवर्त एवं कालशक्ति

भामह ने शब्द तथा अर्थ के मार्ग को दुस्तर बताते हुए प्रकारान्तर से जो प्रश्न उपस्थित किया है उसके उत्तर में दार्शनिक प्रस्थान मतभेद रखते हुए भी इस तथ्य में एकमत हैं कि उच्चारण स्थानों में उत्पत्ति या अभिव्यक्ति पाने वाले वर्णात्मक शब्द अपने उच्चारित रूप से अनित्य एवं क्षणिक होते हैं। उच्चारण को क्रियारूप मानने पर कालशक्ति को स्वतः मानना पड़ता है। यास्क ने क्रिया-समूहरूप भाव को छह भाव विकारों में विभक्त किया है—जन्म, स्थिति, वृद्धि विपरिणाम, क्षय एवं नाश। सभी मूर्त पदार्थों में ये क्षणिक विकार होते रहते हैं जो क्रिया रूप हैं। ऐसी स्थिति में मूर्ति या द्रव्य विकारी होने से क्रिया सापेक्ष है और द्रव्य के बिना निराश्रय क्रिया अकल्पनीय है। दोनों का अधिष्ठान एक ऐसे तत्त्व को होना चाहिये जिस में दोनों रूप लेने की शक्ति हो और यह रूपग्रहण की प्रवृत्ति तात्त्विक विकार न होकर प्रतिभासरूप विवर्त ही होना चाहिए। "एक वस्तु जो अपने शरीर से च्युत हुए बिना भेदप्रतिभासपूर्वक असत्य एवं विभक्त अन्यरूपता ग्रहण करती है, वह स्वप्न प्रतिभास के समान, विवर्त है"[1]। विवर्त ग्रहण करने वाला यह अधिष्ठान तत्त्व निर्विकार होने तथा विविधतारूप बृंहण प्राप्त करने से अमृत एवं ब्रह्म कहा गया है, उस की शक्ति अविद्या है, वह स्वरूपतः निष्कलुष होते हुए भी अविद्या से कलुष-सा हो कर भेदरूप विवर्त लेता है।[2] यहाँ अविद्याशक्ति अपरा प्रकृति तथा ब्रह्म परा प्रकृति है। विकार (विवर्त) को निरस्त करने पर जिस प्रकार कुण्डल में सुवर्ण ही सत्य है, उसी प्रकार विकार-रहित अवस्था में जो सत्य है वही परा प्रकृति है।[3] यह सत्य ही ब्रह्म एवं शब्द तत्त्व है — — — वह शब्द का उपग्राहक तथा शब्द से ही उपग्राह्य होने के कारण शब्द तत्त्व कहा गया है।[4] इस प्रकार सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्च शब्दतत्त्व का परिणाम है क्योंकि आम्नाय के अनुसार वेदों से ही विश्व विवर्तपूर्वक बना है।[5] आम्नाय

से श्रुति अर्थ लेना चाहिये। तदनुसार शब्दव्याहारपूर्वक विधाता ने पदार्थ की रचना की है।

मूल कारण को अद्वय तत्त्व मानने वाला व्याकरणदर्शन मूर्ति या द्रव्य एवं क्रिया को ब्रह्म का विवर्त तथा अविद्याशक्ति की प्रवृत्ति मानता है। दोनों ही विद्यास्वरूप ब्रह्म में तत्त्व या अतत्त्व नहीं कहे जा सकते–यही अविद्या की अनिवार्यता है।[६] ब्रह्म एक है, अतः स्वरूपतः अग्राह्य है, परन्तु स्वविवर्त रूप नामरूपात्मक विरोधी शक्तियों से वह कथंचित् ग्राह्य बनता है, उसमें सभी रूप विभाग असत्य हैं, अतः भोक्ता, भोग्य एवं भोग अथवा द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन आदि ग्रन्थिविवर्त हैं जिन्हें सत् या असत् से निरुक्त नहीं किया जा सकता। यह वैसा ही है जैसे स्वप्न द्रष्टा पुरुष बाह्य तत्त्वों के बिना ही ज्ञाता, ज्ञेय अथवा ज्ञान के मिथ्या आधार लेता है। जिस ग्रन्थि की विवर्तनक्रिया जिस काल में होती है उस काल में अन्य ग्रन्थियों से व्यावृत उसी ग्रन्थि का परिच्छेद होता है और इस प्रकार लोक में होनेवाली अनेकधा व्यवहार–व्यवस्था में उस ब्रह्म तत्त्व का ही परिच्छेद हो जाता है।[७]

क्रिया (विवर्त) :–

ऊपर के विवरण से जान पड़ता है कि क्रिया ब्रह्म का असत्य विवर्त एवं शक्ति की प्रवृत्ति है। निरुक्तकार ने (1/1/1) क्रियासमूह को भाव बताते हुए उसमें आरम्भ से फलनिष्पत्ति पूर्वापर का क्रम माना है और दुर्गाचार्य ने स्पष्ट करते हुए कहा कि प्रथम क्रिया के बिना उत्तरोत्तर क्रियाएं असंभव हैं। इस प्रकार क्रिया यदि कुछ है तो उसे क्षणिक ही मानना चाहिये। क्षणसमूहों में क्षणशः उत्पादनाशशील क्रियाओं का समूह भी क्या होगा? अत एव महाभाष्यकार ने कहा है कि क्रिया अत्यंत अप्रत्यक्ष है जिसे एकीभूत समूह के रूप में दिखाया या समझाया नहीं जा सकता है।[८] जिस प्रकार कमलनाल के तन्तु जलाये जायें तो समूह में पृथक्–पृथक् तन्तुओं का दाह जाना नहीं जा सकता उसी प्रकार क्षणिक क्रिया का प्रत्येकशः ज्ञान असम्भव है परन्तु प्रमाणवादी क्रिया का अस्तित्व मान्य करते हैं कि सूक्ष्म पदार्थ की अवगति अनुमान से होती है।[९] वस्तुतः क्रिया का अस्तित्व अलातचक्रवत् प्रतिभासमात्र है और अनुमान से उसका अनस्तित्व ही फलित होता है।[१०] एक क्षण में कोई गति नहीं बनती और पूर्वापर क्षणों के अतीत तथा अनागत की गति वर्तमान काल में अस्तित्व नहीं रखती। वर्तमान के बिना अतीत या अनागत का व्यवहार कैसे चलेगा? भाषा में त्रिकाल की व्यवस्था निराधार भ्रम है। न चक्र चलता है न बाण गिराया जाता है और न ही नदियां सागर को जाती हैं। प्रतिक्षण स्थिति ही रहती है, अतः सारा लोक स्थिर है जिस में चेष्टा नहीं है। यह अवधारणा अन्धे की नहीं है क्योंकि काक के उड़ने की व्याख्या

असंभव है--जब वह अतीत तथा अनागत में नहीं उडता तब वर्तमान क्षण का कोई उड़ना नहीं हो सकता क्योंकि तब मानना होगा कि सारा लोक उडता है और हिमालय भी चलता है। तीनों कालों में जब गति असंभव है तब वर्तमान काल की गति का व्यवहार क्यों होता है?[11]

यह मूल प्रश्न है कि क्रिया की परिभाषा कैसे की जाय? क्रमरूपता ही क्रिया है और क्रमापतित अवयवरूप क्रिया स्थितिमात्र है, अत: गति की व्याख्या असंभव ठहरती है। पूर्वदेश विभागपूर्वक–उत्तरदेश संयोग को गति कहते हैं परंतु ये दो क्षण यदि असंपृक्त लिये जायें तो स्थिर द्रव्य हाथ लगता है और विविक्त संयोग–विभाग का संपर्क असंभव है। अतएव न्यायमनीषी भासर्वज्ञ ने संयोग विभाग से व्यतिरिक्त क्रिया की पदार्थता अमान्य की है। भाषा – व्यवहार की दृष्टि से भगवान् फलजीत ने फल की साध्यता के अधीन त्रिधा काल की व्यवस्था देते हुए स्पष्ट किया है।--(१) जिस में किसी फल की सिद्धि हो चुकती है वह भूत-काल, (२) फल सिद्धि के बिना उपक्रम चलता रहे तो वर्तमानकाल, और (३) शब्द व्यवहार काल के उत्तर–काल में उपक्रम होने वाला हो तो भविष्यकाल कहा जाता है।[१२] तात्पर्यत:, फल की सिद्धि या असिद्धि में वस्तु की वह साध्यावस्था क्रिया है जिस में क्रम का आश्रय पाया जाय।[१३] भाषानुसार कारकीय प्रवृत्ति-विशेष का नाम क्रिया है।[१४]

तो क्या कारकद्रव्य ही क्रमरूपता लेकर क्रिया व्यवहार के भागी बनते हैं? तब काल–भेद की क्या व्याख्या हो सकती है? कालक्रम में क्रिया से भिन्न कारक भी क्या होंगे? तब क्रियाजनकत्वरूप कारकत्व भी प्रतिभासमात्र है। कारक द्रव्य है जो कालभेद में क्रियाश्रयता का आभास देता है, अत: किसी एक ही सत्ता या ब्रह्म के विवर्त ही क्रिया एवं कारकादि नामों से व्यवहृत होते हैं।[१५] एकही पदार्थ जब 'ध्वनि' कहा जाता है तब क्रमप्रतीति के निवृत्त रहने से द्रव्य नाम दिया जाता है, परंतु 'ध्वनित' कहने पर क्रमप्रवृत्ति के अधीन उसे क्रिया कहा जाता है।[१६] परंतु जब क्षणों का प्रत्येकश: प्रत्यक्ष असंभव है तब क्रिया किसे कहा जाय? अनुमान भी प्रत्यक्षाधीन रहता है, अत: उसे भी प्रमाणपदवी नहीं मिल पाती। ऐसी स्थिती में क्रिया का व्यवहार ही असंगत है क्योंकि प्रतिभास भी निराधार नहीं पाया जाता। इस अनुपपत्ति में यही समाधान हो सकता है कि किसी अवयवी संघात में गुणरूप से घटक अवयव होते हैं। क्रिया भी समूहरूप में ज्ञेय बनती है। क्रमश: जायमान क्रियाक्षणों का समूह जब बुद्धि द्वारा कल्पित अभेद से लिया जाता है तब व्यवहार में 'क्रिया' नाम दिया जाता है। वह समूह प्रत्येक अवयव में परिव्याप्त रह कर कालभेद का कारण बनता है। जिस प्रकार समस्त गवाकार एक साथ नहीं देखा जाता

किन्तु भागशः प्रत्यक्ष होने पर बुद्धि में समस्त गोपिण्ड का स्वरूप प्रत्यक्ष माना जाता है, उसी प्रकार क्रियासमूह के अतीतानागत भाग असत् रहते हैं और वर्तमान (सत्) क्षणरूप होने से इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं बना पाते, परन्तु बुद्धि में सदसत् उभयात्मक अंशों का सन्निधान होने से क्रिया के प्रत्यक्ष का व्यवहार पाया जाता है। वस्तुतः इन्द्रियों का सम्बन्ध वर्तमान वस्तु से ही बनता है किन्तु क्रियावयव क्रमिक होने के कारण प्रत्यक्ष के योग्य इन्द्रिय सम्बन्ध नहीं बना पाते, अतः बुद्धिस्थ कल्पना के अतिरिक्त क्रियासमूह भी यथार्थ नहीं है।[१७]

जिसे एक क्रिया कहा जाता है उसके असंख्येय भाग होते हैं। परमाणुसदृश किसी भाग को क्रिया नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस में क्रमरूपता नहीं है। उदाहरणार्थ, पचनक्रिया के घटक जलसेचन इत्यादि हैं और उन घटकों के भी घटक होते हैं। जो दुरवगम अंश होगा उस के लिए 'क्रिया' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। अतः उस एक भाग को पूर्वापर भागों के साथ ले कर बुद्धि में क्रम स्थापित कर के असत् के अध्यास से क्रिया को आख्यातवाच्य बनाया जाता है।[१८] हेलाराज ने स्पष्ट किया है कि क्षणों का पूर्वापरभाव या क्रम असंभव है क्योंकि वे परस्पर नितान्त भिन्न हैं। प्रथम क्षण ही अपरक्षण नहीं बनता कि क्षण में क्रम स्थापित हो सके। अतः अवयवों में समुदाय के अध्यास या अध्यारोप से मिथ्या अभेद मान कर क्रम स्थापित किया जाता है। तात्पर्य यह कि असत् भाग (अतीत हो कर) निवृत्त होता चलता है और सत् की उपलब्धि होती जाती है। सत् तथा असत् का स्वरूप एक सा गृहीत हो चलता है और इसी को क्रिया कहते हैं।[१९]

यहां पुनः प्रश्न आता है कि जब एक क्षण इन्द्रियगोचर नहीं है और अतीतानागत भी अप्रत्यक्ष हैं तब अध्यास किस का और किस में होगा। शुक्ति होती है, अतः रजत का अध्यस्त ज्ञान संभाव्य है परंतु यहां अधिष्ठान क्या है जिस में अध्यस्त क्रिया की कल्पना की जाय? विवर्त ही इस प्रश्न का उत्तर है। तत्त्व सर्वरूप होते हुए स्वरूप से अविच्युत रहता है एवं निष्क्रिय है परंतु उस में क्रमरूपता की प्रतीति तथा भागकल्पना (सक्रियवत् प्रकाशन) क्रिया है।[२०]

कुछ मीमांसक उक्त मत के विपरीत यह मानते हैं कि क्रिया किसी के आश्रित नहीं है प्रत्युत सभी कारकों द्वारा एक फल के निष्पादन में वह अविनश्वर प्रवृत्ति है।[२१] क्रियानित्यतावाद उस की क्रमरूपता की व्याख्या इस प्रकार कर सकता है कि नित्य क्रिया कारकों की अनित्य कार्यकारिता में क्रमरूपता का भास दे चलती है।

इस मत के अनुसार क्रिया सर्वथा स्वतन्त्र प्रवाह है जिसका कोई आधार नहीं है। जिस फल की निष्पत्ति में जितने द्रव्य कारक बनते हैं उन की प्रवृत्ति बन कर वह आती है और क्षणशः क्रमरूपता लेती है परन्तु स्वरूपतः वह नित्य है। अनुपपत्ति यथावत् है क्योंकि क्रमरूपता से पृथक् क्रिया का कोई प्रमाण नहीं है और उक्त रीति से क्रम प्रतिभासमात्र है क्योंकि उत्पादनाशशील भागों का क्रम असंभव है।

ऐसी स्थिति में सत्तारूप ब्रह्म के अद्वय स्वरूप में विवर्त के अतिरिक्त न क्रिया व्याख्या पा सकती है और न द्रव्य उसका आधार हो पाता है। सत्ता ही महाजाति है जो यास्कोक्त भावविकारों में छह अवस्थाएं लेती है–जन्म, वृद्धि, अस्ति, विपरिणाम, क्षय एवं नाश। ये छहों विकार क्रियारूप हैं जो सत्ताब्रह्म में उस की अविद्याशक्ति से भासित होते हैं। अविद्या के कालादि शक्तिभेद हैं और वे सभी ब्रह्म की शक्तियां हैं जिन से वह अद्वैत तत्त्व है, विविधता में प्रतिभासित होता है। उस से भिन्न किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है।[२२] सत्ता ही अपनी शक्ति के योग से सर्वरूप बनती है। साध्यरूप क्रिया एवं तज्जन्य फल, कारकरूप क्रियाजनक तथा फलभोक्ता पुरुष सत्ता के ही रूप हैं।[२३]

क्रिया एवं काल

न्यायवैशेषिक के अनुसार काल विभु, एक एवं नित्य द्रव्य है जो सर्वाधार होते हुए सभी कार्यों का निमित्तकारण भी है। मीमांसक भी प्रायः यही मान्य करते हैं। सांख्यों ने प्रकृति के परिणामों से पृथक् काल एवं क्रिया की गणना अमान्य की है। पाणिनि भगवान् ने लोकव्यवहार सिद्ध होने से काल को परिभाषणीय नहीं माना है।[२४] महाभाष्य में कहा गया है कि जिस से मूर्तियों (मूर्तद्रव्यों) में अपचय लक्षित होते हैं उसे 'काल' कहा जाता है। किसी क्रिया से युक्त काल के ही दिनरात तथा मास-वर्ष आदि रूप बनते हैं। काल में परिच्छेद लाने वाली यह क्रिया सूर्य की गति है।[२५]

सूर्यगित या कोई गति क्रिया है जिस से पृथक् काल का कोई स्वरूप नहीं बन पाता, अत एव महाभाष्यकार ने स्वयं ही फल एवं क्रिया के अनुसार कालभेद को व्यवस्थित माना है जिसे देखा जा चुका है। इसी अनुपपत्ति के कारण भर्तृहरि ने कहा है कि दिक्, कारक, क्रिया एवं काल के वाचक शब्द पदार्थों के शक्तिरूप में अत्यन्त अनिश्चित हैं।[२६] दो क्रियाएं फलजनक होते हुए जब अनेक द्रव्यों में समवेत रहती हैं तब किसी एक सम्बन्धी के बिना सम्बन्ध न बन पाने से क्रिया का परिच्छेद या बोध कैसे होगा ? जिस एक सम्बन्धी से वह परिच्छेद हो पाता है वही 'काल' है। जिस प्रकार तुला या हाथ पर रखे हुए अनेक द्रव्यों का गुरुत्व जाना जाता है उसी प्रकार अनेक द्रव्यरूप क्रियाओं की अवगति होती

है।[२७] इस प्रकार कालरूप शक्ति में रहती हुई भी सभी क्रियाएं अन्य द्रव्यों में समवेत होकर ज्ञान में आती हैं।

काल की क्रिया-परिच्छेदक वृत्ति शाश्वत है जिस के दो प्रकार हैं--प्रतिबन्ध तथा अनुज्ञा। प्रतिबन्ध से अतीत तथा अनागत बनते हैं और अनुज्ञा से क्रिया को वर्तमानता व्यवस्थित है। इस प्रकार अपनी शक्ति से स्वयं विभक्त होता हुआ काल ही क्रमरूपता प्राप्त करता है और क्रिया पर उसी की क्रमिकता का अध्यास हो चलता है।[२८] कालक्रम क्रियाक्रम कहा जाता है। क्षणशः काल ही क्रिया में प्रतिबन्धपूर्वक अनुज्ञा लाता है और यही क्रम है। फिर भी प्रश्न उठता है कि "गच्छति" का वर्तमान में प्रयोग कैसे होगा? जिस कालखण्ड में उस का प्रयोग किया जाता है उस में प्रतिबन्ध तथा अनुज्ञा का क्रम रहेगा और अनुज्ञा वाले क्षण में कोई क्रम न होगा। पूर्वदेश विभागपूर्वक और उत्तरदेशसंयोग से गति का क्रम बनेगा; परन्तु विभाग के प्रतिबन्ध के पश्चात संयोग के क्षण में क्रम की प्रतीति न होगी। ऐसे असंख्येय संयोग-विभागों से गमनक्रिया घटित होनी है जिन में कोई एक ही क्षण अनुज्ञा में आ कर वर्तमान होगा किन्तु उस में क्रम की प्रतिपत्ति न होगी और प्रतिबन्धभागी अतीतानागत अविद्यमान रहेंगे। ऐसी स्थिति में वह वर्तमानता ही परिच्छेद में न आयेगी जिस की सापेक्षता से अतीतानागत की व्यवस्था होती है। इस का समाधान देते हुए भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि क्रिया की प्रवृत्ति जो प्रयोजक फल रहा करता है उसकी परिनिष्पत्ति की अपेक्षा से 'गच्छति' का वर्तमानकालिक प्रयोग करना चाहिये। इस विषय में तर्क करना निरर्थक रहता है। इस प्रकार अनिष्पन्न फल की निष्पत्ति वह सीमा है जहां वर्तमानता अन्त लेती है; फलनिष्पत्ति के हो जाने पर अतीत और फलार्थ क्रिया के अनारम्भ में भविष्यत् की व्यवस्था माननी चाहिए।[२९]

क्रियाक्रम की चर्चा ही संशयग्रस्त है। कालक्रम को क्रिया का क्रम मानना अनुपपन्न है क्योंकि जो काल-क्रम का भास देता है उस से भिन्न स्वरूपतः क्रियाक्रम अभीष्ट है अन्यथा क्रिया के काल-त्रय का व्यवहार नहीं बन सकता। इस विषय में हेलाराज ने स्पष्ट करते हुए विवृत किया है कि उस समूह में क्रमिकता मानी जाती है जिस में पूर्वापरभाव नियत हो। यद्यपि वैसा समूह कभी 'सत्' नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वापर अवयव 'असत्' या अविद्यमान रहते हैं तथापि फल पर्यन्त क्रियासमूह में क्रम अध्यारोपित या अध्यस्त हो जाता है, अतः प्रत्येक क्षण इन्द्रियसन्निकर्ष लेता जाता है और क्रमरूपता के अध्यास के साथ वर्तमान रूप में व्यवहारभागी होता है। यद्यपि क्रमहीन होने से किसी एक क्षण को तत्त्वतः क्रिया नहीं माना जा सकता तथापि पूर्वापर क्षणों का क्रम उस एक क्षण में अनुभव-वासना से निश्चित होता है, अतः उस में भी क्रियात्व मान्य बनता है।[३०]

भर्तृहरि ने कहा है कि कोई द्रव्य अपने स्वरूप में एक या अनेक तथा श्वेत या नील नहीं होता परन्तु कालिक संसर्ग से गुणयोग पा कर विविध प्रतीतियों में उतरता है। अथवा काल ही विविध द्रव्यों के संसर्ग से स्वयं गुणभेद लेता है।[३१] वस्तुतः विश्वात्मा ब्रह्म ही सत्य है जिस की स्वातन्त्र्यशक्ति को 'काल' नाम दिया गया है। काल ही व्यापार या क्रिया है जो द्रव्य की प्रत्येक अवस्था में व्यवस्थित है। कालशक्ति द्वारा मूर्तियों के उपचयापचय इसी लिए लक्षित होते हैं कि सभी मूर्तियों के भेद के साथ काल द्वारा परिणाम लाया जाता है। जिस प्रकार रहट में चक्कर खाने का आदेश रहता है उसी प्रकार की प्रवृत्तियां काल की होती चलती हैं। इस प्रकार परिवर्तनशील भावों को काल ही प्रकाशित करता है।[३२]

सारांशतः, सत्ता ही क्रमरूप ले कर क्रिया और अक्रमरूप से द्रव्य है। सत्ता ही ब्रह्म है जिसे शब्दतत्त्व भी कहा गया है। उस ब्रह्म की स्वातन्त्र्यशक्ति काल है।

आचार्यकुल
कालिदास अकादेमी
उज्जैन – ४५६०१०
(म. प्र.)

बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

टिप्पणियाँ

१. एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्य–विभक्तान्य–रूपोपग्राहिता विवर्तः। स्वप्नविषयप्रतिभासवत्। **वाक्यपदीय**, स्वोपज्ञवृत्ति

२. तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते।।, वहीं, उद्धरण

३. वाप, ३/२/१५

४. वाप, १/१, स्वोपज्ञवृत्ति

५. वाप, १/१२०

६. मूर्तिक्रियाविवर्ताविद्याशक्तिप्रवृत्तिमात्रम्। तौ विद्यात्मनि तत्त्वान्यत्वाभ्यामनाख्येयौ। एतद्धि अविद्याया अविद्यात्वमिति।
वाप १/१, स्वोपज्ञवृत्ति
प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यद्।
गाह्यते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः।।

७. एकस्य हि ब्रह्मणस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां चानिरुक्ता विरोधिशक्त्युपग्राह्यसत्यरूपप्रविभागस्य स्वप्नविज्ञानपुरुषवद्बहिस्तत्त्वाः परस्परविलक्षणा भोक्तृभोक्तव्यभोगग्रन्थयो विवर्तन्ते। तस्य च ग्रन्थ्यन्तररूपसमतिक्रमेण विवृत्तग्रन्थिपरिच्छेदस्येयमनेकधा लोके व्यवहारव्यवस्था प्रकल्पते। वहीं १/४

८. मभा ३/२/१०२

९. मभा ३/२/१२३

१०. मभा ३/२/१२४, वा.– २/८

११. मभा ३/२/१२३, वा ०५

१२. (अ) मभा ३/२/१०१, वा. ४
(ब) मभा ३/२/१२३
(क) मभा ३/३/३, वा. २
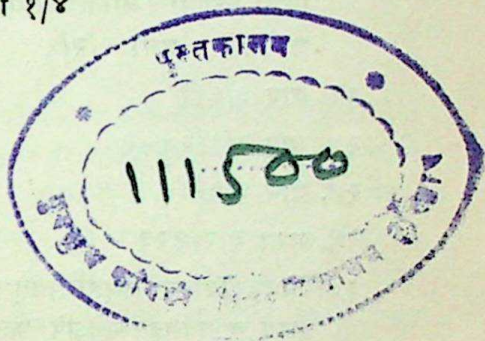
१३. वाप ३/८/१

१४. क्रियालक्षणं भाष्ये प्रणीतं कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः क्रियेति।–हेलाराज

१५. वाप ३/८/३६

१६. वाप ३/८/२

१७. वाप ३/८/४–७

१८. वाप ३/८/९–११
न क्षणानां पूर्वापरीभावः, अत्यन्तभेदात्। न हि यः पूर्वक्षणः स एव परः सम्पद्यते। – – – – अवयवेषु तु समुदायाध्यासात्। तस्य चाभेदात् पूर्वापरीभावो युज्यते। – हेलाराजा

१९. वाप ३/८/१९

२०. वाप ३/८/३४
तत्त्वादप्रच्युतस्य निष्क्रियस्य सक्रियस्येव प्रकाशनं विवर्तः।– हेलाराज

२१. वाप ३/८/३६

२२. वाप ३/८/३६
स्वाभिरेव शक्तिभिरव्यतिरिक्ताभिर्जन्मादिरूपतया अविद्यायामाभासते। तदेव ब्रह्म सर्वभावेषु समानरूपं सत्तात्मकम्, अन्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्याभावात्। – हेलाराज

२३. वाप ३/८/३६

२४. कालोपसर्जने च तुल्यम् । अन्यप्रमाणत्वात्, लोकतः सिद्धेः ।
पासू १/२/५३–५७

२५. येन मूर्तीनामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते त कालमित्याहुः ।
तस्यैव कयाचित् क्रियया युक्तस्याहुरिति रात्रिरिति च भवति ।
किया क्रियया ? आदित्यगत्या । तयैवासकृदावृत्या मास इति संवत्सर इति च भवति । **मभा २/२/५**

२६. **वाप ३/६/१**

२७. वाप ३/९/२७-२८

२८. **वाप ३/९/३०**

२९. **मभा ३/२/१२३**

३०. नियतपौर्वापर्यः समूहस्तावत् क्रमिकः ।
तस्य च सदसद्रूपकत्वेऽपि फलावधिपरस्परमध्यस्तक्रमः सकलः सन्निहित एकैकोऽपि क्षणो वर्तमानतामनुभवति । यद्यपि च नासावेकः क्रमिक इति न क्रिया तथाप्यपरक्षणगतः क्रमस्तत्रानुभववासनया निश्चीयत एवेति । हेलाराज, **वाप ३/९/८९**

३१. **वाप ३/४/७**

३२. **वाप ३/९/१२–१४**
विश्वात्मैक एव परब्रह्माभिधानः सत्यो भावः । स एव
नानाविधिकार्यकारितयानन्तशक्तित्वेन व्यवह्रियते ।
तथा च क्रमिकांश्चक्रभ्रमवत् परावर्तमानान् भावान् प्रकाशयन् कालयति भूतानीति काल इत्युच्यते । स विभुः स्वतन्त्रः । अत एव स्वातन्त्र्यशक्तिः कालः । **—हेलाराज**

भारतीय लोक-नाट्य परम्परा

नाट्य वेद को पंचम वेद की संज्ञा दी गई है। इसका सृजन सभी वर्गों के लोगों का समान रूप से मनोरंजन करने के लिए हुआ था, परन्तु धीरे-धीरे संस्कृत नाटकों का रंगमंच जनसाधारण से दूर होता गया। देवालयों और राजसभाओं में मनोरंजन और उपदेश के लिए उनका अभिनय होने लगा था। उनमें जनसाधारण का आह्वान न होकर राजकीय वर्ग का ही आह्वान होता था तथा प्रायः संस्कृत नाटककार भी राजकवि ही हुआ करते थे। अतः साधारण जनता को अपने मनोरंजन के लिए लोकनाट्य का आश्रय लेना पड़ता था। लोकनाट्य हमारी नाट्य परम्परा की एक मूल-भूत कडी है, क्यों कि वह कई प्रकारों और रूपों में संस्कृत नाटक के बाद मध्यकालीन नाट्य परम्परा का ही निरन्तरण है।[1] लोकनाट्य में संस्कृत नाटकों से कई दृष्टियों से अधिक विविधता के दर्शन होते हैं। और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि लोकनाट्य आज भी जीवित है। भारत जैसे कृषि-सभ्यता-प्रधान देश में यह तो अनिवार्य है कि हमारी सृजनात्मक गतिविधि के बहुत से अंगों के सूत्र लोक जीवन में है और इसका प्रभाव जाने अनजाने हमारे चिन्तन संस्कार और कार्यों पर पड़ता है। विशेष रूप से हमारी सांस्कृतिक परम्परा का एक बड़ा भारी अंश लोक संस्कृति से सम्बद्ध है।[2] भारत में रंगमंच और नाट्य-साहित्य के विकास की परिस्थितियों के कारण लोक-रंगमंच और लोकनाट्य का हमारी नाट्य परम्परा में स्थान सर्वथा अभूतपूर्व है। संस्कृत साहित्य और नाटक का युग भारतवर्ष का स्वर्ण-युग था। उस काल में नाट्य साहित्य अपनी चरम सीमा पर था; परन्तु उसके बाद सामाजिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों के बदलने के साथ ही रंगमंच ने अचानक मोड़ लिया और वह साहित्य कला की विकसित धारा से हट कर, नागरिक जीवन और शिक्षित कला प्रेमी दर्शक वर्ग तथा संरक्षकों से कट कर, लोक जीवन तथा देहातों में सीमित होकर रह गया।

भारतवर्ष में लोकनाट्य की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। भरत मुनि से अपने नाट्यशास्त्र ग्रन्थ में लोकधर्मी नाट्य परम्परा का उल्लेख

किया है। पतंजलि ने (१४० ई. पू.) तीन प्रकार के लोकनाट्यों की सूचना दी है:–(क) शोभिका (मौन नाट्य), (ख) चैत्रिका, (ग) ग्रन्थिका। दक्षिणी लोकनाट्य कथकली का प्रयोगात्मक रूप ईसा की दूसरी शती में विद्यमान था।[3] महाराष्ट्रीय लोकनाट्य 'गोंधल' चौथी शती में प्रचलित था। इस में भाव के सदृश एक ही अभिनेता अभिनय करता था।[4] दशम शताब्दी में त्रैविक्रम नाटक चैत्रिका की शैली पर लिखा मिलता है।[5] मलाबार का प्रख्यात लोकनाट्य "कुतु" एक सहस्त्र वर्ष पुराना है।[6] नाट्याचार्य शारदातनय ने उपरूपकों का विभाजन तत्कालीन लोकनाट्य प्रणालियों के आधार पर ही बताया है। शारदातनय उन्हें नृत्य–भेद कहते हैं। 'भावप्रकाशन" के नवम अधिकार में रासक, नाट्यरासक आदि को लोकनाट्य ही माना गया है। उपरूपकों के लिखित उदाहरणों की न्यूनता भी इन्हें लोकनाट्य सिद्ध करती है। श्रीमद्–भागवत में कृष्ण की रास–लीला का उल्लेख मिलता है। १२ वीं शती में तेलगू कवि सोमनाथ की रचना पंडिताराध्य चरित्र में तत्कालिन कई लोकनाट्यों के अभिनय का विवरण प्राप्त है। पुतलो नाट्य, वीथि नाटक आदि का वर्णन इसमें मिलता है।[7] अब हम अपने देश की कला सम्पदा के प्रति जागरूक हो उठे हैं, तथा देश के प्राचीन महत्त्वपूर्ण कलारूपों के पुनरुद्धार के लिए लोकनाट्य का अध्ययन मनन करना परमावश्यक है। आज हमारे लिए अनिवार्य हो गया है कि हम सदियों से प्रतिष्ठित और सक्रिय सांस्कृतिक तत्त्वों को सहेज कर रखें, तथा उनका रक्षण तथा विकास करें। यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हमारी सांस्कृतिक सम्पदा का बहुत सा अंश लम्बे समय तक उपेक्षित तथा तिरस्कृत होने के कारण आज छिन्न–भिन्न स्थिति में है और उसमें सामाजिक आर्थिक राजनीतिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप ऐसे परिवर्तन होते रहे हैं जो विकास की गति को अवरुद्ध करते रहे हैं।

पिछले युग में हमारी लोककला के बहुत से रूप तरह तरह की विकृतियों के शिकार हो गए हैं। फिल्में तथा शहरी जीवन का लोककशा को नष्ट करने में बड़ा हात रहा है। लोककला में विद्यमान स्वच्छन्दता, कला, सरलता तथा सुरुचि का स्थान कुरूपता, नग्नता, उत्तेजकता आदि ने ले लिया है। आज समाज, राज्यों, राष्ट्र का यह प्रमुख कर्तव्य बनता है कि अपनी प्राचीन कला को जीवित रखने के लिये अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें। इस दिला में सरकार कार्य कर रही है कि अन्य कलाओं की रक्षा के साथ साथ लोकनाट्य को भी संरक्षण मिलना चाहिए। किन्तु इसमें एक समस्या सामने आती है। क्यों कि जीवन्त मानवीय माध्यम द्वारा अभिव्यक्त कला के संरक्षण की समस्याएं अन्य कलाओं के संरक्षण से सर्वथा तथा अत्यधिक जटिल होती है। इसलिए लोकनाट्य के पुनरुद्धार

तथा रक्षा के प्रश्न पर गम्भीरता–पूर्वक मनन करने के उपरान्त ही कोई उपाय खोजा जा सकता है।

लोकनाट्य के आधुनिक सर्जन–शील रंगकार्य के सम्बन्ध में तीन स्तर हो सकते हैं। एक, अपने देश की तथा प्रत्येक भाषा की मध्यकालीन नाट्य परम्परा को समझने और उसके आज के रंग–कार्य में सृजनशील उपयोग के लिए; दो, अपने में महत्त्वपूर्ण, सशक्त तथा प्रभावी नाट्य–पद्धति के रूप में उसकी आधुनिक प्रतिष्ठा के लिए, और तीन, एक ऐतिहासिक महत्त्व की सांस्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा के लिए[८]। ये तीनों ही स्तर निर्विवाद रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

भारत एक विशाल देश है। अतः इसके विभिन्न प्रदेशों में लोक–नाट्य का स्वरूप भी भिन्न–भिन्न प्रकारों में पल्लवित हुआ। हम लोकनाट्य के कई प्रकार जैसे–यात्रा, नौटंकी, ख्याल, मवई, नाच, तमाशा, दशावतार, यक्षगान, अंकिया नाट, रास–लीला तथा राम–लीला आदि विभिन्न स्तर पाते हैं। इसमें एक ओर यात्रा जैसे अत्यन्त सुगठित और सशक्त प्रकार है। ये आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित और समृद्ध होते रहे हैं। दूसरी ओर जो राम–लीला जैसे प्रकार हैं जिनमें नाटकीयता बहुत क्षीण है और सामाजिक धार्मिक समारोह या मेलों तथा चौकियों या झाँकियों के जुलूस मात्र रह गए हैं।[९] किन्तु इन सब असमानताओं तथा नाटकीयता के विभिन्न स्तरों के होते हुए भी उनमें कुछ ऐसी समानताएं हैं जो उन्हें एक सूत्र में बांधती हैं और सम्मिलित रूप में उन्हें एक व्यक्तित्व भी प्रदान करती हैं तथा उन्हें प्राचीन परम्परा से जोडती हैं।

कथानक की दृष्टि से सभी लोकनाट्य रूपों में मुख्यतः पौराणिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक कथानक को ही लिया गया। तथा वे अपने अपने प्रदेश की सामाजिक परिस्थितियों से भी प्रभावित तथा संबंधित हैं। साधारणतया लोक रंग–मच पर खेले जाने वाले नाटक **रामायण, महाभारत** और **भागवत** तथा अन्य पुराणों के विभिन्न प्रसंगों और कथाओं को लेकर रचे गये हैं। वे इस देश की जन समाज की समान संस्कारगत धारणाओं, मान्यताओं और विश्वासों व रूढियों से पूर्णतः सम्बन्धित हैं, उनमें नवीनता पर बल नहीं दिया गया बल्कि सुपरिचित प्रसंगों को बार बार प्रस्तुत करके सामान्य सामूहिक अनुभूति को जगाने का प्रयास उनके द्वारा किया गया है।

इन नाटकों में संस्कृत-नाटकों का बहुत कुछ अनुकरण किया गया है। संस्कृत नाटकों की कथागत, रचनागत, तथा रूपगत रूढ़ियों को ज्यों का त्यों ग्रहण किया है। पात्रों की परिकल्पना उनकी चारित्रिक विशेषताएँ आदि भी संस्कृत नाटकों की भाँति की गई हैं। विदूषक, नांदी, पाठ, भरत-वाक्य का प्रयोग भी मिलता है। इनमें सूत्रधार भी होता है, जो नाटक के घटना-सूत्र को

जोड़ता चलता है। रंग-रचना की दृष्टि से भी बहुत सी बातें संस्कृत-नाटकों से ली गई हैं जैसे–सभी नाटक खुले रंगमंच पर होते हैं, जिसमें तीन या चार ओर दर्शक बैठते हैं, मंच पर पर्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। दृश्य-योजना नहीं होती और बहुत से उपकरणों का भी प्रयोग नहीं किया जाता। स्थानपरिवर्तन दिखाने के लिए पात्र द्वारा एक ओर से दूसरी ओर जाकर या गोल चक्कर काट कर दिखा दिया जाता है। काल-परिवर्तन की सूचना सूत्रधार के व्दारा दे दी जाती है। स्त्री–पात्रों का अभिनय पुरुष-पात्रों से ही करवा लिया जाता है। सभी पात्र रंगमंच पर ही बैठे रहते हैं और अपनी बारी आने पर वहीं से उठकर अभिनय करते हैं। तथा शेष समय आपस में बातें करते रहते हैं।

संस्कृत नाटकों तथा लोकनाट्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण समान विशेषता है उनका नृत्य और संगीत का प्रयोग। संगीत और नृत्य का प्रयोग संस्कृत नाट्य परम्परा का विस्तार तो है ही किन्तु साथ ही इसका प्रयोग नाट्य को साधारण जनवर्ग में अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए भी किया गया है। "संगीत और नृत्य जहाँ एक ओर नाटकीय प्रभाव को बढ़ाने में सहायक हो सकते है, वहीं वे नाटक की कथावस्तु और रचना की शिथिलता को ढँकने के साधन भी हैं।"[१०]

इस प्रकार लोकनाट्यों की यह परम्परा बहुत प्राचीन ठहरती है। यह संस्कृत नाटकों के समानान्तर चलती हुई अपभ्रंश भाषाओं के अनन्तर आधुनिक भारतीय भाषाओं तथा हिन्दी का विकास होने पर प्रत्येक भाषा की जनरुचि और परिस्थितियों के अनुरूप विकसित होती हुई अबाध गति से आज भी पल्लवित हो रही है। "लोक मंच से सम्बन्धित कठपुतली, नृत्य और स्वांग सबसे प्राचीन लोकनाट्य है। कठपुतली, नृत्य का प्रसार तो सम्पूर्ण भारत में रहा है लेकिन मराठी और हिन्दी क्षेत्र में इसे विशिष्ट लोकप्रियता प्राप्त हुई। स्वांग उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, तथा बिहार में प्रचलित रहे हैं। बंगाल की यात्राओं का प्रारम्भ जयदेव के **गीत गोविन्द** से माना जाता है। मराठी में तमाशे तेरहवीं शती से पूर्व ही होने लगे थे। गोंधळ, ललित और दशावतार मराठी क्षेत्र की जनता के मनोरंजन के अन्य साधन थे। गुजराती भवाई का प्रारम्भ चौदहवीं शताब्दी में हुआ। गुजराती और राजस्थानी हिन्दी के रास तेरहवीं शताब्दी की देन है। मैथिल के कीर्तिनिया नाटक और ब्रज भाषा की रासलीला सोलहवीं शती में विकसित हुई। उत्तर प्रदेश तथा आसपास के हिन्दी क्षेत्रों में स्वांग, भगत, सांगीत और नौटंकी, ख्याल भांड और विदेशिया भी लोकप्रिय रहे।"[११]

ये लोकनाट्य संस्कृत के आभिजात्य वर्गीय नौटंकी से पृथक् लोकप्रिय जननाट्य थे, इनके व्दारा तत्कालीन जन साधारण अपना मनोरंजन करता था। इन लोकनाट्यों की भाषा तात्कालिक थी तथा ये सरल तथा अकृत्रिम रूप में अभिव्यंजित होते थें।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से ये लोकनाट्य दो प्रकार के होते हैं – (१) लौकिक और (२) पौराणिक। कठपुतली, स्वांग, तमाशा, भवाई, ख्याल, विदेशिया आदि को लौकिक नाट्य के अन्तर्गत रखा जाता है, तथा यात्रा, ललित, रासलीला, रामलीला, आदि पौराणिक नाट्य के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु यह वर्गीकरण अन्तिम और अपरिवर्तनशील नहीं है।

यात्रा बंगला में, तमाशा, गोंधळ, ललित आदि मराठी से, भवाई गुजराती से और शेष लोकनाट्य मुख्यतया हिन्दी से सम्बन्धित है। बंगाल से लेकर समस्त उत्तरी भारत में इस लोक मंच ने अपने विविध स्वरूपों में जनमानस को आन्दोलित एवं आल्हादित किया, किन्तु काल क्रम से उनमें अश्लीलता और विकृति उत्पन्न हो जाने से उनका पतन प्रारम्भ हो गया। यात्रा, तमाशा, भवाई, नौटंकी भांड आदि में विकृति आ जाने से सामाजिकों के बीच उनकी लोकप्रियता घटने लगी, यद्यपि उनके पुनरुद्धार और परिमार्जन की चेष्टा इधर के कुछ वर्षों में प्रारम्भ हो गई है और सुसंस्कृत रूप में उन्हें अब रंगशालाओं में प्रस्तुत किया जाने लगा है। इन लोकनाट्यों का तेरहवीं शती इससे कुछ पूर्व से लेकर बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक जनमानस पर एक छत्र राज्य रहा है।[१२]

लोकनाट्य के उस स्वस्थ और सजीव अंश का पुनरुद्धार और नवसंस्कार करना आवश्यक है जो सर्जनशीलता तथा मानव मूल्यों के मूल सिद्धान्तों से मूलरूप में जुड़ा हुआ है। सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और संस्कार के द्वारा उसे पहचान कर ही हम न केवल उस परम्परा को आगे बढ़ा सकते हैं बल्कि अपने युग के सृजन कार्य को भी एक महत्त्वपूर्ण आयाम और गहराई दे सकते हैं।[१३]

आज आवश्यकता है रंगमंच को प्रगतिशील और उन्नत बनाने की। इस संदर्भ में हमें लोकनाट्य की ओर उन्मुख होना पड़ेगा, तथा उसके प्रति स्वस्थ और दायित्वपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना होगा। तभी हम अपने देश की लोकनाट्य परम्परा को सार्थक तथा महत्त्वपूर्ण बनाने में सफल हो सकेंगे।

स्वामी प्यारी कौड़ा

हिन्दी विभाग
दयालबाग एज्युकेशनल इन्स्टिटयूट
दयालबाग
आगरा–२८२००५.
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. नेमीचन्द्र जैन; रंगदर्शन : लोकनाट्य, पृष्ठ–८०

२. नेमीचन्द्र जैन; रंगदर्शन : लोकनाट्य, पृष्ठ–८०

३. एच्. एन. दास; इण्डियन स्टेज, ग्रन्थ पृष्ठ–२३६

४. कुलकर्णी; संस्कृत ड्रामा एण्ड ड्रामाटिक्स–१९२७–पृष्ठ–१३

५. एम्. कृष्णम्माचारियर; हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर

६. के. आर. पिररौती; थियेटर ऑफ दी हिन्दूज, प्रथम संस्करण–पृष्ठ–१३

७. राजगोपालन्; 'तेलगू का नाटक–साहित्य' – संदेश, जुलाई – अगस्त १९५५ पृष्ठ–३१

८. नेमीचन्द्र जैन; रंगदर्शन, लोकनाट्य पृष्ठ–८४–८५

९. नेमीचन्द्र जैन; रंगदर्शन, लोकनाट्य पृष्ठ–८५

१०. नेमीचन्द्र जैन; रंगदर्शन, लोकनाट्य पृष्ठ–८७

११. डा. अज्ञात; भारतीय रंगमंच की पृष्ठभूमि और विकास. पृष्ठ ११०.

१२. वहीं, पृ. ११६.

१३. नेमीचन्द्र जैन : रंगदर्शन, लोकनाट्य पृष्ठ–९३

साधारण-बोध तथा जी. ई. मूर

दार्शनिक गवेषणा में साधारण बोध का कार्य विवादास्पद रहा है। जब दर्शन शास्त्र के पितामह थेलीज ने जल को तथा हेरेक्लाइटस ने अग्नि को परम तत्त्व माना तब वे साधारण बोध के मार्ग से हट गए थे। पारमेनाइडीज़ ने उन तमाम विश्वासों को हेय दृष्टि से देखा जो ज्ञान के साधारण बोध के स्तर के थे। जेनो के विरोधाभास साधारण बोध पर साक्षात् आक्रमण हैं। वे किसी वस्तु को साधारण बोध के माध्यम से जानने के अन्तर्गत उत्पन्न हुई विसंगतियों को दर्शाते हैं। साक्रेटीज भी बहुधा अपनी व्दन्व्दात्मक पद्धति के व्दारा कुछ साधारण बोध अथवा साधारणतया स्थापित विश्वासों का खण्डन करते नजर आते हैं, जैसे जीवन मृत्यु की अपेक्षा वांछनीय है। प्लेटो ने साधारण मनुष्य तथा साधारण संसार दोनों का तिरस्कार किया और इसके स्थान पर प्रत्ययों के संसार की सत्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। अरस्तू के समय में साधारण बोध पर आधारित कुछ विश्वासों को मान्यता मिली। अरस्तू को हम साधारण बोध का प्रथम विचारक मान सकते हैं। उसने प्लेटो की संसार को दो स्तरों पर विभाजित करने के लिए आलोचना की और उस संसार की सत्यता स्थापित की जो साधारण मनुष्य को उपलब्ध था।

आधुनिक दर्शन शास्त्र के इतिहास में यह स्थिति एकदम भिन्न है। यहाँ हम अधिकांश दार्शनिकों में, किस सिद्धान्त के पक्ष अथवा विपक्ष में तर्क देते समय, साधा-बोध को अंतिम निर्णायक मानने की प्रवृत्ति पाते हैं। इन दार्शनकों के व्दारा विरोध सिद्धान्त प्रतिपादित लिए गए हैं, परन्तु प्रत्येक दर्शनिक अपने सिद्धान्त की स्वीकृति साधारण बोध से चाहता है। देकार्त अपनी पुस्तक डिस्कोर्स ऑन मेथड का आरम्भ साधारण बोध की प्रशंसा से करता है, 'शुभत्व सभी वस्तुओं से अधिक, समस्त मनुष्यों में समान रूप से वितरित है"[1]। देकार्त कभी कभी साधारण विश्वासों का खण्डन करने के लिए भी साधारण बोध का सहारा लेता है। यह बहुत विचित्र बात है। लॉक भी साधारण बोध में देकार्त के विश्वास को स्वीकार करता है। बर्कले विशेष रूप से साधारण

बोध का सहारा साधारण-बोध-संसार का निषेध करने के लिए लेता है। [२]

समकालीन युग में जी ई. मूर साधारण बोध–दर्शन का सर्वाधिक सशक्त समर्थक है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य मूर के व्दारा स्वीकृत साधारण बोध के कुछ पहलू दिखना है। मूर की स्वीकृति का मूल्यांकन करने के क्रम में उन विभिन्न अर्थों का विश्लेषण करने का प्रयास किया जाएगा जिसमें 'साधारण बोध' शब्द समझा जाता है।

सामान्यतया साधारण–बोध का मतलब उन तमाम विश्वासों अथवा विश्वासों के समुदाय से लगाया जाता है जो सभी मनुष्यों के व्दारा समान रूप से सत्य समझे जाते हैं, यहाँ, तक कि वे भी उन्हें सत्य समझते हैं जो उन का खण्डन करते हैं। अपने निबंध "ए डिफेन्स ऑफ कामन सेन्स"[३] में मूर ऐसे बहुत से तर्कवाक्यों का संकेत करता है जिनके बारे में हम निश्चित रूप से जानते होते हैं। कुछ तर्क वाक्य इस प्रकार हैं: 'बहुत से मानवशरीर अस्तिवत्वान् हैं जो मेरे शरीर के समान हैं' 'मेरा शरीर टेबुल से अमुक दूरी पर है'। मूर का कहना है कि ये तमाम तर्कवाक्य उन दार्शनिकों व्दारा भी सत्य स्वीकार किये जाते हैं जो इन का खण्डन करना चाहते हैं। कहीं पर कुछ आधारीय सत्यता अवश्य होती है जिसका खण्डन विना दार्शनिक विसंगति के नहीं किया जा सकता। दार्शनिक 'मरा' अथवा 'हमारा' आदि शब्दों का प्रयोग अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के समय स्वतंत्रता के साथ करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे अपने अस्तित्व में तथा अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि जब इस प्रकार के निष्कर्ष तक कोई दार्शनिक पहुंचता है कि 'कोई मनुष्य निश्चित रूप से कभी यह जान नहीं सकता कि अन्य व्यक्तियों का आस्तित्व है,' तो इस प्रकार के कथनों के बेतुकेपन को मूर दिखाता है। मूर का कहना है कि ऐसा कहने का अर्थ हुआ कि 'मेरे अतिरिक्त बहुत से मनुष्यों का अस्तित्व है तथा उन में से कोई भी (मुझ समेत) अन्य मनुष्यों के अस्तित्व को कभी नहीं जानते हैं।' उपरोक्त कथन तथा इसके समान अन्य कथनों का बेतुकापन दिखलाते हुए मूर का प्रयास यह दिखलाने का है कि कोई भी दार्शनिक कभी भी साधारण बोध के इन विश्वासों पर गम्भीरता से संदेह नहीं कर सकता, यद्यपि वह ऐसा करने का अभिनय कर सकता है।

कभी-कभी साधारण बोध का अर्थ इन विश्वासों की स्वीकृति से समझा जाता है, जो साधारणतया ग्रहण किए जाते हैं, यद्यपि सार्वभौम रूप से वे ग्रहण नहीं किए जाते हैं। इस वर्ग के साधारण बोधरूप श्रद्धाओं के अन्तर्गत ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास, आत्मा की अमरता में विश्वास आदि आते हैं। इन विश्वासों को साधारण मनुष्यों के विश्वासों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मूर

इन विश्वासों के प्रतिपादन में रुचि नहीं रखता। वह केवल उन्हीं विश्वासों के लिए तर्क प्रस्तुत करता है जो समस्त मनुष्यों द्वारा सत्य समझे जाते हैं, उन मनुष्यों के द्वारा भी जो उन का निषेध करते हैं तथा उन पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं।

साधारण बोध कभी-कभी ज्ञान के ऐसे स्रोत के रूप में भी समझा जाता है जिसके अनुसार कुछ प्रतिज्ञप्तियों को ग्रहण करने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। जब कुछ तर्कवाक्य निस्संदेह रूप से तथा बिना किसी मानसिक श्रम के ज्ञात होते हैं तो साधारण बोध द्वारा ज्ञात समझे जाते हैं। अतः साधारण बोध का तादात्म्य कभी कभी अन्तरानुभूति से स्थापित किया जाता है, और इस रूप में इसे प्राथमिक सत्यों का एक संकाय समझा जाता है। कुछ दार्शनिक इसे कभी कभी प्रज्ञा पर आधारित साधारण सहमति भी समझते हैं। मूर साधारण बोध के इस अर्थ से भी सहमत है। वह तर्कवाक्यों के अनेकों ऐसे उदाहरण देता है जिनके बारे में वह आश्वस्त है कि वे निश्चित रूप से जाने जाते हैं और बुद्धि के किसी अतिरिक्त श्रम की आवश्यकता उन्हें जानने के लिए नहीं होती। वे साधारण सत्य हैं, साधारण रूप से ज्ञात होते हैं। परंतु यह तथ्य कि ऐसे सत्य साधारण हैं तथा साधारण तरीके से ज्ञात हैं, उन्हे सत्य होने से नहीं रोक सकता। मूर की साधारण बोध की रक्षा वास्तव में उन साधारण सत्यों की रक्षा है जो बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होते मगर जिनकी अपेक्षा ने ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्तियां उत्पन्न कर दी हैं। 'मैं शरीरवान् हूँ' अथवा 'मेरा शरीर उस टेबल से निश्चित दूरी पर है' अथवा इसी प्रकार के साधारण सत्यों का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित रहता है। उनकी केवल इस कारण उपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे साधारण हैं। मूर उनकी उपेक्षा करने का कोई कारण नहीं देखता। उसकी दृष्टि में उन व्यक्तियों के खण्डन के लिए किसी परिष्कृत (सॉफिस्टिकेटेड) तर्क की आवश्यकता नहीं है जो इन अपरिष्कृत साधारण सत्यों को स्वीकार नहीं करते हैं।

साधारण बोध को कभी कभी उन सत्यों के रूप में लिया जाता है जिन्हें निगमनात्मक प्रमाणों के द्वारा स्थापित तो नहीं किया जा सकता लेकिन जिनके विपरीत दृष्टिकोण अपनाने पर विचारों में बेतुकापन अवश्य आ जाता है। ज़ेनो के विरोधाभास ऐसे साधारण बोध सत्यों की विकृतियां हैं। इस प्रकार के सत्य द्वन्द्वात्मक तर्कों द्वारा सरलता से विकृत किए जा सकते हैं; परन्तु उनका निषेध विसंगत निष्कर्ष तक पहुंचाता है। मूर साधारण बोध की रक्षा के उपक्रम में ऐसे सत्यों की रक्षा भी करता है। मूर इन सत्यों के विपरीत दृष्टिकोण में निहित विसंगतियों को भी दिखलाता है। वह ऐसे दार्शनिक कथनों के बेतुकेपन को भी दिखलाता है जैसे 'हम निश्चित रूप से नहीं जान सकते कि हमारा

अस्तित्व 'है' अथवा 'अन्य व्यक्तियों का अस्तित्व है'। मूर का कहना है कि यदि यह सत्य है तो समस्त दार्शनिक वाद-विवादों को समाप्त हो जाना चाहिए क्योंकि इसका यह अर्थ होगा कि कभी किसी ने इन समस्याओं के प्रति कोई दृष्टिकोण अपनाया ही नहीं, क्योंकि कभी किसी का अस्तित्व ही नहीं था। इसका यह भी अर्थ हुआ कि चूंकि मूर के विपक्षी दार्शनिक कभी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कर सकते कि वे कभी थे, मूर उनके कथनों का सरलता से खण्डन कर सकता है। यह एक विचित्र प्रकार का निष्कर्ष है, जिसे मूर विना किसी संश्लिष्ट तर्कणा स्वीकार किये दिखाई देता है। उसके इस उत्तर से विपक्षी दार्शनिक उत्तेजित हो सकते हैं। वे कह सकते हैं कि मूर इस समस्या के प्रति गम्भीर नहीं है। परन्तु मूर निश्चित रूप से उनका उपहास नहीं उड़ाना चाहता और वह समस्या के प्रति गम्भीर है। वह प्रत्ययवादियों तथा अन्य विरोधी दार्शनिकों को यह अनुभव करा देना चाहता है कि उनके विचार बडे अनोखे है और साधारण बोध का विचार मूर्खतापूर्ण नहीं है।

कभी-कभी साधारण बोध का अर्थ एक विशेष प्रकार से विश्वास करने की प्रवृत्ति समझा जाता है। कभी कभी जब किसी तर्कवाक्य के पक्ष अथवा विपक्ष में निश्चित तर्क का अभाव महसूस किया जाता है और जब तक तर्क चलते रहते हैं एक अनिर्णय की स्थिति बनी रहती है। उस समय हम किसी वस्तु को एक विशेष ढंग से मापने की अपने में प्रवृत्ति पाते हैं। इच्छा-स्वान्तत्र्य के पक्ष अथवा विपक्ष में चाहे जितना भी तर्क दिया जाय, इसका निषेध नहीं किया जा सकता कि चाहे कुछ अंशों तक ही सही हम स्वतन्त्र हैं। अतः इच्छा-स्वान्तत्र्य के विषय में हमारा विश्वास इस का उदाहरण है। मूर इस अर्थ में भी साधारण बोध की रक्षा करता है। 'स्टेटस ऑफ सेन्स डाटा' नामक लेख में मूर इस समस्या का परीक्षण करता है कि क्या वस्तुएँ उस समय अस्तित्ववान् रहती हैं जब उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जाता? उसका कहना है कि "मैं विचार करता हूँ कि सम्भवतः हमारे इस सहज विश्वास में अवश्य बल है कि संवेद्य वास्तव में उस समय भी अस्तित्ववान् रहते हैं जब उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जाता"।[४]

फिर हम इस बारे में निश्चित नहीं हैं कि मूर हमारी प्रवृत्तियों को किस सीमा तक विश्वसनीय मानता है। परन्तु वह, सम्भवतः इन प्रवृत्तियों पर उन परिष्कृत तर्कों से अधिक विश्वास करता है, जो वास्तविकता से सम्बधित अतिशयोक्तिपूर्ण निष्कर्ष स्थापित करते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि मूर पियर्स की भांति आलोचनात्मक साधारण बोध-वस्तुवादी नहीं है।[५] मूर एक सीधे-सादे संसार में विश्वास करता है जो साधारण मनुष्यों तथा उन दार्शनिकों

को समान रूप से प्राप्त है जो इसे अस्वीकार करने का प्रयास करते हैं।

अपने निबन्ध 'मूर ऐन्ड आरडिनरी लैंग्वेज'[६] में नार्मन मैल्कम ने मूर की एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत की है। मैल्कम के अनुसार मूर की साधारण बोध की रक्षा वास्तव में साधारण भाषा की रक्षा है। मैल्कम के विचार में मूर दार्शनिक विरोधाभासों को साधारण भाषा के निषेध का परिणाम मानता है। जब दार्शनिक कुछ तर्कवाक्यों को अस्वीकार करते हैं–उदाहरण के लिए "भौतिक वस्तुएं हैं," अथवा "वस्तुए हैं" तो वे यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि इन तर्कवाक्यों का अर्थ उस अर्थ से भिन्न हैं जो साधारणतया हम समझते हैं। ऐसा करने में वे दार्शनिक साधारण भाषा को अस्वीकार करते हैं। मूर की यह दिखलाने में रुचि है कि ये तथा इनके समान तर्कवाक्यों का अर्थ उस अर्थ से भिन्न नहीं है जो साधारणतया समझा जाता है। साधारण अर्थ से परे कोई परिष्कृत अर्थ नहीं है। साधारण भाषा ही उचित भाषा है। दार्शनिक के इस दावे का कि "कोई भौतिक वस्तु उस समय अस्तित्ववान् नहीं रहती जब कोई प्रत्यक्ष–कर्ता नहीं रहता," मूर यह उत्तर देगा कि आप जो कह रहे हैं वह बेतुका है क्योंकि गत रात्री ने मेरे शयन कक्ष का प्रत्यक्ष नहीं किया जहाँ मैं गहरी नींद सोया था और निश्चित रूप से यह अनस्तिवान् नहीं था।

मैल्कम यह संकेत करता है कि जब मूर इस प्रकार का उत्तर देता है तो वह आत्माश्रय दोष से बच जाता है, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस दोष की पकड़ में आ गया है। मैल्कम का विचार है कि मूर की दार्शनिक कथनों के खण्डन की तकनीक का सार इस बात में निहितं है कि हम यह दिखा सकें कि दार्शनिकों के भ्रमपूर्ण कथन साधारण भाषा के कथनों के अर्थ का मिथ्या निरूपण हैं। 'हमें निश्चित रूप से भौतिक वस्तुओं से संम्बन्धित कथनों की सत्यता ज्ञात नहीं होती, ऐसे दार्शनिक कथनों के लिए मूर का उत्तर यह है कि 'हम दोनों निश्चित रूप से जानते हैं जि इस कमरे में कुर्सिया हैं'। इसके बावजूद यह कहना कितना बेतुका लगेगा कि हम यह जानते नहीं और तो भी विश्वास करते हैं कि सम्भवत: ऐसा नहीं है–साथ साथ यह कहना भी कितना बेतुका लगेगा कि इस कमरे में कुर्सिया हैं यह सम्भावना है, निश्चित सत्य नहीं है।

अब मैल्कम इस पर विचार करते हैं कि उपरोक्त अथवा इनके समान कथनों के सम्बन्ध में मूर का उत्तर क्या होगा। मूर के अनुसार साधारण भाषा में जब हम 'भौतिक वस्तुएं' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा अभिप्राय कुर्सी, मेज या इसी तरह की वस्तुओं से है। साधारण भाषा में जानने का अर्थ

है निश्चित ज्ञान, न कि मात्र विश्वास। मूर का तर्क यह है कि यह कहना कितना बेतुका है कि कोई व्यक्ति कुर्सी पर बैठा है, वह केवल विश्वास करता है कि वह कुर्सी पर बैठा है और उसे निश्चित रूप से इसका ज्ञान नहीं है कि वह वस्तुतः कुर्सी पर बैठा है। मूर इस बात का संकेत देना चाहता है कि साधारण भाषा उस रूप में कार्य नहीं करती जिस रूप में दार्शनिक उसे समझते हैं। यदि कुर्सी पर बैठा कोई बालक यह कहे कि वह निश्चित रूप से नहीं जानता कि वह वास्तव में कुर्सी पर बैठा है तो हम तुरन्त उसकी भूल को सुधारेंगे और कहेंगे कि शब्द 'सम्भाव्य' साधारण भाषा में उस रूप में व्यवहृत नहीं होता जिस रूप में वह उसे प्रयुक्त कर रहा है और इस वर्तमान स्थिति में उसे अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए सम्भाव्य की जगह 'जानना' शब्द प्रयुक्त करना चाहिए। साधारण भाषा तथ्यों का परिष्करण नहीं करती जब कि दार्शनिक साधारण भाषा के कथनों की व्याख्या करते समय भ्रमपूर्ण भाषा प्रयुक्त करके तथ्यों को विकृत कर देते हैं।

मैल्कम के विचार में मूर का तर्क यह है कि दार्शनिक विरोधाभास उस समय उत्पन्न होते हैं जब साधारण भाषा कथनों की गलत व्याख्या की जाती है। जब बर्कले सत्ता अनुभवमूलक है इस मत के पक्ष में तर्क देता है तो वह वास्तव में साधारण भाषा का परिष्करण करता है जिसमें 'एक सेब है' का अर्थ यह है कि 'एक सेब भौतिक रूप से विद्यमान है, चाहे मैं उसका अनुभव करता हूं या नहीं करता हूं'। समस्त दार्शनिक विवाद ऐसे प्रयास का परिणाम हैं जो साधारण भाषा का कोई गुप्त अथवा भ्रमपूर्ण अर्थ ढूंढना है। जब मूर साधारण बोध की रक्षा करता है तो वह साथ ही तथ्यों को प्रस्तुत करने के संतोषपूर्ण माध्यम के रूप में साधारण भाषा की भी रक्षा करता है।

फिर भी यदि मैल्कम का विचार उचित है तो मूर से यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि साधारण भाषा तथ्यों को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है तब दार्शनिक का कार्य क्या है? क्या समस्त दार्शनिक क्रियाएं अनुपयोगी हैं? नहीं। मूर का विचार है कि फिर भी दार्शनिक की आवश्यकता है। उसका कार्य साधारण भाषा के कथनों के अर्थ का विश्लेषण करना है। 'सम जज्मेण्टस ऑफ पर्सेप्शन'[७] तथा 'स्टेटस ऑफ सेन्स डाटा' में मूर स्वयं साधारण निर्णयों का विश्लेषण करने का कार्य करता है। वह 'मैं टेबुल देखता हूँ' तथा 'मैं कुर्सी देखता हूँ' जैसे साधारण कथनों के अर्थ की व्याख्या करने का प्रयास करता है और अपने संवेद प्रदत्तों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जिसके अनुसार जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो हम जिसका साक्षात् प्रत्यक्ष

करते हैं वह उस वस्तु के धरातल का एक भाग है तथा शेष को हम अनुमित करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यदि मैल्कम का विचार उचित है और यदि मूर के अनुसार दार्शनिक का कार्य विश्लेषण करना यह है तब साधारण कथनों के अर्थ का विश्लेषण करते हुए मूर स्वयं वही त्रुटि प्रस्तुत करता है जिसके लिए वह अन्य दार्शनिकों की आलोचना करता है–अर्थात् साधारण कथनों का नवीन तथा परिष्कृत अर्थ ढूंढना। राइल का कहना उचित ही है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो वस्तु के अतिरिक्त किसी संवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष नहीं करते।[८] हम मेज़ अथवा कुर्सी का प्रत्यक्ष करते हैं न कि मेज़ के धरातल के एक भाग का। हम 'रंगों के धब्बे' अथवा 'घुड़ दौड़ की झलक' का प्रत्यक्ष नहीं करते, जब हम कहते हैं कि 'रंगीत वस्तु' अथवा 'घुड़दौड़' का प्रत्यक्ष हो रहा है। इसका अर्थ समझने के लिए किसी गहन विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है।

यह ध्यान देने की बात है कि स्वयं राइल भी साधारण भाषा का समर्थक है। उसकी रुचि ऐसी तमाम कल्पनाओं तथा सिद्धान्तों को दार्शनिक शब्दावली से बहिष्कृत कर देने में है जिनका साधारण भाषा में कोई उपयोग नहीं है। संवेद प्रदत्तों का सिद्धान्त भी दार्शनिक की कल्पना ही है। साधारण भाषा में हम कभी नहीं कहते कि हमें संवेद–प्रदत्तों का अनुभव हो रहा है। हम कभी यह नहीं कहते कि हमें रंगों के धब्बों अथवा वस्तुओं की झलक का अनुभव होता है। यदि संवेद–प्रदत्त नाम की कोई चीज होती तो उसके लिए कोई उपयुक्त सामान्य अभिव्यक्ति भी होती।

यद्यपि मूर साधारण भाषा के कथनों की सत्यता पर संदेह नहीं करता, वह उनके अर्थ का विश्लेषण करना आवश्यक समझता है। परन्तु जब वह ऐसे कथनों का विश्लेषण करता है कि 'मैं टेबुल देखता हूँ' अथवा 'मैं कुर्सी देखता हूँ' तो वह अन्त में उसी भ्रमपूर्ण और साधारण बोध से विरक्ति की स्थिति को जा पहुंचता है जिसके लिए वह विरोधियों पर आरोप लगाता है। उसके विरुद्ध यह आरोप लगाया जा सकता है कि उसका (मूर का) विपक्षी बर्कले भी 'सत्ता अनुभव मूलक है' इस कथन को स्थापित करने के लिए 'जड़' की साधारण–बोध–अवधारणा का विश्लेषण और व्याख्या करता है और दिखाता है कि वह भ्रामक है : और मूर भी यही करता हो तो मूर किस रूप में अपने विपक्षी से भिन्न है?

बर्कले अपने जड द्रव्य जैसे 'सेब' के विश्लेषण में निरन्तर साधारण बोध का सहारा लेता है। सेब क्या है? गुणों का समूह। इसमें रंग है, कुछ आकार है, स्वाद है तथा ठोस है। रंग अथवा आकार क्या हैं? ये वे संवेदनाएँ हैं जो

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष के समय उत्पन्न होती हैं। स्वाद क्या है? एक प्रकार की संवेदना जो इसे खाने के समय उत्पन्न होती है। ये तमाम संवेदनाएँ क्या हैं? मन के प्रत्यय। अतः बर्कले इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सेब मन के प्रत्यय अथवा गुणों के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

बर्कले सेब के विश्लेषण द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मन से स्वतन्त्र तथा परे किसी सेब की भौतिक सत्ता नहीं है।[९] हो सकता है कि बर्कले का विश्लेषण गलत हो और मूर का विश्लेषण उचित हो। परन्तु मुख्य प्रश्न है कि क्या सत्ता तक साधारण बोध के द्वारा पहुंचना संतोषपूर्ण है, अथवा क्या हमें ऐसे दार्शनिक की आवश्यकता है जो अपने विश्लेषण के उपकरणों की सहायता से यह बतला सके कि संसार कैसा है? यदि मूर यह सोचता है कि हम लोग साधारण बोध अथवा साधारण भाषा के द्वारा सत्ता को ग्रहण कर सकते हैं तो फिर वह अपने संवेद-प्रदत्तों के सिद्धान्त को कैसे न्यायोचित ठहराता है जो स्वयं दर्शन के क्षेत्र में एक अन्य प्रकार का परिष्करण तथा साधारण भाषा से विलगाव है? यदि मूर साधारण भाषा का ऐसा दार्शनिक है जो साधारण कथनों के अर्थ में किसी भी प्रकार के परिष्कृत व्याख्या की अनुमति नहीं देता तब तो दार्शनिक विश्लेषण एक अप्रासंगिक कार्य बन कर रह जाएगा।

दर्शनशास्त्र विभाग
ओरिएन्टल कॉलेज
पटना शहर,
पटना (बिहार)

शहीद अहमद

टिप्पणियाँ

१. रेने देकार्त; **द डिस्कोर्स ऑन मेथड**, रीप्रिण्टेएड मैन ऐण्ड युनिवर्स: द फिलास्फर्स ऑफ साइन्स, सम्पादक सैक्स कामिन्स तथा राबर्ट एन. लिंकास्ट, द पॉकेट लाइब्रेरी १९५४ पृ० १६३

२. एडवर्ड पाल, मुख्य सम्पादक, **द एन्साइक्लोपीडिया ऑफ फिलासफी** मैकमिलन तथा फ्री प्रेस न्यूयार्क भाग दो पृ० १५५–१५९

३. जी. ई. मूर, 'ए डिफेन्स आफ कामन सेन्स' पुनर्प्रकाशित **ट्वेन्टीएथ सेञ्चुरी फिलासफी : द एनेलिटिकल ट्रेडिशन**, सम्पादक मोरिस वीज, द फ्री प्रेस न्यूयार्क, १९६६ पृ० ९८–१२४

४. जी. ई. मूर, 'द स्टेटस् आफ सेन्स डेटा', **फिलोसोफिकल स्टडीज,** रोटलेज ऐन्ड कीगन पाल, लन्दन १९३१ पृ० १६८-१९४

५. सैण्डर्स पियर्स, **फिक्शेशन ऑफ बिलीफ,** पुर्नप्रकाशित, **क्लासिकल अमेरिकन फिलासफर्स** : सम्पादक फील्ट एच. मैक्स, सेञ्चुरी क्राफ्ट्स न्यूयार्क पृ० ५४-७०

६. नार्मन मैल्कम, 'मूर ऐण्ड आर्डिनरी लैंग्वेज', **द फिलासफी ऑफ जी.ई. मूर,** सम्पादक, आर्थर शिल्प, पाल टुड पब्लिकेशन कंठ न्यूयार्क १९४२

७. जी. ई. मूर, 'सम जज्मेण्ट्स् ऑफ पर्सेप्शन', **फिलोसोफिकल स्टडीज,** रोटलेज ऐन्ड कीगन पाल, लन्दन १९३१

८ गिलबर्ट राइल, **द कन्सेप्ट ऑफ माइण्ड,** बार्न्स ऐन्ड नोबुल, एवरी डे हैन्डबुक्स, न्यूयार्क, १९५१

९. जार्ज बर्कले, **प्रिन्सिपुल्स, डायलागस् ऐन्ड करेस्पाण्डेस,** सम्पादक, कोलिन मरे टरबेन, द लायब्रेरी आफ लिबरल आर्ट, बाक्स मेरिल, न्यूयार्क, १९६५

अशुभ का स्वरूप और रवीन्द्रनाथ टैगोर

विश्व में व्याप्त अशुभ के सम्बन्ध में अनेक विचारकों ने अपने–अपने ढंग से विचार व्यक्त किये हैं। उन्हीं विचारकों में रवीन्द्रनाथ टैगोर भी एक हैं, जिन्होंने अशुभ के स्वरूप के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन एवं विश्लेषण किया है। इस निबन्ध का उद्देश्य टैगोर के अशुभ विषयक विचार का सम्यक् विवेचन करना है। क्योंकि उनके अशुभ विषयक विचार विशिष्टता से ओत–प्रोत हैं।

टैगोर अशुभ को एक तथ्य के रूप में स्वीकारते हैं। अशुभ जीवन का अंग है। अशुभ की वास्तविकता की अनुभूति मानव को होती है। संसार में दुःख, भ्रान्ति तथा विरोध के अनक उदाहरण मिलते हैं। अशुभ का अर्थ शुभ का अभाव है। यह एक वास्तविकता है कि जीवन में मानव शुभ की अनुपस्थिति को अनेक रूपों में पाता है। निर्धनता, कुरूपता, अज्ञान आदि अशुभ हैं, क्योंकि इनमें हम क्रमशः धन, सौन्दर्य और ज्ञान का अभाव पाते हैं। अशुभ मानवीय जीवन की एक कठोर अनुभुति है। चूंकि मानव अशुभ की अनुभूति करता है, इसलिए अशुभ मानवी जीवन का एक प्रमुख अंग है।

यह ठीक है कि मानव अशुभ से परे रहने की क्षमता रखता है क्योंकि विकास का क्रम सदा शुभ की ओर अग्रसर रहा है। जीवन का लक्ष्य अशुभ के घेरों से ऊपर उठ कर शुभ की ओर गमन है। मानव अशुभ के घेरों से ऊपर उठ कर शुभ को प्राप्त कर लेता है, परन्तु इससे अशुभ की अयथार्थता प्रमाणित नहीं होती। जबतक अशुभ का रूपान्तरण शुभ के रूप में नहीं होता है तबतक अशुभ एक वास्तविकता है. क्योंकि अशुभ की अनुभूति होती है तथा अशुभ अस्तित्व का एक प्रमुख अंग है। जबतक अशुभ विद्यमान है इसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस तथ्य के सन्दर्भ में टैगोर ने कहा है "भ्रम भी भ्रम के रूप में ही सत्य है।"[१]

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि यदि अशुभ एक त्रुटिपूर्ण

दृष्टिकोण का परिणाम है तब उसे अशुभ के रूप में तब तक स्वीकारना होगा जब तक की त्रुटिपूर्ण दृष्किोण विद्यमान है।

दुःख, विपत्ति, पाप ये सभी जीवन के तथ्य हैं। जख्म, रोग तथा दंत–रोग जैसे अशुभ मानव के दुःख के कारण हैं। इस अशुभों से मानव को निरन्तर कष्ट होता है। पापमय कर्म मानव के शांति को भंग करते हैं, और इस प्रकार आनन्द की प्राप्ति में बाधक होते है। ये सभी अशुभ इतने वास्तविक हैं कि इनका निषेध नहीं किया जा सकता है।

टैगोर अशुभ की वास्तविकता को इसलिए भी स्वीकारते हैं कि वे संसार को वास्तविक मानते हैं। टैगोर के मतानुसार यह संसार एक सृष्टि होने के नाते विश्व में अपूर्णता निहित है। सृष्टि और अपूर्णता में अविनियोज्य सम्बन्ध है। इसलिए यह प्रश्न करना कि संसार में अशुभ क्यों है निरर्थक प्रतीत होता है। इस तथ्य का उल्लेख करते हुए टैगोर ने कहा है 'संसार में अशुभ क्यों है, यह प्रश्न वैसा ही है जैसा कि संसार में अपूर्णता क्यों है'। याने यह प्रश्न पूछने का मतलब यह है कि संसार की रचना का अर्थ ही क्या है ? इस सम्बन्ध में टैगोर का यह मत है कि उसके अलावा और कुछ संभव ही नही था। रचना का अपूर्ण होना धीरे–धीरे उसके विकसित होने के लिये अनिवार्य था। और साथ साथ यह प्रश्न भी उतना ही निरर्थक है कि हमारा अस्तित्व किसलिये है ?[२]

इस तरह टैगोर के मतानुसार संसार की ससीमता और अपूर्णता सृष्टि के अनिवार्य परिणाम हैं। अतः विश्व का अङ्ग होने वाले अशुभ को वास्तविकता के रूप में स्वीकारना अपेक्षित है।

टैगोर का अशुभ विषयक यह विचार संत अगस्टिन के विचार से संगति नहीं रख पाता। अगस्टिन ने अशुभ को अभावात्मक वस्तु के रूप में स्वीकारा है। उनके मतानुसार अशुभ शुभ का निषेध है। अशुभ को अगस्टिन के दर्शन में वास्तविकता का दर्जा प्राप्त नहीं है। अगस्टिन ने अशुभ की सत्ता का ही निषेध किया है। इसके विपरीत टैगोर के दर्शन में हम अशुभ की वास्तविकता पर बल पाते हैं।

टैगोर ने अशुभ को अस्थायी माना है। अशुभ की तुलना टैगोर ने भ्रान्ति से की है। जिस प्रकार भ्रान्ति अस्थायी है उसी प्रकार अशुभ भी अस्थायी है। मानव भ्रांन्ति को तभी तक स्वीकारता है जब तक उसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता है। ज्योंहि मानव को ज्ञान प्राप्त होता है त्योंहि मानव भ्रांति की अवास्तविकता से अवगत हो जाता है। भ्रांति की अवास्तविकता पर बल देते हुए टैगोर ने लिखा है,– "भ्रांति स्वभावतः स्थायी नहीं होती सत्य के साथ सदा नहीं रह सकती। एक मुसाफिर की तरह जैसे ही वह पूरा मूल्य नहीं चुका पायेगा, उसे उस सराय से तुरन्त निकलना पडेगा।"[३]

यह सत्य है कि ज्ञान वैज्ञानिक अथवा अन्य कोटि के अवगमनों से गलतियों के माध्यम से विकसित होता है। उसी प्रकार शुभ का विकास अशुभ के घेरों से ऊपर उठने में निहित है। शुभ की प्राप्ति अशुभ की सीमाओं के अतिक्रमण में ही निहित है।'

यदि हम वैज्ञानिक ज्ञान के विकास के क्रम को रेखांकित करते हैं तब पाते हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान का विकास भ्रांतियों के निराकरण के द्वारा संभव होता है। परन्तु यह विडम्बना है कि वैज्ञानिक ज्ञान की चर्चा करते समय मनुष्य सत्य की महत्ता पर ही बल देता है, तथा भ्रांति एवं गलतियों की महत्ता को भुला देता है। उन्हें विस्मृत कर देता है जो न्याय-संगत नहीं प्रतीत होता है।

उपर्युक्त कथन से यह प्रमाणित होता है कि टैगोर के मतानुसार शुभ की चर्चा करते समय अशुभ की महत्ता का निषेध करना न्याय संगत नहीं है। इसका मूलकारण यह है कि शुभ का विकास अशुभ के माध्यम से ही हो पाता है। इससे टैगोर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अशुभ शुभ की प्राप्ति में योगदान देता है।

टैगोर अशुभ की महत्ता का उल्लेख विभिन्न उपभाओं के द्दारा करते हैं।

अशुभ जीवन का एक आवश्यक अंग है। अशुभ जीवन की गति का अवरोध नहीं करता अपितु उसकी गति के विकास में योगदान देता है। एक बच्चा अनेक बार गिरने के उपरान्त चलना सीख लेता है। जब बालक चलना सीख लेता है तब उसे आनन्द का बोध होता है। उसी प्रकार अशुभ की सीमाओं से ऊपर उठने में ही शुभ का यथार्थ आकलन निहित है।

टैगोर ने मृत्यु को उच्चतम अशुभ के रूप में स्वीकारा है। मृत्यु हमें अशुभ तभी प्रतीत होता है जब हम मृत्यु को जीवन से पृथक् करके विवेचित करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि मृत्यु जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। यदि हम मृत्यु को एक व्यक्ति-विशेष के जीवन से जोड़ देते है, तब मृत्यु का अर्थ वर्तमान इस जीवन का अंग होगा। परन्तु इससे परे एक व्यापक दृष्टिकोण के द्वारा भी मृत्यु का मूल्यांकन सम्भव है। यदि हम मृत्यु को विश्व-व्यापी सन्दर्भ में देखने का प्रयत्न करें तब मृत्यु हमें कल्याणकारी सृष्टि का एक अनिवार्य और लाभप्रद अंग के रूप में ज्ञात होगा। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए टैगोर ने कहा है 'मृत्यु को जीवन से अलग करके जब हम देखते हैं तभी हम इसके भयानक रूप से डरते हैं। लेकिन तब हम अपने जीवन के सम्पूर्ण रूप को अगोचर कर देते हैं, जिसका मृत्यु एक अंश माना जाता है। जीवन को मृत्यु के झरोखे से देखना कपडे के एक टुकडे को सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखने के तुल्य भूल है। इस यंत्र से देखने पर हम टुकडे के छिद्रों पर नज़र गडा देते हैं और चौंक जाते हैं, किन्तु सच्चाई यह है कि ये छिद्र ही कपडा नहीं है; मृत्यु ही जीवन की सच्चाई नहीं है। यह जाली

उसी तरह दिखती है जैसे आकाश नीला दीखता है। नीला आकाश पक्षियों के पंखो को नीला नहीं करता है। उसी प्रकार मृत्यु हमारे जीवन को अपने रंगों में नहीं रंगती।'[४]

इस प्रकार टैगोर अशुभ को अस्थायी मान कर उस की तुलना भ्रम से करते हैं।

इस प्रकार टैगोर के उपर्युक्त अशुभ सम्बधि विचारों को देखते हुए निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि टैगोर अशुभ को विश्व की एक विशेषता मानते हैं। विश्व एक सृष्टि होने के कारण यह अपूर्ण है, क्योंकि कोई भी सृष्टि पूर्ण नहीं होती, कुछ न कुछ अपूर्णता उसमें रह जाती है, अर्थात् सृष्टि का अपूर्ण होना उसका स्वभाव है। अतः अशुभ विश्व की अपूर्णता का प्रतीक है। इस प्रकार टैगोर अशुभ को एक तथ्य के रूप में स्वीकारते हैं, जिसे अनुभव किया जाता है।

टैगोर ने अशुभ को शुभ का विरोधी और शुभ का निषेध करनेवाला नहीं कहा है, अर्थात् टैगोर के मतानुसार अशुभ का स्वरूप अभावात्मक नहीं है।

टैगोर ने अशुभ को अस्थायी कह कर मानव समुदाय को आशावाद की ओर मुखरित है। अशुभ क्षणिक है, शाश्वत नहीं।

टैगोर ने शंकर के समान अशुभ की तुलना भ्रम से की है। जिस प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद भ्रम दूर हो जाता है, उसी प्रकार शुभ की प्राप्ति हो जाने पर अशुभ दूर हो जाता है।

टैगोर ने पुनः कहा है कि अशुभ हमारे समक्ष समस्या बन कर तभी उपस्थित होता है जब हम उसे जीवन का स्थायी भाग स्वीकार कर लेते हैं। अतः अशुभ अस्थायी है, स्थायी नहीं।

टैगोर अशुभ को तथ्य कहते हैं, परम तथ्य नहीं। तथ्य और परम तथ्य के बीच सूक्ष्म अंतर स्पष्ट करते हुए टैगोर ने कहा है कि तथ्य वह है जिसका निषेध नहीं किया जा सकता। तथ्य नित्य स्थायी नहीं होता, जबकि परम तथ्य; जिसे टैगोर शुभ कहते हैं, नित्य स्थायी है। अर्थात् परम तथ्य का स्वरूप नित्य स्थायी है।

रानी रूपमती सिन्हा

द्वारा, श्री चन्द्रमौलेश्वर प्रसाद
जनता आटा तेल मील
नई गोदाम
गया–८२३००१
(बिहार)

टिप्पणियाँ

१. टैगोर, रवीन्द्रनाथ; साधना, पृ. १५५.
२. तत्रैव, पृ. ४७.
३. तत्रैव, पृ. ४८.
४. तत्रैव, पृ. ५०.

प्राचीन भारत में यज्ञ का स्वरूप और वाममार्ग

प्राचीन भारत के ऋषि–मुनियों पर यज्ञ में पशु की बली देने और मांस–भक्षण का आरोप अक्सर लगाया जाता है। ऐसे आरोपों से आर्य–सिद्धांतों में अटूट निष्ठावान् किस सच्चे वैदिक को ठेस पहुँचना स्वाभाविक है। प्राचीन भारत में यज्ञ का यथार्थ स्वरूप क्या था और कालांतर में कब और कैसे इस स्वरूप में विकार पैदा हुआ? इस पर कुछ विस्तार से कहने की आवश्यकता है।

अब से करीब पाँच हजार साल पहले महाभारत–युद्ध की समाप्ति तक आर्यत्व (हिंदुत्व) अपनी गौरवमयी वैदिक आभा में रमण करता था।[1] लेकिन इस युद्ध की समाप्ति और योगेश्वर कृष्ण के महाप्रयाण के बाद आर्यावर्त के राजाओं के निष्क्रिय होने और महान् वैदिक ज्ञान–परंपरा के धीरे धीरे लुप्त हो जाने के समय से भारत का भाग्य निस्तेज होना शुरु होता है।[2] उस समय यहाँ एक वाम मार्ग, जिसका कि उद्देश्य ही था–वैदिक पवित्र नियमों के वाम (विपरीत) चलना। इस संप्रदाय ने भारत में वो अनाचार–पापाचार फैलाया कि वर्णन नहीं किया जा सकता। इन वाममार्गियों के **कालीतंत्र**, **कुलार्णव तंत्र**, **महानिर्वाणतंत्र**, **ज्ञान संकलनी तंत्र**, **उड्डीस तंत्र** आदि ग्रन्थ महा अपवित्र और अश्लील बातों से भरे पडे हैं।[3] यह वही वाममार्ग था जिसने कल्याणकारी वैदिक विचारों का बंडल बनाकर ताक पर धर दिया और पंच मकार–मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा में आस्था प्रकट की।[4] वैदिक मंत्रों के अर्थ का अनर्थ करने, ऋषि–मुनि प्रणीत धार्मिक कृतियों में अनाचारी हस्तक्षेप करने, तथा यज्ञों को भ्रष्ट करने का कुश्रेय इसी वाममार्ग को है।[5]

एक शब्द है–"बलि"। "बलि" शब्द के बहुत से अर्थों में आराधना, सत्कार (सेवा–सम्मान) भी एक अर्थ है।[6] प्राचीन कालीन वैदिक यज्ञों के साथ जो पशुओं के नाम जुडे हैं, वहाँ उन यज्ञों में पशु–विशेष की उपयोगिता व महत्ता को समझकर उसकी यथोचित सेवा करके उस पशु के प्रति सम्मान दर्शाना ही

मंतव्य था। आर्यों के 'गो मेध', 'अश्व मेध', आदि पशु परक यज्ञों का उद्देश्य गाय, घोडा आदि राष्ट्रोपयोगी पशु की बलि (सत्कार, सेवा-टहल) था, हत्या नहीं। जैसे 'गो-मेध यज्ञ' को ही लें। 'गो' शब्द के गाय, पृथिवी, वाणी, इंद्रिय; चक्षु आदि बहुत से अर्थ हैं।[७] 'मेध' का भी व्यापक अर्थ है, जैसे-जानना-परखना; समझना, ज्ञात करना, मूल्य आँकना आदि।[८] किसी चीज की उपयोगिता-महत्ता को सम्यक् रूपेण अन्वेषित करने के लिये उस पर किए गए प्रगाढ़ वैचारिक मंथन को 'मेध' कहते हैं। वस्तु-विशेष के यथेष्ट मूल्यांकन के लिये यह बहुत जरूरी है। 'यज्ञ' का भी अर्थ सिर्फ घृतादि पदार्थ की अग्नि में आहुति देना नहीं होता। यह सही है कि अग्नि-होत्र किसी भी यज्ञ का प्रधान कर्म है क्योंकि इसके पीछे वायु, जलादि की शुद्धि का परोपकारी भाव है। किन्तु वास्तव में यज्ञ कहते हैं पुरुषार्थों को, परिश्रम को। किसी लोकहितकारी सुकार्य को सुसंपन्न करने के लिये किया गया पुरुषार्थ (परिश्रम) 'यज्ञ' कहलाता है।[९] यह 'गोमेध यज्ञ' के 'गो', 'मेध' और 'यज्ञ', इन तीनों शब्दों का स्पष्टीकरण है। अतएव 'गोमेध यज्ञ' राष्ट्र में गाय की पुष्टि, बल, दुग्धाधिक्य साथ के साथ पृथिवी की समृद्धि, वाणी व चक्षु की शुचिता, इंद्रिय संयमन प्रभृति बहुत से शुभ उद्देश्यों को लेकर आयोजित किया जाता था।[१०] इस यज्ञ के द्वारा गाय, भूमि, वाणी, इंद्रिय आदि को सम्मक्तया जान कर इनका सदुपयोग ही ऋषियों को अभीष्ट था; क्योंकि दुरुपयोग होने की दशा में संभावी महान् अनिष्ट से ऋषिगण सदैव भय-भीत रहे। यही बात 'अश्व मेध यज्ञ' के साथ है। प्राचीन वैदिक साहित्य में और पश्चात्वर्ती संस्कृत साहित्य में भी 'अश्व' शब्द घोडे के लिए तो प्रस्तुत हुआ ही है किन्तु साथ ही अनेक तरह के रथों, यानों-विमानों आदि के लिये भी इस बात का प्रचुर इस्तेमाल किया गया है।[११] राष्ट्र में घोडों, रथों, यानों-विमानों आदि के संवर्धन व प्रतिष्ठा के लिये अश्व-स्तुति परक यह 'अश्व मेध यज्ञ' होता था। ऐसे ही 'अजा मेध यज्ञ' को समझना चाहिए। मृत्यु के उपरान्त मनुष्य के दाह आदि क्रिया कर्म के लिये 'नर मेध यज्ञ' होता था।[१२] इस प्रकार प्राचीन वैदिक कालीन भारत में आर्य-ऋषियों के यज्ञों का ऊपर विवेचित ही स्वरूप था। अतः "आर्य-ऋषि वदी पर यज्ञाग्नि में पशु की बलि (पशु को मारकर उसके रक्त-मांस की आहुति) चढाते थे, यह कहना प्राचीन आर्य-संस्कृति का सरासर अपमान है। प्राचीन आर्य-ऋषियों का दृष्टिकोन तो बड़ा उदार और व्यापक था। मानव ही नहीं, मानवेतर प्राणियों के लिए भी उनके हृदयों में अपार करुणा थी। 'बलि वैश्व देव यज्ञ' जिसे 'भूतयज्ञ' भी कहते हैं, ऋषियों की मानवेतर प्राणियों के प्रति करुणा का ही परिचायक है। इस यज्ञ में जल, थल, नभ, तीनों ही स्थानों के भूत-प्राणियों के लिए बलि (घी मिश्रित मिष्ट और अन्न का भाग) का विधान है।"

किन्तु खेद सहित कहना पडता है कि वाम–मार्गियों ने वैदिक ज्ञान–विज्ञान पर आधृत इस शुद्ध यज्ञीय पध्दति को तोड़–मरोड़ कर यज्ञ का ऊट–पटांग स्वरूप निर्धारित कर दिया। ये लोग 'गोमेध यज्ञ' के नाम पर गाय को मारकर, 'अश्व मेध यज्ञ' के नाम घोडे को मार कर तथा 'अजा मेध यज्ञ' के नाम पर बकरी को मारकर उनके अंग–प्रत्यंग को काट कर अग्नि में झोंकने लगे। 'गो मेध', 'अश्व मेध', 'अजा मेध' तथा ऐसे ही 'यज्ञ' शब्द के व्यापक शुभ अर्थ को संकुचित कर लोक–रूढ कर दिया गया और इनके नाम पर नाना प्रकार के अत्याचार और कुकर्म करने लगे।'[१३] इतना ही नहीं, 'नर मेध यज्ञ' के नाम पर 'नरबलि' जैसा घृणित कर्म भी इन वाम मार्गियों ने किया।[१४] और स्वार्थ में अंधे होकर 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' जैसा वाहियात नारा लगाया।'[१५]

पूर्वोक्त प्राचीन शुद्ध यज्ञीय पद्धति के वाम मार्गियों के काल में इस कदर दूषित हो जाने पर उस समय व्यापक पैमाने पर गाय, घोडा आदि पशुओं की हत्याएँ कर अग्नि की भेंट चढाया गया। सिंधु–सभ्यता काल (जिसको इतिहास के अधिकांश पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वान् विश्व की प्राचीनतम सभ्यता का काल माने बैठे हैं) वस्तुतः इन्हीं वाममार्गियों के भारत में अंकुरित होकर पनपने का काल है। महाभारत–युध्द की समाप्ति के करीब पाँच सौ साल बाद से शुरू होकर महात्मा बुध्द के प्रादुर्भाव (ईसा पूर्व छठी शताब्दी) तक के बीच का काल भारत में वाम मार्गी सभ्यता या तथाकथित 'विश्व की आदि सिंधु सभ्यता' का ही काल है। भारत में लगभग दो हजार वर्षों के इस दूषित अल्प काल ने लाखों वर्षों से चली आ रही आर्यों की महान् वैदिक संस्कृति के समस्त कृत्यों को मटियामेट कर दिया। सिंधु–सभ्यता को आदि सभ्यता कहने वाले तथा रामायण और महाभारत काल की वैदिक सभ्यताओं को इसकी पश्चात्वर्ती सभ्यताएँ मानने वाले विद्वानों को इन पंक्तियों के लेखक की बात अखर सकती है, लेकिन वर्तमान शताब्दी के आरंभ में सिंधु–सभ्यता की खुदाई के दौरान पुराविदों को मिले तंत्र–मंत्र, यंत्र, ताबीज, टोनेटोटके व पशुओं की जली हुई हड्डियों तथा लिंग व योनि–पूजा के प्रमाण'[१६] साफ दर्शा रहे हैं कि यह सभ्यता महाभारत काल के बाद भारत में पनपी दुष्ट वाम मार्गी ही सभ्यता है। क्योंकि तंत्र–मंत्र, ताबीज और टोने–टोटके में विश्वास करने, यज्ञ के नाम पर पशुओं को जलाने तथा पुरुष के लिंग व स्त्री की योनि को पूजने जैसी दुष्परंपरा भारत में इन्हीं वाम मार्गियों के काल में उपजी तथा फूली–फली। वेदों के उद्भट विद्वान आचार्य महर्षि दयानंद भी अपने **सत्यार्थ प्रकाश** में लिखते हैं– "भैरवी चक्र में वाम मार्गी लोग भूमि वा पट्टे पर एक बिन्दु त्रिकोण, चतुष्कोण, वर्तुलाकार बनाकर उस पर मद्य का घडा रख के उसकी पूजा करते हैं। फिर ऐसा मंत्र पढते हैं 'ब्रह्म शापं विमोचय'

हे मद्य, तू ब्रह्मा आदि के शाप से रहित हो। एक गुप्त स्थान में कि जहाँ सिवाय वाम मार्गी के दूसरों को नहीं आने देते, वहाँ स्त्री और पुरुष इकट्ठे होते हैं। वहाँ एक स्त्री को नंगी कर पूजते और स्त्री लोग किसी पुरुष को नंगा कर पूजती हैं।...पश्चात् एक पात्र में मद्य भरके मांस और बडे आदि एक थाली में धर रखते हैं। उस मद्य के प्याले को जो कि उनका आचार्य होता है, वह हाथ में लेकर बोलता है कि 'भैरवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' 'मैं भैरव वा शिव हूँ' कहकर पी जाता है। फिर उसी जूठे पात्र से सब पीते हैं और तब किसी की स्त्री वा वेश्या नंगी कर अथवा किसी पुरुष को नंगा कर हाथ में तलवार देके उसका नाम देवी और पुरुष का नाम महादेव धरते हैं, उनके उपस्थ इंद्रिय (पुरुष का लिंग, स्त्री की योनि) की पूजा करते हैं।' [१७]

इस वाम मार्गी असभ्यता का दुष्प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पडा है। ऋषियों–पुरोहितों द्वारा विभिन्न अवसरों पर पशु का वध करने तथा मांस–सेवन करने की भवभूति प्रभृति कवियों की जो कल्पनाएँ बाद के संस्कृत–साहित्य में यदा–तदा देखने को मिलती हैं [१८] उनके पीछे वामाचार ही प्रेरणा स्रोत है।

आज से करीब ढाई हजार वर्ष पहले (ईसा पूर्व छठी शताब्दी) अहिंसा के दो पुजारियों–महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध–ने क्रूर ब्राह्मणों के यज्ञों के नाम पर निरीह पशुओं को कत्ल करने तथा मांस–भक्षण से विरोध में आवाज बुलंद की। [१९] यह वही समय था जबकि शताब्दियों के वाम मार्गी प्रदूषण से ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म अत्यन्त विकार को प्राप्त होकर उसमें सडांध पैदा हो चुकी थी। महावीर और बुद्ध के अहिंसा के क्रांतिकारी आहवान को सुनकर धूर्त ब्राह्मणों के द्वारा सैंकडों वर्षों से मूर्ख बनायी हुई भोली जनता अब उनके हाथों से छूटने लगी। अपने अनर्थों के औचित्य को सिद्ध करने के लिये पाखंडियों ने अब वेद को हथियार बनाया। इस पर दोनों ही दयालु दार्शनिकों का उत्तर था– 'हम ऐसे वेद को नहीं मानते जो हिंसा की शिक्षा देता हो।' यहाँ दुःख सहित कहना पडता है कि दोनों ने वेद की गहराई में जाकर उसको तत्त्व से जानने की चेष्टा नहीं की और मक्कारों के वेद की असलियत को छुपाकर स्वार्थ–सिद्धि के लिये तोड़–मरोड़कर पेश किए गये झूठे–नकली दृष्टांतों से ही व्यथित होकर जोश में आकर इस महान् और पवित्र विद्या को भी धार पर धर दिया। काश, दोनों दार्शनिकों को यह ज्ञात हो पाता कि अहिंसा के जिस सिद्धान्त का प्रचार कर वे वाह वाही लूट रहे हैं, वह अहिंसा तो वस्तुतः वेद का प्राण है तो वेद – विरोधी जैन और बौद्ध मत संसार में कभी न आते। सचमुच, जैन और बौद्ध मत विकृत वैदिक धर्म की ही प्रतिक्रिया थे। [२०] हिंसा से ऊबी हुई जनता को अहिंसा और शान्ति का नवीन संदेश बहुत भाया और वह इस परिवर्तन को अपनाने के लिये लालायित हो उठी।

बुद्ध और महावीर की देश–देशान्तर व्यापी सबल घोषणाओं के मुकाबले वेद–विहीन निर्बल ब्राह्मण–धर्म लड़खड़ा कर गिर पड़ा। कालांतर में बुद्ध की शिक्षाओं के अद्वितीय वाहक सम्राट् अशोक के शासन में पशु–हत्या को अवैध ठहराया गया। खूनी यज्ञों पर सख्त पाबन्दी लगा दी गयी।[२१] आज्ञा का उल्लंघन करने वालों की बड़े पैमाने पर धर–पकड़ हुयी और उन्हें कठोरता से दंडित किया गया। फलतः अब अधिकांश वाम–समुदाय इस धर्म परिवर्तन का अनुमोदन करने और उसे अपनाने पर विवश हुआ। जो कट्टर थे, उन्होंने मुख्य धारा से कटकर सुदूर पूर्वोत्तर और मध्य देश के पहाड़ी–जंगली अंचलों में शरण ले ली और वहीं रहकर वाम मार्गी शिक्षाओं का प्रचार किया। तब से लेकर पीढी दर पीढी यह शिक्षा वहां चलती आयी है। आज भी इन अंचलों में यह वामाचरण अनेक कुरीतियों के रूप में मौजूद है।

जय सदन
देवपुरम्
मुजफ्फरनगर—२५१००१.
(उ. प्र.)

आलोक शर्मा

टिप्पणियाँ

१. यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्र वर्षों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था' – **सत्यार्थ प्रकाश**, महर्षि दयानंद सरस्वती, उत्तरार्द्ध की अनुभूमिका।

२. **सत्यार्थ प्रकाश**–एकादश समुल्लास, उपदेश मंजरी, वैदिक प्रकाशन विभाग, अजमेर, ११७६, पृ. ९८

३. **सत्यार्थ प्रकाश**–एकादश समुल्लास।

४. वहीं, अद्भुत् भारत, ए. एल. बाशम, शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा, १९८८, पृ. २८३

५. 'वैदिक सम्पत्ति' के यशस्वी लेखक पंडित रघुनंदन शर्मा ने इसी पुस्तक में लिखा है कि मांसयज्ञ का आदि प्रवर्तक राजा रावण था। उसी ने वेदों का सबसे पहले आसुरी भाष्य किया और पशुयज्ञ प्रचलित किया। **हेमाद्रि रामायण** में लिखा है कि पूर्व समय में इन्हीं अनार्य म्लेच्छों के संसर्ग से पतित हुआ पर्वतक नामक ब्राह्मण राजा वसु का उपाध्याय हो गया, जिसकी दीर्घ-

कालीन संगति से राजा वसु भी आसुरी प्रवृत्ति वाला होकर ऋषियों से द्वेष रखने लगा। यह बात ऋषियों को ज्ञात नहीं थी। इसी समय देवताओं और ऋषियों के बीच 'अज' शब्द के अर्थ को लेकर विवाद हुआ। देवता कहते थे कि अज शब्द का अर्थ बकरा है, अतः पशुमांस से यज्ञ करना चाहिए, जबकि ऋषि लोग कहते थे कि अज शब्द का अर्थ बीज है, अतः यज्ञ केवल अन्न के द्वारा ही करना चाहिए। इस पर दोनों ने निश्चय किया कि राजा वसु जो अर्थ निश्चित कर देंगे, वही हम लोगों को मान्य होगा। तदनुसार दोनों ने राजा वसु के पास आकर प्रश्न किया। ऋषियों से द्वेष होने के कारण वसु ने देवताओं के पक्ष में सम्मति प्रदान कर दी। उसके इस फैसले से ऋषियों का पक्ष गिर गया और उसी दिन से पशुयज्ञ होने लगे तथा मांस का होम होने लगा। **वैदिक सम्पत्ति**, पृ ४६६–४६७

उक्त तथ्य कितना सच है? कुछ कहा नहीं जा सकता। पुनरपि यदि यह स्वीकार भी कर लें कि वाममार्ग जैसी इस दूषित प्रथा का बीज–वपन रावण के काल में त्रेता में ही हो चुका था, तो भी इतना तो निश्चित है कि यह कुप्रथा द्वापरांत तक विशेष बल को प्राप्त नहीं हो सकी और छिटपुट रूप से भारतवर्ष के इक्के–दुक्के स्थलों तक ही सीमित रही। इसका विशेष प्रचार–प्रसार तो महा॰ भारत युद्ध के पश्चात् ही हुआ, जबकि विद्वत्परम्परा का लोप हो गया और अज्ञानता एवं निष्क्रियता बढ़ गई।

६ **संस्कृत–हिन्दी कोष**, वामन शिवराम आपटे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७३, पृ. ७०९.

७, वहीं, पृ. ३५३

८, "रहा 'मेध' शब्द, वह तो मेधा और मेधावी अर्थ में आता ही है।" **वैदिक सम्पत्ति**, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली, १९८३, पृ. ३०५

९. 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' – **शतपथ ब्राह्मण**– १/७/४५

१० **सत्यार्थ प्रकाश**–एकादश समुल्लास, **वैदिक सम्पत्ति**, पृ. २८१, ३०४–३०५

११ **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**, महर्षि दयानंद सरस्वती, देखें 'नौविमानादिविद्याविषय' प्रकरण के अन्तर्गत अश्वि, अश्व, अश्विनी, श्वेतमश्व आदि शब्द।

१२ **सत्यार्थ प्रकाश**–एकादश समुल्लास।

१३. वाममार्गियों ने अश्वमेध यज्ञ के नाम पर गोरखपुर के किसी राजा की रानी का समागम घोडे के साथ करा दिया।–वहीं, **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**, देखें– 'भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषय' प्रकरण में भाष्यकार महीधर के अश्लील अर्थ।

१४. सत्यार्थ प्रकाश–एकादश समुल्लास, अद्भुत भारत, ए. एल. बाशम, पृ. २८२–२८३

१५. सत्यार्थ प्रकाश–एकादश समुल्लास।

१६. प्राचीन भारत का इतिहास, विद्याधर महाजन, एस. चंद एंड कम्पनी लि. नई दिल्ली, १९८०, पृ. ६०–६१

१७. सत्यार्थ प्रकाश-एकादश समुल्लास।

१८. वाल्मीकि आश्रम में वसिष्ठ के आगमन पर उनका स्वागत गाय की बछिया मार–कर किया गया–'येन परापतितेनैव सा वराकी कपिला कल्याणी वलात्कृत्य मडमडायिता।' (वाल्मीकि शिष्य सौधातकि का वसिष्ठ के विषय में कथन–उत्तररामचरितम्, भवभूति, चतुर्थअंक।

१९. प्राचीन भारत का इतिहास, वि. ध. महाजन, पृ. १७३, हिन्दू धर्म कोश, डा. राजबली पांडेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९७८, पृ. ४४४–४४५

२०. प्राचीन भारत का इतिहास, वि. ध. महाजन, पृ. १५३–१५६ इनमें से एक बौद्ध धर्म कालांतर में उन सभी बुराइयों से ग्रस्त हो गया जिनके लिए शुरु में उसने हिन्दू धर्म की निंदा की थी और बाद में उसमें तन्त्रवाद के रूप में खुले व्यभिचार का प्रवेश हुआ।

२१. मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, प्रो. भगवती प्रसाद चौधरी, हिंदी समिति, लखनऊ, १९७२, पृ. ९३, धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग) डॉ. पी. वी. काणे, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ १९८४, पृ. ४९९, ५०७.

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१३)
अवच्छेदकता

दैशिक अवच्छेदकता तथा कालिक अवच्छेदकता के भेद से भी अवच्छेदकता के दो प्रकार बतलाये गये हैं। किसी भी वस्तु का आश्रय होने वाले पदार्थ का एक भाग दैशिक अवच्छेदकता होता है। जैसे, वृक्ष की शाखा के साथ कपि का (साक्षात्) संयोग होता है, वृक्ष के मूल के साथ नहीं। चूंकि वृक्ष की शाखा के साथ कपि का संयोग होता है इसलिये वृक्ष का एक अवयव होने वाली शाखा को उक्त कपि-संयोग का अवच्छेदक माना जाता है। क्योंकि वही (शाखा) वृक्ष के साथ होने वाले कपि के संयोग का नियमन करती है। उसी प्रकार वृक्ष का तना, मूल आदि उक्त वृक्ष पर होने वाले कपि-संयोग के अभाव का नियमन करते हैं। अतः उक्त वृक्ष का मूल वृक्ष पर रहने वाले कपि–संयोग के अभाव का नियमन करता है। मूल से अवच्छिन्न कपि--संयोग का अभाव वृक्ष में होने से मूल उसका 'अवच्छेदक' कहलाता है। कपि संयोग तथा कपि–संयोग का अभाव इस प्रकार सारे वृक्ष को व्याप्त करने वाले न होते से अव्याप्यवृत्ति माने जाते हैं।[1] इस प्रकार के अवच्छेदक को नैयायिक 'तदधिकरणस्य तन्निष्ठ–धर्मावच्छेदकत्व' के रूप में परिभाषित करते हैं। इस प्रकार के अवच्छेदकत्व की सिद्धि मूले वृक्षे न कपिसंयोगः किन्तु शाखायाम्–वृक्ष के मूल के साथ (साक्षात्) कपि-संयोग नहीं है किन्तु शाखा के साथ है-इस प्रतीति के आधार पर होती है। यहाँ मूल यह वृक्ष का एक भाग वृक्ष पर प्रतीत होने वाले कपि-संयोग के अभाव का अवच्छेदक होता है। यहाँ अवच्छेदक स्वाश्रय–संबन्धी के रूप में प्रतीत होता है। स्व अर्थात् कपि–संयोग के अभाव के आश्रय वृक्ष का सम्बन्धी उसका मूल होता है।[2]

यदपि वृक्ष में कपि-संयोग अव्याप्य–वृत्ति होने से शाखादि उसके अवच्छेदक होते हैं, परन्तु वृक्ष के साथ आकाश का संयोग व्याप्य ही होता है। अतः शाखा इत्यादि वृक्ष के अवयव उसके अवच्छेदक नहीं होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि

उक्त प्रकार का अवच्छेदक अव्याप्यवृत्ति (याने भागशः रहने वाले) पदार्थों का ही होता है, व्याप्यवृत्ति वस्तुओं का नहीं।[३]

केवल संयोग ही नहीं संयोग सम्बन्ध से द्रव्य भी अव्याप्य—वृत्ति होता है। क्योंकि 'इस पर्वत के निम्न भाग पर अग्नि है, शिखर पर अग्नि नहीं है' यह प्रत्यय संयोग सम्बन्ध से अग्नि को भी अव्याप्यवृत्ति सिद्ध करता है, चूंकि वृत्ति-सम्बन्ध जब अव्याप्यवृत्ति होता है तो उसके सम्बन्धी का अव्याप्यवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। वृत्ति के अव्याप्यवृत्ति होने पर वृत्तिमान् का व्याप्य वृत्ति होना असम्भव है।[४]

इस प्रकार जो जिस भाग में जिस सम्बन्ध से रहित होता है वह उस भाग में उस सम्बन्ध से होने वाले अभाव का आश्रय होता है यह नियम है। इस नियम के आधार पर शिखर संयोग सम्बन्ध से अग्नि के अभाव का अवच्छेदक सिद्ध होता है। शिखरावच्छेदेन अग्नि-संयोग के न होने से शिखर अग्नि के अभाव को नियमित करने के कारण उसका अवच्छेदक होता है।[५क]

परन्तु यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इस अवच्छेदकत्व का स्वरूप क्या है? चूंकि अनतिरिक्त वृत्तित्व-रूप अच्छेदकत्व यहाँ सम्भव न होने से इसे स्वरूप-सम्बन्ध-रूप या अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना करने की अपेक्षा इसे स्वरूप-सम्बन्ध-रूप स्वीकार करने में लाघव होने से नैयायिकों का बहुमत इसे स्वरूप सम्बन्धरूप ही स्वीकार करता है।[५ख]

दूसरे प्रकार का अवच्छेदकत्व कालिक अवच्छेदकत्व कहलाता है। जिस काल में आश्रय में वस्तु का अस्तित्व होता है उस काल में उक्त अवच्छेदकत्व रहता है। जैसे, उत्पत्ति-काल में द्रव्य में गुण का अभाव रहता है। 'उत्पन्न द्रव्यं क्षणमगुणं अक्रियं च तिष्ठति' यह नियम है। अतः 'उत्पत्ति-काल में पृथ्वी में गन्ध नहीं होता तथा उत्तर काल में है' इस प्रतीति से उत्पत्ति-काल में पृथ्वी में गन्ध का अभाव भासित होने से उत्पत्तिकाल उक्त गन्धाभाव का अवच्छेदक होता है। उसके बाद के काल में गन्ध होने से बाद का काल गन्ध का अवच्छेदक होता है। इस प्रकार प्रतियोगिमान् में देश-काल-विशेष में जो अभाव प्रतीत होता है उसका अवच्छेदक देश के समान काल भी होता है। प्रतियोगि-युक्त काल में देशविशेषावच्छेदेन (विशेष देश में) तथा प्रतियोगिमान् देश में काल-विशेषावच्छेदेन (विशेष काल में) वस्तु का अभाव होने से देश और काल दोनों भी अवच्छेदक कहलाते हैं।[६]

घट-युक्त काल में भी 'इस समय तन्तु में घट नहीं है' इस प्रतीति से जैसे तन्तु के अवच्छेद से इस काल में घट का अभाव प्रतीत होता है वैसे ही घटाश्रय

कपाल में भी घट का नाश होने पर 'इस समय कपाल में घट नहीं है, इस प्रतीति के आधार पर घटाभाव के अवच्छेदक के रूप में एतत्काल मालूम होता है। 'इस समय तन्तु में घट नहीं है' इस प्रतीति का विषय एतत्कालावच्छेदेन तन्तु में ही घटाभाव होता है। तन्तु–अवच्छेदेन अर्थात् तन्तु से अवच्छिन्न घटाभाव इस काल में प्रतीत नहीं होता है क्योंकि तन्तु में घटाभाव व्याप्यवृत्ति होने से एतत्काल को अवच्छेदक मानने पर उक्त प्रतीति को भ्रम मानना पड़ेगा। इस समय तन्तुओं में घट नहीं है 'इदानीं तन्तुषु घटाभावः' इस प्रतीति में 'इस काल में वर्तमान जो घट है उसका अभाव तन्तुओं में प्रतीत होता है' ऐसा मानने पर काल को अवच्छेदक न मान कर घट-रूप प्रतियोगि के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ने पर तन्तु ही उक्त अभाव के अवच्छेदक के रूप प्रतीत होने से देश भी अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है यह सर्वानुभव से सिद्ध है। अतः उक्त अवच्छेदकत्व दैशिक अवच्छेदकत्व के रूप में प्रसिद्ध है।

इस प्रकार काल और देश दोनों ही अवच्छेदक होते हैं। 'इस समय घर में गौ नहीं है' यहाँ जिस प्रकार 'एतत् काल' घर में रहने वाले अभाव का अवच्छेदक होता है उसी प्रकार एतत् काल में रहने वाले अभाव का अवच्छेदक गृह भी होता है। 'इस समय अश्व में गोत्व नहीं है' इस प्रतीति में गो के अभाव का अवच्छेदक अश्व है या एतत् समय है? इसमें निश्चित रूप से कोई विनिगमक युक्ति न होने से उक्त प्रतीति में देशावच्छेदेन काल तथा एतत् कालावच्छेदेन देश इन दोनों ही प्रकार से गोत्व का अभाव प्रतीत होता है।[७]

तथापि 'इदानीं अश्वे न गोत्वम्' (इस समय अश्व में गोत्व नहीं है) इस प्रत्यय से अश्व में रहने वाले तथा इस काल में रहने वाले गोत्व का अभाव प्रतीत होता है यह कहना समीचिन नहीं है। क्योंकि देश में वर्तमान वस्तु का काल जैसे अवच्छेदक होता है वैसे ही काल में वृत्ति वस्तु का देश भी अवच्छेदक होता है। 'इदानीं गृहे गौर्नास्ति' – इस समय घर में गाय नहीं है – यहाँ घर में वृत्ति गाय के अभाव का नियन्त्रक एतत् काल होता है, जिसका तात्पर्य यह है कि एतत् कालावच्छेदेन घर में गौ का अभाव है। उसी प्रकार कालवृत्तिता प्रतीत होने पर देश-विशेष में उसकी नियन्त्रकता प्रतीत होती है। जैसे, 'इदानीं अश्वे न गोत्वम्' यहाँ कालवृत्ति गोत्वाभाव का नियामक अश्व होता है। अतः उक्त प्रतीति से अश्वावच्छेदेन एतत्कालवृत्ति गोत्वाभाव प्रतीत होता है। केवल देश या केवल काल ही अवच्छेदक होता है इसमें कोई युक्ति नहीं है। अतः कहा गया है 'देशे कालस्येव कालेऽपि देशस्यावच्छेदकत्वात्'। अनुभव के आधार पर देश और काल दोनों ही अवच्छेदक सिद्ध होते हैं। अन्यथा 'गृहे इदानीं न गौ' इस वाक्य से गृह में प्रतीत होने वाली गवाभावाश्रयता का अवच्छेदक काल नहीं

होगा, जबकि उपर्युक्त वाक्य से गृह-विद्यमानता के साथ ही एतत् काल विद्यमानता भी प्रतीत होती है। अतः काल को भी देशव्याप्तिता का अवच्छेदक मानना आवश्यक है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस प्रकार देश दैशिक व्याप्यवृत्ति पदार्थ का अवच्छेदक नहीं होता है वैसे ही काल भी कालिक व्याप्यवृत्ति पदार्थ का अवच्छेदक नहीं होता है। सर्व देशकालव्याप्त पदार्थ के अवच्छेदक देश और काल नहीं होते हैं। जो अवच्छेद्य का आश्रय हो सकता है वही उसका अवच्छेदक होता है। यही कारण है कि प्रलय-काल गो का अवच्छेदक नहीं होता है।[८] क्योंकि प्रलय काल गौ का आश्रय नहीं है। दैशिक तथा कालिक अवच्छेदकत्व के आधार पर वस्तुओं की अव्याप्य वृत्तिता की व्याख्या की जाती है। कालिक अवच्छेदकत्व भी दैशिक अवच्छेदकत्व के समान स्वरूप-सम्बन्ध विशेष है अथवा स्वतन्त्र पदार्थ माना जा सकता है।

विषयता के लिये कहीं नैयायिक अवच्छेदकता शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे, 'पर्वतो अग्निमान्' यहाँ पर पर्वतत्व उक्त अनुमिति का विषय होने से उसमें विषयता नामक पदार्थ (विशेष) है। उसे ही उक्त अनुमिति की अग्नि में रहने वाली विधेयता (इसके विषय में आगे विवेचन किया जायगा) के द्वारा निरूपित उद्देश्यता के रूप में स्वीकार किया जाता है।[९]

स्वाश्रय-जन्यत्व या स्वाश्रय-विशेषणत्व के अर्थ में भी अवच्छेदकता का प्रयोग न्याय में किया जाता है। जैसे, कर्म कारक की व्याख्या के प्रसङ्ग में धात्वर्थतावच्छेदक फलशालित्वम् यह कार्यत्व की व्याख्या की जाती है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त अवच्छेदकत्व क्या वस्तु है? यहाँ अन-तिरिक्त-वृत्तित्वरूप अवच्छेदकत्व नहीं है यह बात तो स्पष्ट है। तथा वह धात्वर्थता का स्वरूप न होने से वह स्वरूप-सम्बन्ध रूप अवच्छेदकत्व भी नहीं है। फलतः स्वाश्रयजन्यत्व ही यहाँ अवच्छेदकत्व के रूप में अभिप्रेत है। यहाँ 'स्व' पद से धात्वर्थता का ग्रहण करने पर उसके आश्रय धात्वर्थ की जन्यता फल में होने से फल धात्वर्थ का अवच्छेदक होता है।[१०]

वैयाकरण लोग सम्बन्ध के अर्थ में भी अवच्छेदक शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे, 'फलावच्छिन्न व्यापार' कहने पर फल व्यापार के अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है। यहाँ उक्त अवच्छेदकत्व सम्बन्ध-रूप है। अतः उक्त शब्द-प्रयोग का अर्थ होता है 'फल-सम्बन्धी व्यापार'।[११]

पूर्व लेख में कहा गया था कि सोन्दड के मत में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्ना-भाव स्वीकार किया गया है जिसके अनुसार प्रतियोगि में न रहने वाला धर्म भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। जैसे 'घटो नास्ति' – घट नहीं है – कहने

पर घट में रहनेवाली प्रतियोगिता का समानाधिकरण धर्म घटत्व उसका अवच्छेदक होता है वैसे ही 'पटत्वेन घटो नास्ति' – पट के रूप में घट नहीं है– कहने पर घट में रहने वाली प्रतियोगिता का व्यधिकरण–धर्म पटत्व भी अवच्छेदक होता है, चूंकि यह प्रतियोगिता का व्यधिकरण अर्थात् प्रतियोगी में न रहने वाला धर्म होने से उसमें अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व–रूप अवच्छेदकत्व नहीं है, तब यहाँ का अवच्छेदकत्व क्या है? आचार्य गङ्गेश ने तो प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः कह कर उक्त प्रतियोगितावच्छेदकत्व का निरास ही कर दिया है। परन्तु जो लोग 'द्रव्यत्वेन गुणो नास्ति' इत्यादि प्रतीति से सिद्ध अभाव स्वीकार करते हैं उनके मत में 'द्रव्यत्वेन' यहाँ प्रयुक्त तृतीया का अवच्छेदकत्व के सिवाय कोई दूसरा अर्थ सम्भव नहीं है। अतः उक्त तृतीयार्थ के रूप में प्रस्तुत होने वाले अवच्छेदकत्व का क्या लक्षण है यह एक विचारणीय पक्ष है।

व्यधिकरण धर्म को अवच्छेदक मानने वालों के मत में उक्त अवच्छेदकत्व एक पारिभाषिक अवच्छेदकत्व है, तथा उसकी परिभाषा है – "स्वव्यापकतत्कान्यत्व तत्सामानाधिकरण्य एतदुभयाभाववत्व"। व्यधिकरण–धर्म में स्वव्यापकतत्कत्व न होने से उभयाभाव है।[१२] यही उसमें रहने वाला अवच्छेदकत्व है। उदाहरणार्थ, जब हम द्रव्यत्वेन गुण का अभाव कहते हैं तो गुण में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक द्रव्यत्व होता है, क्योंकि यहाँ 'स्व' पद से द्रव्यत्व को लेने पर द्रव्यत्व–व्यापक प्रतियोगिता नहीं है। अर्थात्, जहाँ जहाँ द्रव्यत्व है वहाँ वहाँ प्रतियोगिता नहीं है। प्रतियोगिता गुण में है। अर्थात्, द्रव्यत्व–व्यापकत्व प्रतियोगिता में न होने से तत्कत्व भी द्रव्यत्व में नहीं है। अतः तदन्यत्व उसमें है लेकिन द्रव्यत्व में प्रतियोगिता का सामानाधिकरण्य नहीं है। अतः उक्त उभय का अभाव होने से उभयाभावत्व–रूप अवच्छेदकत्व है।

'तदधिकरणावृत्तित्वेन ज्ञायमानत्व' भी व्यधिकरण धर्म में रहने वाला अवच्छेदकत्व है ऐसा मानने पर "द्रव्यत्वेन गुणाभाव" की गुण में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक गुणत्व न हो कर द्रव्यत्व भी होता है, क्योंकि द्रव्यत्व प्रतियोगी गुण में नहीं रहता है।[१३]

स्वाधिकरणवृत्तिभेद प्रतियोगितानवच्छेदकत्व स्वाधिकरणवृत्तित्वोभयाभाववद्धर्मवत्व को व्यधिकरण धर्म में रहने वाला अवच्छेदकत्व भी कहा जा सकता है।[१४] यहाँ 'स्व' पद से प्रतियोगिता का ग्रहण करने पर स्व "प्रतियोगिता", उसका अधिकरण गुण है, उसमें रहने वाला भेद है द्रव्यभेद। उसकी प्रतियोगिता द्रव्य में है। उस प्रतियोगिता का अनवच्छेदकत्व द्रव्यत्व में नहीं है, तथा स्वाधिकरणवृत्तित्व (स्व–प्रतियोगिता, अधिकरण–गुण,

वृत्तित्व गुणत्व में) भी द्रव्यत्व में नहीं है। अतः उभय (दोनों) का अभाव द्रव्यत्व में है। अतः द्रव्यत्व में उक्त अवच्छेदकत्व है। क्योंकि "गुणवान् घटः" इस प्रकार का निश्चय होने पर भी "द्रव्यत्वेन गुणो नास्ति" – द्रव्य के रूप में गुण नहीं है – यह प्रत्यय होता है। इसलिये द्रव्यत्व को उक्त प्रतीति में भासित होने वाली तथा गुण में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा गुणत्वावच्छिन्न गुण में रहने वाली प्रतियोगिता वाले गुणाभाव के ज्ञान में गुणत्वेन गुणवत्ता का निश्चय विरोधी होने से 'द्रव्यत्वेन गुण नहीं है' यह प्रत्यय ही नहीं हो सकेगा। उक्त प्रकार से द्रव्यत्व उक्त अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने पर 'द्रव्यत्वेन गुणाभाव–बुद्धि' में द्रव्यत्वेन गुण का निश्चय विरोधी होने से उक्त प्रकार का निश्चय कहीं भी सम्भव न होने से ही उक्त प्रकार के व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव की प्रतीति सर्वत्र होती है।

इस प्रकार धूमत्व में धूमाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेद तीन प्रकार का होता है। पहला, शुद्ध सामानाधिकरण्य के रूप में। जैसे, धूमाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व धूमत्व में है क्योंकि धूमत्व प्रतियोगिता का समानाधिकरण है। दूसरा, किसी अंश में समानाधिकरण होने पर और किसी अंश में व्यधिकरण होने पर। जैसे, 'धूमत्वेन प्रमेयाभाव' की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व धूम में, किसी प्रमेय (धूम) में धूमत्व रहने से अंशतः समानाधिकरण है और वृक्षादि प्रमेय में धूमत्व न होने से व्यधिकरण है। तीसरा, शुद्ध वैयधिकरण्य से अवच्छेदकत्व होना। जैसे, धूमत्वेन घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व धूमत्व में है जो कि शुद्ध रूप से प्रतियोगिता का व्यधिकरण है।[१५]

एक और भी प्रकार का अवच्छेदकत्व नैयायिक स्वीकार करते हैं जो कि 'अवच्छेदकावच्छेदेन' प्रतीति में परिलक्षित होता है। जैसे, 'पर्वत वह्निमान् है' इस कथन से पर्वत में अग्नि का बोध दो प्रकार का होता है– 'धर्मितावच्छेदक सामानाधिकरण्येन' अर्थात् धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व के समानाधिकरण (एक ही आश्रय में रहने वाले) के रूप में। इस में किसी एक पर्वत में अग्नि का अस्तित्व ज्ञात होता है। दूसरा बोध 'धर्मितावच्छेदकावच्छेदेन' होता है। इसमें धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व से अवच्छिन्न मात्र में अग्नि की आश्रयता परिलक्षित होती है। यहाँ 'अवच्छेदकावच्छेदेन' प्रतीति में धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व में प्रतीत होनेवाला 'अवच्छेदकत्व' प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध में प्रतीत होने वाली धर्मतावच्छेदक की व्यापकता निरूपित व्याप्यत्व ही है। जब पर्वत मात्र में अग्नि की आश्रयता प्रतीत होती है तो उसे नैयायिक अवच्छेदकावच्छेदेन-बुद्धि कहते हैं। उनका आशय यह होता है कि धर्मतावच्छेदक प्रकारतावच्छेदक संसर्ग से व्याप्य होता है तथा

प्रकारतावच्छेदक संसर्ग उसका व्यापक होता है। उदाहरणार्थ, जब हम पर्वत अग्निमान् है ऐसा कहते हैं तब पर्वत और अग्नि के बीच होने वाला संयोग सम्बन्ध पर्वतत्व का व्यापक प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ पर्वतत्व है वहाँ-वहाँ अग्नि का संयोग है। इस प्रकार अग्नि – संयोग में पर्वतत्व की व्यापकता प्रतीत होने से उससे निरूपित व्याप्यता पर्वतत्व में प्रतीत होती है। यही व्याप्यता ही 'धर्मितावच्छेदकावच्छेदेन बुद्धि' होने पर धर्मितावच्छेदक (पर्वतत्व) में प्रतीत होने वाला अवच्छेदकत्व होती है।

सामानाधिकरण्येन (किसी एक पर्वत में अग्नि की) बुद्धि होने में धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व में उक्त प्रकारतावच्छेदक संसर्ग में प्रतीत होने वाली व्यापकता से निरूपित व्याप्यत्व-रूप-अअवच्छेदकत्व नहीं रहता है। इसका असर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव के विचार के प्रसङ्ग में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

धर्मितावच्छेदक सामानाधिकरण्येन तद्वत्ताबुद्धि या तद्व्याप्यवत्ताबुद्धि अवच्छेदकावच्छेदेन तद्भाववत्ताबुद्धि को प्रतिबन्ध करती है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है – किसी एक पर्वत में अग्नि का ज्ञान या किसी एक पर्वत में अग्निव्याप्य धूम का ज्ञान होने पर पर्वत मात्र में अग्नि के अभाव का ज्ञान नहीं होता है यह अनुभव-सिद्ध है। अतः सामानाधिकरण्येन होने वाला तद्वत्ता ज्ञान तदभाववत्ता का अवच्छेदकावच्छेदेन होने वाले ज्ञान का विरोधक होता है।[१६]

अनुमिति में साध्य की सिद्धि की प्रतिबन्धकता के प्रसङ्ग में भी अवच्छेदकावच्छेदेन ज्ञान और सामानाधिकरण्येन होने वाले ज्ञान की विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है। सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि (किसी एक पक्ष में साध्य का ज्ञान) उसी पक्ष में होने वाली अनुमिति की विरोधी होती है, परन्तु अवच्छेदकावच्छेदेन साध्य की सिद्धि दोनों ही प्रकार की अनुमितियों की विरोधी होती है। इसका तात्पर्य यह है कि पर्वत मात्र में साध्य की सिद्धि होने पर न तो पर्वत मात्र में अनुमिति होती है और न ही पर्वत-विशेष में अनुमिति होती है।[१७]

अग्रिम लेख में अवच्छेदकता को सम्बन्ध मानने की युक्तियों का तथा विभिन्न प्रकार की अवच्छेदकताओं का उदाहरण सहित विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे-४११००७

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. झळकीकर, भीमाचार्य; क्वचित् तदधिकरणस्य तन्निष्ठधर्मावच्छेदकत्वम् यथा मूले वृक्षे न कपिसंयोगः किन्तु शाखायामित्यादौ वृक्षाधिकरणस्य मूलस्य वृक्षनिष्ठकपिसंयोगाभावावच्छेदकत्वम् वृक्षाधिकरणस्य शाखादे वृक्षनिष्ठकपिसंयोगाभावावच्छेदकत्वम्। **न्यायकोशे**

२. अत्रावच्छेदकत्वम् च स्वाश्रयसम्बन्धित्वम्। **वहीं**

३. जगदीश तर्कालङ्कार; व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकानङ्गीकारादिति वाच्यम्। **जागदीशी**, सिद्धान्तलक्षणे

४. रघुनाथ शिरोमणि; वृत्तेरव्याप्यवृत्तित्वे वृत्तिमतो व्याप्यवृत्तित्व–स्यात्यन्तमसम्भावितत्वात्। **दीधिति**, सिद्धान्तलक्षणे

५. क. तथाच यो यदवच्छेदेन यदीय यत्सम्बन्धाभाववान् स तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नतदभाववान् इति व्याप्त्या शिखरावच्छेदेन संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवह्न्यभावसिद्धिरिति भावः। **जागदीशी**, सिद्धान्तलक्षणे

५. ख. देशकालयोरवच्छेदकत्वं तु स्वरूपसम्बन्धमेवेति नियमोत्र ज्ञेयः। **न्यायकोशे**

६. तथा च प्रतियोगिमतिकाले देशविशेषावच्छेदेन प्रतियोगिमति देशे कालविशेषावच्छेदेन तदभावः। शिवदत्त मिश्र; जागदीशी; सिद्धान्तलक्षणस्य **व्याख्यायाम्**

७. तथा च यथादेशे वृत्तौ कालस्यावच्छेदकत्वमनुभूयमानम् इदानीं गृहे गौर्नास्तीत्यनुभवबलात्, तथा कालवृत्तावपि देशविशेषस्यावच्छेदकत्वमनुभूयमानम् इदानीं अश्वेन गोत्वमिति प्रतीतिबलात्, तादृशप्रतीतेः कालावच्छेदेन देशवृत्तिः देशावच्छेदेन वा कालवृत्तिर्विषय इत्यत्र विनिगमनाभावात्। **वहीं**

८. किञ्चात्र अवच्छेद्याधिकरणत्वं यस्य सम्भवति तस्यैवावच्छेदकत्वम् इति नियमोप्यङ्गीकर्तव्यः। **न्यायकोशे**

९. अवच्छेदकत्वाख्यो विषयतात्मकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः। **वहीं**

१०. स्वाश्रयजन्यत्वं स्वाश्रयविशेषत्वं वा। **वहीं**

११. **वहीं**

१२. **वहीं**

१३. **वहीं**

१४. शिवदत्त मिश्र; अथ व्यधिकरणधर्मत्वं स्वाधिकरणवृत्तिभेद प्रतियोगितानवच्छेदकत्व स्वाधिकरणवृत्तित्वोभयाभाववद्धर्म एव। जागदीशी, व्यधिकरणधर्मानुगमपत्रिकायाम्

१५. शिवदत्त मिश्र; तथाहि धूमत्वे प्रतियोगितावच्छेदकत्वं हि त्रेधा, एक शुद्धसामानाधिकरण्येन, यथा–धूमत्वादिना धूमाद्यभावप्रतियोगिता-वच्छेदकत्वं; द्वितीयं हि किञ्चिदंशे सामानाधिकरण्येन किञ्चिदंशे वैय्यधिकरण्येन, यथा–धूमत्वादिना प्रमेयसामान्याभावादि प्रतियोगिता-वच्छेदकत्वं; तृतीयं च शुद्ध वैय्यधिकरण्येन, यथा–धूमत्वादिना घटाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वम्। जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदस्य व्याख्यायाम्

१६. शिवदत्त मिश्र; सामानाधिकरण्येन बाधनिश्चयोऽवच्छेदकावच्छेदेनाऽनुमितिं प्रतिबध्नाति। जागदीशी, सामान्यनिरूक्ते व्याख्यायाम्

१७. रघुनाथ शिरोमणि; पक्षतावच्छेदकस्य सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धावपि तदवच्छेदेनानुमितिदर्शनात् पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमितिं प्रति तदवच्छेदेन सिद्धेः सामानाधिकरण्यमात्रेणानुमितिं प्रति तु सिद्धमात्रस्य विरोधित्वम्। दीधिति, पक्षताप्रकरणे

ग्रन्थ-समीक्षा

हर्ष (स्व. प्रोफेसर) द्वारका दास; **महाभारत का अर्थ**; बीकानेर, वाग्देवी प्रकाशन, १९८९, पृ. १४२; मूल्य ७० रुपये (सजिल्द)

रामायण और **महाभारत** भारतीय सांस्कृतिक विरासत की गंगोत्री और यमुनोत्री हैं ऐसा कहा तो इसमें सम्भवतः तनिक भी अतिशयोक्ति न होगी। इन दो महान् ग्रन्थों ने दार्शनिकों अनुसन्धानकर्ताओं, मनीषिओं, शिक्षकों, छात्रों तथा सामान्य जनों–चाहे वे शिक्षित हों या अनपढ़–को समय–समय पर अपनी ओर आकृष्ट ही नहीं किया लेकिन विशाल पैमाने में तथा गंभीर रीति से प्रभावित भी किया है। इन ग्रन्थों का आभिजात्य इसी में निहित है कि इतनी सारी सदियाँ बीत जाने के बावजूद अन्यान्य लोग उक्त ग्रन्थों के आधार पर मानवी जीवन के बारे में नयी दृष्टियों से विचार करने उद्युक्त होते हैं और परिवर्तित परिस्थितियों में पुराने या नये प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करने में सफल भी होते हैं।

महाभारत के सिद्धान्तों तथा कथानकों को इस प्रकार नये परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की महती आवश्यकता को महसूस करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ का सृजन हुआ है। उसका केन्द्रीय सिद्धान्त यह है कि **महाभारत** में दो जीवन–दृष्टियों, जीवन–मूल्य–प्रणालियों का संघर्ष है और इस प्रकार का संघर्ष दो प्रणालियों के पक्षधरों सें बीच मात्र सैद्धान्तिक स्तर पर रहने के बजाय उनके जीवन के ही नहीं बल्कि उनके सम–सामयिक कई लोगों के जीवन के विविध आयाम प्रस्तुत तथा प्रभावित करने में सक्षम और समर्थ रहा। प्रस्तुत ग्रन्थ में यह भी भली–भाँती बताया गया है कि उक्त प्रकार का संघर्ष तीन स्तर पर कार्यान्वियित होता है–जीवन–अस्तित्व, जीवन–यात्रा तथा जीवन–उद्दिष्ट। यह भी जिज्ञासु पाठकों के सामने ठीक तरह प्रस्तुत किया गया है कि उस प्रकार का संघर्ष पुरुषार्थ–द्वयात्मक (अर्थ और काम) तथा पुरुषार्थ–त्रयात्मक (धर्म, अर्थ और काम और इनके सन्दर्भ में निःश्रेयस् या पुरुषार्थ–चतुष्टय ?) जीवन–दृष्टियों के पक्षधरों के बीच हुआ संघर्ष है। यह सारा विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

तथापि एक बात की ओर पाठकों का ध्यान विनम्रता से आकृष्ट करना चाहते हैं। अर्जुन के द्वारा **गीता** के आरम्भ में प्रस्तुत किया हुआ प्रश्न अर्जुन की मानसिक दुर्बलता से उद्भूत होता हुआ दिखाया गया है। (देखिये, पृ. १०५–११४) इस प्रकार का मन्तव्य प्रस्तुत करने वाले कई लोग रहे हैं। तथापि हमारी सीमित समझदारी के अनुसार अर्जुन के सामने जो प्रश्न था वह उनकी किसी भी प्रकार की मानसिक दुर्बलता से उद्भूत होता हुआ नहीं दिखायी देता। वस्तुतः

जिस स्वजन-सिद्धान्त को उन्होंने अपनाया था तथा जिसका समर्थन उन्होंने लगभग अपने सारे जीवन में किया उसके आधार पर महाभारत-युध्द का समर्थन करना असम्भव था। उसको इस प्रकार प्राप्त परिस्थिति में पराजित हुआ देख कर तथा और कोई समर्थनीय पर्यायी सिध्दात उन्हें न दिखायी देने से उनके सामने यह प्रश्न था कि महाभारत युद्ध जैसे घोर परिणामी सामुदायिक मानवी कृति का समर्थन स्वीकारार्ह तरह से किस प्रकार किया किया जा सकता है और ऐसा समर्थन प्रस्तुत करने का कोई मार्ग न हो तो उक्त प्रकार के युद्ध में सहभागी होना गर्हणीय होगा। ऐसा अपेक्षित रीति से व्यापक और गम्भीर सिद्धान्त श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत किया जिससे अर्जुन के सामने होने वाले प्रश्न का हल हो गया। उक्त सिद्धान्त मूलतः आत्मानात्म विचारसे उद्भूत तथा सम्बन्धित न हो कर मानवी कृति का समर्थन प्रस्तुत करने वाला सिद्धान्त है। यह अलग कहने की आवश्यकता नहीं कि कृष्ण के द्वारा प्रस्तुत उक्त सिद्धान्त का सम्बन्ध उनके द्वारा अपनायी जीवन-दृष्टि और जीवन मूल्यों की प्रणाली से है। तभी तो उसका इतना अनन्य साधारण महत्त्व है।

इस प्रकार के कुछ मुद्दों के बारे में यद्यपि गम्भीर मतभेद हो सकता है; तथापि आम-तौर पर ग्रन्थ-कर्ता के द्वारा अपने केन्द्रीय सिद्धान्त को सन्तोषजनक रीत्या प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ की भाषा परिमार्जित है और विवेचन में विषयान्तर नगण्य हैं। मुद्रण की अशुद्धियाँ भी लगभग अनुपस्थित हैं। इसलिये ग्रन्थ जिज्ञासुओं के द्वारा अभ्यसनीय है। इस प्रकार का एक पठनीय ग्रन्थ पाठकों के सामने प्रस्तुत करने के कारण लेखक तथा प्रकाशक को धन्यवाद।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

मो. प्र. मराठे

स्थायी सदस्य (संस्थाएँ)

२४. ग्रन्थालयाध्यक्ष,
जवाहरलाल नेहरू ग्रन्थालय
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर – ४७०००३
(म. प्र.)

२५. अध्यक्ष,
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी – २२१००५
(उ. प्र.)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१८८. डॉ. गङ्गाप्रसाद इनसेना
चन्द्रशेखरपुर
जिला – रायगढ़
मध्यप्रदेश – ४७६६६५

१८९. श्रीमती विजया शर्मा
द्वारा डॉ. शर्माजी का नर्सिंग होम
ए/१९–ए, कैलाश कालोनी
नई दिल्ली – ११००४८

१९०. डॉ. प्रभुनारायण मण्डल
स्नातकोत्तर दर्शन विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर – ८१२००७
(बिहार)

१९१. डॉ. आनन्द प्रकाश पाण्डेय
१७७, टैगोर टाउन
इलाहाबाद – २११००२
(उ. प्र.)

१९२. डॉ. बी. कामेश्वर राव
तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन विभाग
रविशंकर विश्वविद्याशय
रायपुर – ४९२०१०
(म. प्र.)

१९३. डॉ. लक्ष्मण प्रसाद नायक
विद्यामन्दिर
खैरापाली
पो. वाया भुक्ता
जिला – सम्बलपुर
उडीसा – ७६८०४५

१९४. डॉ. वीरेन्द्र कुमार सिंह
दर्शनशास्त्र विभाग
गया कॉलेज
गया
(बिहार)

१९५. श्री. आलोक शर्मा
'जयसदन'
८, देवपुरम्
मुज़फ्फरनगर – २५१००१
(उ. प्र.)

१९६. श्री. पीयूषकान्त दीक्षित
नव्यन्याय विभाग
श्री. रणबीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्
३०४/ए, शास्त्रीनगर
जम्मूतवी – १८०००४
(ज और काश्मीर)

१९७. डॉ. नरेश नारायण सिंह
सूर्यश्यामाश्यम
न्यू जीरो माइल
मुज़फ्फरपुर – ८४२००१
(बिहार)

१९८. श्री. कृष्णलाल एस्. बजाज
ए/८२, बजाज निवास
उल्हासनगर – ४२१००१
(महाराष्ट्र)

१९९. श्री. ब्रजबिहारी निगम
९, तिवारी कालोनी
माधव नगर
उज्जैन – ४५६००१
(म. प्र.)

२००. डॉ. मन्दारनाथ पाठक
दर्शन विभाग
मधुपुर कॉलेज
मधुपुर – ८१५३५३
देवघर
(बिहार)

२०१ डॉ. रतना देव
३३१/बी, अग्रवाल कालोनी
जबलपुर
(म प्र)

ईश्वर कृष्ण की सृष्टि-मीमांसा

ईश्वर कृष्ण की कारिकाओं की परमात्मवादी दृष्टि से पुनर्व्याख्या सम्बन्धी मेरे लेखों की श्रृंखला का यह तीसरा और संभवतः अन्तिम लेख है। वैसे जो कुछ पिछले लेखों में मैंने दिखाने का प्रयास किया है, उससे ईश्वर कृष्ण की सृष्टि–मीमांसा की रूपरेखा कुछ सीमा तक बन ही गयी। यहां इतस्ततः बिखरे आधारों पर ईश्वरकृष्ण के सृष्टि–चिन्तन को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना अभीष्ट है। मेरे विचार से कारिकाओं की वे समस्त व्याख्याएं जो कारिकाओं को निरीश्वरवादी निरूपित करती हैं–सर्वथा असांख्यीय और असंगत हैं। कारिकाओं में परमात्मतत्त्व निरूपणार्थ लिखित मेरे लेख[1] "क्या ईश्वरकृष्ण निरीश्वर वादी थे ?" पर अपनी प्रतिक्रिया[2] को प्रस्तुत करते हुए आदरणीय श्री नारायण शास्त्री द्राविड़ ने लिखा है कि 'किसी जमाने में सांख्य सेश्वर रहा होगा। परवर्ती ईश्वरकृष्ण जैसे विचारकों ने ईश्वर के स्वीकार को अनावश्यक महसूस कर ईश्वर का परित्याग किया हो तो आश्चर्य नहीं। यदि अनावश्यक तत्त्व का भी ये विचारक पुरस्कार करते तो इनके विचार दार्शनिकों को स्वीकार्य नहीं होते।' श्री द्राविड़ की उक्ति से दो बातें उन्होंने मानी प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि कभी सांख्य सेश्वर रहा होगा–इसे स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति नहीं। महाभारत पुराणों, भगवत्गीता, श्वेताश्वतर उपनिषद् आदि के आधार पर तथा श्रद्धेय उदयवीर शास्त्री तथा प्रो. आद्याप्रसाद मिश्र की रचनाओं से हम निश्चित रूपेण कह सकते हैं कि प्राचीन सांख्य परमात्मवादी ही रहा है. 'रहा होगा' नहीं। दूसरी बात श्री. द्राविड़ के कथन में यह है कि ईश्वरकृष्ण नें ईश्वर की अनावश्यकता के कारण उसका परित्याग कर दिया। यहां दो बातें एक साथ कही गई हैं– (१) ईश्वरकृष्ण के दर्शन में ईश्वर अनावश्यक है। और (२)

ईश्वरकृष्ण ने ईश्वर का परित्याग किया। ये दोनों ही बातें कारिका की प्रचलित व्याख्याओं के आधार पर तथा अद्वैत वादियों के सांख्य खण्डन के आधार पर ही कही जा सकती हैं। ये व्याख्याएं असंगत हैं ऐसा हम मानते हैं। ऐसा मानने का कारण स्वयं कारिकाएं ही हैं। अन्तिम कारिकाओं में कहा है कि यह पुरुषार्थ हेतुक ज्ञान परमर्षि कपिल, आसुरी पंचशिख से होता हुआ ईश्वरकृष्ण तक पहुंचा है। उसी का 'संक्षिप्त' रूप कारिकाकार ने प्रस्तुत किया है। कपिल का दर्शन–प्राचीन सांख्य–स्पष्टतः परमात्मवादी है तब कारिकाओं की निरीश्वरवादी व्याख्याओं को युक्ति–संगत मानने का आग्रह क्यों? कारिकाओं की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता ही इस विसंगति को दूर करने के लिए महसूस हुई।

श्री. द्राविड़ का यह कथन[३] बिल्कुल सही है कि "जो कुछ कार्य विश्व की सृष्टि या आविर्भाव तथा प्रलय या तिरोभाव प्रकृति के द्वारा सम्पन्न होता है वह अपने आप ही होता है।" लेकिन इससे यह निष्कर्ष उन्होंने कैसे निकाल लिया कि "निमित्त कारण की भी प्रकृति को अपने कार्य सम्पादनार्थ आवश्यकता नहीं हो सकती"? सांख्य के सभी आचार्यों ने सर्ग के लिए पुरुष–संयोग को अनिवार्य माना है। अतः निमित्त कारण की अनावश्यकता श्री. द्राविड़ ने कैसे कल्पित कर ली–यह मैं नहीं समझ सका। यह कहना कि सांख्य अचेतन प्रकृति को सृष्टि के लिए पर्याप्त मानता है–सर्वथा असांख्योय मत है।

जब सांख्याचार्य कहते हैं कि ईश्वर सृष्टि का कारण नहीं है तो इसका एक विशेष अभिप्राय होता है जिसका स्पष्ट संकेत आचार्य माठर ने दिया है। वे कहते हैं–'अत्र सांख्या वदन्ति। ईश्वरः कारणं न भवति। कस्मात्, निर्गुणत्वात्। इमाः सगुणाः प्रजाः।......यदीश्वरः कारणं स्यात् ततो निर्गुणादीश्वरान्निर्गुणा एव प्रजाः स्यु। न चैवं। तस्मादीश्वरः कारणं न भवति।[४] गौडपाद कहते हैं–"निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथ सगुणतः प्रजा जायेरन्।......तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते... निर्गुण ईश्वरः सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तोति।[५] दोनों ही आचार्यों ने उक्त कथन सांख्याचार्यों के विचार के रूप में कहे हैं। हम समझते हैं कि इससे अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक भी नहीं है। नानाख्यात्मक यह त्रिगुण सृष्टि किसी निर्गुण का कार्य या परिणाम नहीं हो सकता। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'कारण' का किस अर्थ में यहां उल्लेख है। 'मिट्टी घट में परिणमित होती है'–का अर्थ यह कोई नहीं समझता कि मिट्टी अपने आप घट में परिवर्तित हो जाती है। फिर सृष्टि को प्रकृति का कार्य या परिणाम कहने पर यह क्यों समझ लिया गया कि प्रकृति अपने आप परिणमित हो जाती है? जब सांख्यवादी कहते हैं कि प्रकृति का कार्य जगत् है तो यह उपादान कारण की चर्चा ही है। चूंकि प्रकृति अचेतन है और अचेतन हमेशा 'परार्थ' ही होता है इसलिए सांख्यमत में निमित्त

कारण उचित ही माना गया। यही नहीं, कारिकाओं को निरीश्वरवादी मानने प भी स्वतंत्र प्रकृति कारणवाद उसमें सिद्ध नहीं होता। इस संक्षिप्त पूर्व पीठिका के बाद अब हम सृष्टिमीमांसा पर आते हैं। ईश्वरकृष्ण की सृष्टिमीमांसा के उन्हीं अंशों का मैं यहां उल्लेख करूंगा जिन पर प्रचलित मान्यताओं को मैं असंगत या अस्पष्ट समझता हूँ।

प्रकृति पुरुष संयोग के स्थापनार्थ सांख्यमत में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण हैं। सांख्यमत श्रुति (वेद) सम्मत है। अतः जो तत्त्व प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञेय नहीं हैं उन्हें श्रुत्यानुसार ही ग्रहण करना चाहिए। ऐसा तत्त्व केवल परमात्मा ही है। इसीलिए अचेतन व चेतन तत्त्व की सिद्धि प्रत्यक्षाधृत अनुमान से की गई। जीवात्म पुरुष के पहुँच की भी ऐसी सिद्धि की गई; लेकिन परमात्मा की सिद्धि में प्रत्यक्षानुमान का उपयोग किए बिना मान ली गई और उसके लक्षणों का उल्लेख किया गया (कारिका–१९)। इसके पश्चात् सृष्टि–प्रक्रिया और उससे सम्बद्ध निर्णयों का उल्लेख किया गया। बीसवीं कारिका में कहा गया है–

> तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।
> गुणकर्तृत्वे अपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥

प्रचलित व्याख्याओं में तस्माद् के लिए एक पूर्वपक्ष कल्पित किया गया है। माठर ने 'यस्माच्चेतनस्वभावः पुरुषः तस्माद् तत्संयोगाद्...' कह कर अचेतन लिंग के चेतनवत् होने का कारण उस चेतन के संयोग को माना है। ऐसा ही जयमंगलाकार ने भी माना है। फिर तत्संयोगाद् से 'पुरुष–संयोग' ग्रहण किया गया। जब हम 'पुरुष–संयोग' कहते हैं तो निश्चय ही यह प्रकृति–पुरुष संयोग होना चाहिए और प्रायः ऐसा ही माना जाता है। लेकिन ऐसा होने पर 'अचेतन लिंग चेतनवत् हो जाता है' यह कथन बड़ा असंदर्भित लगता है। संयोग तो प्रकृति पुरुष में हुआ और उसका परिणाम अचेतन लिंग में दिखाया गया–यह कम से कम हमें उचित या युक्ति संगत नहीं लगता। प्रस्तुत कारिका में अचेतन लिंग चेतन संयोग से चेतनवत् होता है–ऐसा कहा गया है। इसमें चेतन तो स्पष्टतः जीवात्म पुरुष ही है। लेकिन अचेतन लिंग कैसे उत्पन्न हो गया? इससे पूर्व की किसी कारिका में लिंगोत्पत्ति का उल्लेख भी नहीं है। यह भी ध्यातव्य है कि 'अचेतन–लिंग' पद से प्रकृति का अर्थ ग्रहण नहीं होता। एक ओर तो सांख्य मत की यह मान्यता तथ्यरूप में स्वीकृत है कि पुरुष प्रकृति के संयोग के बिना लिंग महत् या लिंग शरीर की उत्पत्ति नहीं होती तब उस अवस्था में अर्थात् लिंगोत्पत्ति से पूर्व पुरुष का अचेतन लिंग से संयोग कहा ही नहीं जा सकता। दूसरी ओर इस कारिका में स्पष्टतः चेतन के कारण अथवा चेतन के संयोग से

अचेतनलिंग के चेतनवत् होने की बात कही गई है। अतः इस कारिका में जिस संयोग का उल्लेख है वह प्रकृति पुरुष संयोग नहीं बल्कि लिंग और पुरुष संयोग है। तब लिंग किस संयोग का परिणाम है? यह रहस्य ही रह जाता है। हमारे विचार में इस कारिका से पूर्व दो बातों का उल्लेख अत्यावश्यक था। प्रथम तो लिंग की उत्पत्ति का और द्वितीयतः लिंग और पुरुष के संयोग का। क्योंकि 'अतः उस संयोग से...' कहने से पूर्व 'उस संयोग' का होना या घटना आवश्यक है। फिर अतः (तस्माद्) की व्याख्या के लिए भी इस कारिका से पूर्व कुछ अपेक्षित है।

इसे हम इस तरह अधिक स्पष्ट कर सकते हैं –

१. किसी तरह लिंग की उत्पत्ति होती है।

२. अचेतन लिंग से चेतन पुरुष का संयोग होता है।

३ अतः उस संयोग से अचेतन होने पर भी लिंग चेतनवत् होता है। इस प्रकार तस्मात् तत् संयोगात् से पूर्व (१) और (२) का उल्लेख होना चाहिए। इस स्थल पर उक्त उल्लेख का न होना दो कारणों से संभव है। या तो (१) और (२) का उल्लेख वाली कारिका उन्नीसवीं और बीसवीं कारिका के बीच रही हो और भाष्य रचना की प्रथम आवश्यकता के पूर्व उसका लोप हो गया अथवा कर दिया गया, अथवा (१) और (२) सम्बंधी मत कारिका की रचना के समय तक इतने सुपरिचित व सुस्थापित रहे हों कि उनके उल्लेख की आवश्यकता न समझी गई हो। दोनों ही स्थितियों में प्रस्तुत कारिका की व्याख्या का एतत्सम्बन्धी सांख्यमत प्राचीन साहित्य के आधार पर मानना होगा।

सांख्य मत में प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहा गया है। सत्व, रजस्, तमस्– इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति की अव्यक्तावस्था है। अतः व्यक्तावस्था या कार्यरूप में परिणत होने के लिए गुणों के साम्य का भंग होना आवश्यक है। इसलिए 'गुणक्षोभ' की मान्यता स्वीकार की है। विष्णु पुराण में कहा है—

"प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥

इसी तरह वायु, शिव, कूर्मादि पुराणों में भी क्षोभ का उल्लेख है। सांख्य की यह प्रचलित मान्यता है कि परमात्मा की प्रेरणा से 'गुण– क्षोभ' होता है। परमात्मा की यह प्रेरणा प्रकृति को सन्निधिमात्र से प्राप्त हो जाती है। इस 'सन्निधि' को ही 'संयोग' भी कहा जा सकता है। गुणक्षोभ के लिए जिस रुष का सान्निध्य अपेक्षित है वह जीवात्मा नहीं हो सकता। प्रकृति की अव्यक्तावस्था में यदि जीवात्म पुरुष का संयोग माना जाय तब या तो संयोग प्रकृति अथवा जीवात्मा का स्वाभाविक संयोग होगा या फिर आकस्मिक।

स्वाभाविक होने पर 'संयोग–हीन' अवस्था अकल्पनीय है और उसे आकस्मिक मानने पर इसे या तो निष्प्रयोजन मानना होगा या पुरुष अथवा प्रकृति की इच्छा से मानना होगा। बुद्धि से संयुक्ति से पूर्व चेतना में 'इच्छा' की कल्पना नहीं की जा सकती और अचेतन होने से यह प्रकृति की इच्छा भी नहीं कही जा सकती। अतः यदि 'पुरुष' शब्द को कारिका में केवल जीवात्मबोधक ही माना जाय तो बीसवीं कारिका में वर्णित स्थिति कभी नहीं आ सकती। अतः प्राचीन सांख्य या कपिल–प्रणीत सांख्य में जैसा स्वीकार किया गया है–वही कारिका का मत भी मानना होगा।

अब, गुणक्षोभ से त्रिगुण की परस्पर क्रिया में सर्व प्रथम महत् या बुद्धि तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यदि हम महत् या बुद्धि को ही मूल कारण में लय होने वाला होने से लिंग मानें तो बीसवीं कारिका का कथ्य यह मानना होगा कि अचेतन बुद्धि चेतनवत् होती है। यदि हम 'लिंग' पद लिंग–शरीर के अर्थ में मानें तो पुरुष–संयोग महत्+अहंकार+पंच–तन्मात्र संधान–रूपी शरीर में प्रवेश के रूप में मानना होगा। इस प्रकार लिंग–पुरुष–संयोग से पूर्व एक अन्य संयोग को माने बिना बीसवीं कारिका की स्पष्ट व्याख्या संभव नहीं है। परमात्मा के सन्निधि–रूप संयोग से गुणक्षोभ प्राचीन सांख्य का प्रचलित मत होने से ही कारिका–कार ने इसका उल्लेख नहीं किया होगा। लेकिन बीसवीं कारिका में प्रयुक्त 'तत् संयोगाद्' में 'तत्' की उपस्थिति ऐसा मानने पर विवश करती है कि उस संयोग का उल्लेख कारिका–कार ने अवश्य किया है। जो हो, यह इस विवाद का स्थल नहीं है। यहाँ इतना ही वक्तव्य है कि प्रकृति और परम-पुरुष या परमात्मा के संयोग से लिंगोत्पत्ति होती है और अचेतन लिंग जीवात्म पुरुष के संयोग से चेतन–वत् हो जाता है।

बीसवीं कारिका में अचेतन लिंग तथा चेतन पुरुष के संयोग का परिणाम बताया गया। इक्कीसवीं कारिका में संयोग का प्रयोजन और स्वरूप बताया गया। तदनुसार प्रयोजन है प्रकृति तथा पुरुष के दर्शन (भोग) तथा कैवल्य। संयोग का स्वरूप है पंगु–अंध–संयोग के समान। प्रचलित भाष्यों के अनुसार इस कारिका में प्रकृति–पुरुष–संयोग का स्वरूप व प्रयोजन कहा गया है। ऐसा मानना हमारे विचार में युक्ति–संगत नहीं है। कारिका के अनुसार अव्यक्त प्रकृति एक अथवा एकरूप है और पुरुष (जीवात्मा) अनेक हैं। गुण–साम्यावस्था में प्रकृति एक होने से यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्षोभ उत्पन्न करने वाला अनेक पुरुषों में से एक है या सभी? यदि एक है तो वह एक पुरुष ही सृष्टि–कर्ता होगा अन्यथा असंख्य पुरुष सृष्टिकर्ता होंगे। यह तत्त्वाभ्यास से उत्पन्न संशय संशय–रहित ज्ञान के विपरीत है। अतः यदि कारिकाओं में पुरुष पद जीवात्मा–बोधक ही है तो इक्कीसवीं कारिका सर्वथा असंगत होगी। और यदि

इस कारिका में 'पुरुष' पद परमपुरुष या परमात्मा के लिए प्रयुक्त माना जाय तो जीवात्मा को तथा प्रकृति को भोग और अपवर्ग प्रदान करना परमात्मा की इच्छा, प्रयोजन या उद्देश्य के रूप में मानना होगा। परमात्मा सर्ववित्, चैतन्य स्वरूप, अकर्ता, साक्षी मात्र होने से उसमें प्रयोजन, उद्देश्य मानना श्रुति-संगत नहीं होगा। तब प्रयोजन प्रकृति में स्वीकार करना होगा। प्रकृति प्रयुक्त है, प्रयोक्ता नहीं। अतः प्रकृति 'का प्रयोजन' होते हुए भी प्रकृति 'में प्रयोजन' यह असंगत कल्पना होगी। साथ ही प्रयोजन (दर्शनार्थ, कैवल्यार्थ) की चर्चा होने से यहाँ पुरुष पद जीवात्म-बोधक ही है। और पिछली कारिका के अनुसार पुरुष-संयोग, अचेतन लिंग से कहा गया है। अतः इक्कीसवीं कारिकागत पंगु-अंध पुरुष-प्रकृति न हो, कर पुरुष और अचेतनलिंग (जीवात्मा) ही होना चाहिए। तभी दोनों कारिकाओं का अर्थ-दृष्टया पूर्वापर सम्बंध ग्राह्य होगा। तद्नुसार बीसवीं कारिका में लिंग-पुरुष संयोग का परिणाम तथा इक्कीसवीं कारिका में उनके संयोग का स्वरूप तथा प्रयोजन का उल्लेख माना जाना चाहिए। अन्यथा यह मानना होगा कि चेतनवत् परिणाम किसी अन्य संयोग का और प्रयोजन व स्वरूप अन्य संयोग का कहा गया है। इस तरह बीसवीं और इक्कीसवीं कारिकाएं एक दूसरी से सर्वथा असम्बद्ध सिद्ध होंगी।

पुरुष (जीवात्मा) स्वरूपतः भोक्ता है, गुण रहित होने से केवल है। भोक्तृत्व और कैवल्य एक ही साथ स्वीकार किया जाना चाहिए। क्योंकि पुरुष भोग तभी कर सकता है जब वह 'केवल' ही भोग्य से भिन्न अत्रिगुण स्वरूप में स्थित हो। अल्पज्ञ होने से बुद्धि या लिंग-संयुक्त होने पर वह अपने केवल स्वरूप को विस्मृत कर जाता है। इसीलिए वह कैवल्यार्थ प्रवृत्त होता है। तात्पर्य यह है कि भोक्तृत्व और कैवल्यार्थ प्रवृत्ति पुरुष का स्वभाव है। अतः ज्योंही लिंग-शरीर (अथवा लिंग) की उत्पत्ति होती है वह उसमें प्रवेश करता है। यह 'प्रवेश' ही लिंग-पुरुष संयोग है। प्रकृति भोग्या तो है परन्तु वह प्रकृति रूप में भोग्या बन कर पुरुष को भोग नहीं करा सकती। भोग-साधन तो बुद्धि करती है (सर्वप्रत्युपभोगं-साधयति बुद्धिः-कारिका (३७)। अतः ज्यों ही लिंग-शरीर अथवा बुद्धि में पुरुष का प्रवेश होता है त्यों ही प्रकृति के विकार भोगरूप में प्रस्तुत होने लगते हैं। यही नहीं, पुरुष को मोक्ष के लिये प्रकृति पुरुष के सूक्ष्म भेद को भी बुद्धि ही प्रस्तुत करती है। (अतः दर्शनार्थ कैवल्यार्थ संयोग भी बुद्धि अथवा बुद्धि प्रधान लिंग शरीर और पुरुष का मानना समीचीन है। पुरुष भोक्ता है लेकिन बिना बुद्धि या लिंग के भोग नहीं कर सकता। लिंग भोग साधक है, लेकिन बिना भोक्ता के भोग-साधन कैसा होगा? अतः पंगु पुरुष और अंध लिंग संयुक्त हो कर भोग-मोक्ष रूपी प्रयोजन को हि करते हैं। प्रयोजन होने और उसकी सिद्धि के हेतु कार्य होने का अर्थ यह नहीं है कि संयोग से पूर्व जीवात्म

पुरुष में भोग का उद्देश्य होता है या इच्छा होती है। उद्देश्य, इच्छा प्रयोजन आदि बौद्धिक हैं। चेतन और बुद्धि या लिंग संयोग से पूर्व इनका होना संभव नहीं। संयोग तो होता है भोक्तृ–स्वभाव के कारण। वास्तव में संयोग 'प्रयोजन–वश' नहीं होता, बल्कि प्रयोजन 'संयोगवश' होता है। संयोग की उपयोगिता, सार्थकता या महत्त्व भोगापवर्ग–सिद्धि में है। इसी से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि पुरुष का प्रयोजन हो जाना लिंग–पुरुष वियोग या पृथक्त्व का हेतु नहीं बनता। संभवतः इसीलिए कारिका–कार ने प्रयोजन न रहने पर संयोग भी नहीं रहता–ऐसा कह कर संयोग रहने पर भी प्रयोजन नहीं रहता–ऐसा कहा है (कारिका ६६)।

प्रकृति कर्तृत्व–

ईश्वर कृष्ण की सृष्टि–मीमांसा के प्रसंग में एक अन्य विचारणीय मान्यता है प्रकृति–कर्तृत्व और प्रयोजन की। कतिपय कारिकाओं के आधार पर यह माना जाता है कि पुरुष के भोगापवर्ग हेतु प्रकृति ही सृष्टि करती है। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता के साथ–साथ कर्तृत्व–स्वातंत्र्य भी माना जाता है। कुछ कारिकाओं में एतत्सम्बंधी कथित मान्यता का निराकरण हमने अपने लेखों में पहले ही कर दिया है। आरोपित मत को सांख्य मत मान कर आचार्य शंकर ने उसका खण्डन किया है। सत्तानवीं कारिका में कहा गया है कि जिस तरह वत्स–विवृद्धि हेतु अचेतन क्षीर की स्वतः प्रवृत्ति होती है, उसी तरह पुरुष–विमोक्षार्थ प्रकृति की भी प्रवृत्ति होती है। इसके खण्डन में शंकर कहते हैं कि 'क्षीरवत् दृष्टान्त में भी चेतनाधिष्ठित होकर ही क्षीर की प्रवृत्ति होती है। चेतन धेनु के स्नेहेच्छा के कारण ही क्षीर का प्रवर्तकत्व है। क्या शंकर यह समझते हैं कि कारिका–कार या सांख्यवादी इस सामान्य तथ्य से भी परिचित नहीं थे कि चेतन धेनु के कारण क्षीर प्रवृत्त होता है? वास्तव में इस कारिका में स्वतंत्र अथवा चेतनाधिष्ठितता का प्रसंग ही नहीं है। यहां तो केवल यह कहा जा रहा है कि भोग्य रूप में प्रकृति की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। अचेतन क्षीर है। प्रवृत्ति क्षीर की ही होती है, धेनु अथवा धेनु की चेतना की नहीं। तृषादि भक्षण का उद्देश्य क्षीर निर्माण नहीं वरन् क्षुधा–तृप्ति है। क्षीर बनना चाहिए ऐसी चेतन धेनु की इच्छा नहीं होती। 'क्षीर को पोषक होना चाहिए', ऐसा निर्देश धेनु के द्वारा नहीं दिया जाता। क्षीर बनता है और उसमें स्वभावतः पोषकता होती है। बछड़ा निकट आने पर क्षीर की ही प्रवृत्ति होती है। इसी तरह मुझे पुरुषार्थ हेतु प्रवृत्त होना चाहिए ऐसा सोच कर प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती। पुरुष–सन्निधिमात्र से वह सर्गोन्मुख हो जाती है। प्रकृति के विकारों का स्वरूप ही ऐसा है कि वह पुरुषार्थ–हेतुक हो जाते हैं। इस स्वाभाविकता का

ही यहां उल्लेख है। 'क्षीर का बछड़े के लिए' प्रवृत्त होना परार्थ है और इस कारिका में प्रकृति की स्वाभाविक परार्थता का उल्लेख किया गया है। अगली कारिका में इच्छा-पूर्ति के लिए प्रवृत्ति कह कर प्रकृति के 'स्वार्थ' का उल्लेख किया गया। स्वार्थ और परार्थ-रूपी भोगापवर्ग हेतु प्रकृति की प्रवृत्ति प्रकृति का उद्देश्य नहीं है। क्योंकि अचेतन में उद्देश्य की कल्पना नहीं की जा सकती। भोगापवर्ग प्रकृति का प्रयोजन है, प्रकृति में प्रयोजन नहीं। किसी प्रयोजन के कारण प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती। अपितु होनेवाले सर्ग का प्रयोजन पुरुष के भोगापवर्ग के लिए है। वास्तव में ५० वीं और ५८ वीं कारिकाएँ ५६ वीं कारिका में जिस स्वार्थ और परार्थ का उल्लेख किया गया है उसका स्पष्टीकरण मात्र हैं। ऐसा इस प्रकार की अन्य कारिकाओं का भी समझना चाहिए। प्रकृति स्वतंत्र है अपनी सत्ता में। प्रकृति के अस्तित्व में कोई अन्य कारण नहीं है। लेकिन प्रकृति के सर्गोन्मुख होने में वह पुरुष सन्निधि की अपेक्षा रखती है यह सांख्य का सर्वमान्य सुरक्षित मत है। अतः स्वतंत्र प्रधान-कारणवाद सांख्य पर आरोपित मत ही माना जायेगा।

प्रकृति-त्रिगुण का प्रथम परिणाम महत् या बुद्धि है। यह व्यक्त तत्त्वों में सबसे सूक्ष्म तत्त्व है। बुद्धि अध्यवसायात्म कही गई है। उसके सत्वादिदृष्टचा आठ रूप कहे गए हैं। सत्व रूप हैं धर्म, ज्ञान, वैराग्य ऐश्वर्य तथा तमोरूप हैं अधर्म, अज्ञान, राग और अनैश्वर्य। प्रश्न उठता है राजोगुणी बुद्धि या बुद्धि के राजस् रूप क्या हैं? इस विषय में कारिका-कार मौन हैं। लेकिन गुणों के व्यापार के विषय में कारिका-कार ने जो कहा उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रजोगुण जिस गुण का आश्रय होता है या जिससे अभिभूत होता है उसी के रूप वाला हो कर प्रवर्तन करता है। प्रवृत्ति रजोगुण का प्रयोजन है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि राजस्-बुद्धि सात्त्विक और तामसी दोनों ही चांचल्य में गतिशीलता में प्रयुक्त होती है। बुद्धि के इन आठ रूपों से पुरुष को जो प्राप्त होता है उसके बारे में कहा है कि धर्म से ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति अर्थात् उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त होता है। और अधर्म से अधोगति प्राप्त होती है। ज्ञान से अपवर्ग और अज्ञान से बन्ध प्राप्त होता है। (अज्ञान से बन्ध प्राप्त होता है यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि बन्ध का अर्थ बन्धन-प्रकृति संयुक्ति है तो यह असंभव है। अज्ञान बुद्धि का एक रूप है। बुद्धि से पुरुष संयुक्त होने से पूर्व 'पुरुष' से अज्ञान का संयोग नहीं हो सकता। फिर अपवर्ग 'ज्ञान' से प्राप्त होता है। अतः यह भी बुद्धि-संयुक्ति में ही संभव है। अतः बन्ध और अपवर्ग क्रमशः पुरुष के प्रकृति से योग और वियोग के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।)

महत् या बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार अभिमान स्वरूप होता है। मैं हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, सुखी हूँ आदि रूपों में पुरुष का अनुभव अहंकार के कारण ही होता है। अहंकार अचेतन त्रिगुणात्मक तत्त्व का परिणाम होने से अचेतन कहा जा सकता है। लेकिन 'अभिमान' लक्षण अहंकार तो चेतनाधिष्ठित ही हो सकता है। हमारे विचार में यदि जीवात्म पुरुष का प्रकृति-संयोग बुद्धि-संयोग रूप माना जाय तो यह स्वीकार किया जा सकता है कि बुद्धि या लिंग ये चेतन जीवात्मा के संयोग का परिणाम अहंकार है।

अहंकार से द्विविध सर्ग की उत्पत्ति कही गई है-तन्मात्र-सर्ग और इंद्रिय-सर्ग। अहंकार के तमस् रूप से तन्मात्रों की तथा सात्त्विक रूप से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी गई है (कारिका २४)। इन द्विविध सर्गों में तन्मात्र-सर्ग पहले उत्पन्न होता है। कारिका-कार ने यद्यपि ऐसा कोई क्रम नहीं बताया है तथापि सर्ग-प्रक्रिया सूक्ष्म से स्थूल की मान्यता के द्वारा समझाने की परम्परा के आधार पर क्रम-निर्धारण किया जा सकता है।

शरीर-त्रय की मान्यता

प्रचलित मतानुसार सांख्य कारिकाओं में सूक्ष्म शरीर और स्थूल, शरीर ऐसे दो ही शरीर माने गए हैं। लिंगम्-लिंग शरीर और सूक्ष्म शरीर एक ही है। सूक्ष्म शरीर महद्, अहंकार, पंच तन्मात्र, पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा पंच कर्मेन्द्रिय-कुल सत्रह तत्त्वों का माना जाता है। हमारे विचार से कारिकाओं में तीन शरीरों का उल्लेख है। यह उल्लेख ३९ वीं से ४१ वीं कारिकाओं में स्पष्टतः देखा जा सकता है। ३९ वीं कारिका में कहा गया है-

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥

यहाँ तीन प्रकार के विशेषों का उल्लेख किया गया है। सूक्ष्मशरीर, माता-पिता से उत्पन्न शरीर और महाभूत। उनमें से सूक्ष्म शरीर नियत होता है; मातापितृज की निवृत्ति होती है। पुरुष के लिए भोगशरीर सूक्ष्म शरीर ही होता है। भोग के लिए कर्म, ज्ञानेन्द्रियाँ और मन आवश्यक हैं। पुरुष के भोग और तज्जन्य विभिन्न संस्कारों का आश्रय सूक्ष्म शरीर ही है। आवश्यकतानुसार भोग हेतु यह सूक्ष्म शरीर विभिन्न स्थूल शरीरों (मातापितृज) को ग्रहण और त्याग करता है। इसीलिए 'सूक्ष्मास्तेषां नियता' कहा गया है। यहां स्मरण रखना चाहिए कि सूक्ष्म शरीर को कारिकाकार 'विशेष' कह रहे हैं। सूक्ष्म-स्थूल शरीरों का उल्लेख करके अगली कारिका में लिंग-शरीर का उल्लेख किया गया। चालीसवीं कारिका में कहा है कि सूक्ष्म स्थूल महाभूत आदि से पहले उत्पन्न महदहंकार तन्मात्र पर्यन्त लिंग शरीर धर्मादि भाव संयुक्त भोग रहित संसरण

करता है। यहां 'लिंगम्' यदि सूक्ष्म शरीर है, जो कि एकादशेन्द्रिय युक्त है—तो यह निरुपभोग कैसे कहा जा सकता है? पुरुष में भोगेच्छा उत्पन्न होती है बुद्धियुक्त लिंग शरीर से संयुक्त होने पर ही। भोगेच्छा होना ही भोग-शरीर-प्राप्ति का कारण है। (संभवतः इसीलिए भोग-शरीर की प्राप्ति का कारणभूत होने से लिंग शरीर ही कारण-शरीर भी कहा जाता है।)[९] भोग-शरीर का भोगरहित संसरण कैसे स्वीकार्य होगा? फिर सूक्ष्म-शरीर तो 'विशेष' कहा गया है। यदि लिंग-शरीर ही सूक्ष्म-शरीर है तो उसे 'बिना विशेषों के लिंग शरीर नहीं रहता' – ऐसा कहने का क्या औचित्य है?

लिंग शरीर को मानने का एक अन्य स्पष्ट संकेत चौबीसवीं कारिका में भी देखा जा सकता है। वहां कहा है कि अहंकार से द्विविध सर्ग होते हैं। एकादशेन्द्रिय का एक समूह (गण) और पंचतन्मात्रों का एक समूह द्विविधसर्ग कह कर ही अविशेष और विशेषों को पृथक् कर दिया गया। बुद्धि और अहंकार तो अविशेष हैं ही। तन्मात्र भी अविशेष कहे गए हैं (कारिका ३८)। इन सात तत्त्वों को प्रकृति भी कहने की परम्परा है। मूल प्रकृति सहित ये ही अष्ट प्रकृतियां है। ये सभी चूंकि कारणरूप हैं अतः इनके संघात को कारण-शरीर भी कहा जा सकता है। इनके संघात के बिना आगे सृष्टि भी संभव नहीं है।[१०] ऐसा तत्त्व गणना में इन सात तत्त्वों का शेष सोलह तत्त्वों से अलग उल्लेख देवी भागवत में भी मिलता है।[११] शांति पर्व में कहा गया है कि 'उन योगियों का नित्य स्वरूप जीव सदा-सदा सात सूक्ष्मगुणों से युक्त होकर अजर-अमर देवताओं की भांति नित्यप्रति विचरता रहता है।[१२]

हमारा स्पष्ट अभिमत यह है कि न केवल कारिकाओं में अपितु प्राचीन परम्परा में भी सात तत्त्वों को पृथक् संघात की मान्यता है। इसे ही कारिका में लिंग-शरीर भी कहा गया है।

ईश्वरकृष्ण की सृष्टि मीमांसा से सम्बन्धित शेष मान्यताओं से हमारा उल्लेखनीय मतभेद न होने से इस प्रसंग को यहीं समाप्त करते हैं। जो कुछ छूट गया है, या अस्पष्ट है वह विद्वान् पाठकों की संभावित अलोचनाओं के प्रत्युत्तर में स्पष्ट किया जायगा। चूंकि यह लेख ईश्वरकृष्ण की परमात्मवादी व्याख्या से सबन्धित लेख-श्रृंखला का अंतिम लेख है अतः यहां संक्षेप में ईश्वरकृष्ण के दर्शन को जैसा हमने समझा है – प्रस्तुत करना हम आवश्यक समझते हैं।

तदनुसार—

१. तीन तत्त्व अज-अविनाशी हैं, प्रकृति, परमात्मा और जीवात्मा।
२. परमात्मा— अहेतुमत्, नित्य, निष्क्रिय, एक, स्वाश्रित, अलिंग, निरवयव, स्वतंत्र है। वह साक्षी, द्रष्टा, केवल, मध्यस्थ, अकर्ता है।

३. अव्यक्त प्रकृति – अहेतुमत्, नित्य, एक, निष्क्रिय आदि है। त्रिगुणात्मिका, प्रसवधर्मि, सामान्य, अचेतन, विषय, अविवेकि है।

४. जीवात्मा – हेतुमत्, नित्य, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिंग, सावयव, परतंत्र आदि है। इसलिए वह जन्म, मृत्यु आदि को प्राप्त होता है। वह स्वरूपतः भोक्ता है।

५. परमात्मा से अधिष्ठित होकर प्रकृति सर्गोन्मुख होती है। प्रकृतिविकृति रूप सात तत्त्वों का लिंग-शरीर निर्माण होता है तब जीवात्मापुरुष उसमें प्रविष्ट होता है। लिंग-शरीर बिना सूक्ष्म-शरीर के भोग सम्पादन नहीं करता। एकादशेन्द्रिय सहित लिंगशरीर भोग शरीर बनता है। भोग-शरीर सूक्ष्मशरीर ही है। भोग के लिए विषयों की प्राप्ति-हेतु स्थूल शरीर की आवश्यकता होती है।

६ भोग और अपवर्ग या कैवल्यप्राप्ति – पुरुषार्थ है। ये परस्पर विरोधी नहीं है। आत्मविस्मृति या प्रकृति-पुरुष-भेद-विस्मृति दुःख कारण है। विवेक युक्त भोग ही अपवर्ग है। भोग-रहितता पुरुष के लिए संभव नहीं है, क्योंकि वह स्वरूपतः भोक्ता है।

७. ज्ञान से अपवर्ग और अज्ञान से दुःखत्रय प्राप्त होते हैं।

८. बन्धन और मुक्ति पुरुषार्थ नहीं हैं क्योंकि ये पुरुषाधीन नहीं हैं। शरीर उपस्थित होने पर स्वभावतः पुरुष उससे संयुक्त होता है। शरीर अपने कारण में लीन हो जोने पर मुक्ति होती है। बन्धन और मुक्ति पुरुष की प्रकृति से संयोग और वियोग है। पुरुष संसार में, भोग से मुक्ति या निवृत्ति नहीं चाहता। वह केवल दुखों से निवृत्ति चाहता है। इसलिए सांख्यदर्शन का उद्देश्य दुःखत्रय से निवृत्ति ही है।

९ प्रकृति-पुरुष-विवेक से पुरुष कैवल्य तो प्राप्त करता है लेकिन यह एकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य नहीं होता। एकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य प्रलय काल में ही – जब शरीर अपने कारण में लीन हो जाता है – प्राप्त होता है।

१०. सृष्टि-प्रलय का विरूप-सरूप परिणाम प्रकृति में तब तक घटित होता है जब तक समस्त पुरूषों का भोगापर्ग सम्पन्न न हो। अतः यदि जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त होना है, तो सभी पुरूषों को मुक्ति के हेतु प्रयास करना होगा।

संसार अनर्थकारी है, मात्र दुखमय है, मिथ्या है – ऐसा मानना और संसार से मुक्त होने की इच्छा करना पुरुष के स्वरूप से मेल नहीं खाता। इसलिए ऐसा प्रयास मनुष्य को ' त्रिशंकु " बना देता है। ऐसे ही दर्शन के कारण भारतीय समाज की प्रगति अवरुद्ध रही है। जीवन सत्य है। जीवन का पक्ष परमात्मा की प्रेरणा से ओतप्रोत है। इसलिए संसार को, जीवन को, सत् रूप में

ग्रहण कर कर्म करने की कुशलता प्राप्त कर, स्थित–प्रज्ञ होकर भोग करना ही साध्य है। अविद्या या प्रकृति सम्बंधी ज्ञान, विद्या या आत्मज्ञान – दोनों ही अनिवार्य है। एक मृत्यु के स्वरूप को समझकर उसके भय से मुक्त कराता है, तो दूसरा अमरत्व को प्राप्त कराता है।

संक्षेप में यह है जीवन दर्शन, जिसे हमने कारिकाओं में देखा है। इसी दृष्टि से कारिकाओं की व्याख्या का हमने प्रयास किया है। इस कार्य में महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश से प्रेरणा, श्रद्धेय उदयवीर शास्त्री के पत्रों से, ग्रन्थों से सहयोग मिला जिसके लिए मैं उनका आभारी हूं। **परामर्श** (हिन्दी) पत्रिका ने मझे पाठकों से जोड़ा इसके लिए मैं उसका चिरऋणी हूं।

तुलनात्मक धर्म एवं
दर्शन विभाग
रवि शंकर विश्वविद्यालय
रायपुर – ४९२०१० (म. प्र.)

बी. कामेश्वर राव

टिप्पणियाँ

१. **परामर्श** (हिन्दी), १९८८.
२. **परामर्श** (हिन्दी), दिसम्बर, १९८८, पृष्ठ १००
३. **वही**, पृष्ठ ९७
४. ६१ वीं कारिका पर **माठरवृत्ति**.
५. वीं कारिका पर **गौडपाद भाष्य**.
६. **शारीरक भाष्य**. – २/२/३
७. तुलनीय: स्वभावयुक्तं तत् सर्वं यदिमान् सृजते गुणान्। **शांति पर्व** २४९/२
८. विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य ३१ वीं कारिका पर **ज्योतिष्मती व्याख्या**।
९. कारिका – ४१
१०. **महाभारत**, शांति पर्व २३२/१०
११. **देवीभागवत** १५/४/४३. सप्तैक षोडषादिभ्यो।
१२. **शान्तिपर्व**, २५३/७

अन्तः– अनुशासनीय आलोचना की प्रस्तावना

आलोचना एक ऐसा अनुशासन है जिसमें आस्वादन विश्लेषण, संश्लेषण, और मूल्यांकन की चारों प्रक्रियाएँ समानान्तर रूप से चलती हैं अथवा आलोचना–कर्म में इन प्रक्रियाओं का सापेक्ष सम्बन्ध है। आस्वादन एक जटिल मानसिक क्रिया है, और कृति के आस्वादन में संवेदना और ज्ञानात्मक प्रक्रिया का जितना अधिक विस्तार होगा, आलोचना का क्षेत्र उतना ही व्यापक और बहुआयामी होगा। आलोचना के लिए आस्वादन पहली शर्त है और इस आस्वादन को जितने प्रभावशाली एवं तार्किक रूप से रखा जाएगा, वह उस कृति या प्रवृत्ति 'बहुआयामी' अर्थों और संदर्भों को उजागर करने में समर्थ होगा।

आलोचना के उपर्युक्त जैविक रूप को ध्यान में रख कर मैं इस लेख में अन्तः – अनुशासनीय आलोचना के स्वरूप, क्षेत्र तथा सीमा पर इसलिए विचार करना चाहूंगा कि पिछले पन्द्रह–बीस वर्षों से मैं इस आलोचना के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर कार्य करता रहा हूं और अब इस स्थिति में हूं कि इस आलोचना के बारे में एक व्यवस्थित विचार–क्रम को प्रस्तुत कर सकूं। इस प्रस्तुतीकरण में मात्र समस्याओं और समाधानों के तहत कुछ प्रश्नों और सरोकारों को नए ढंग से उठाया गया है और उनसे गुजर कर अन्तः–अनुशासनीय आलोचना की पहल की गयी है। यहां पर मैं यह भी स्पष्ट कर दूं कि साहित्य के क्षेत्र में अनेक विद्वानों का ध्यान इस आलोचना की ओर गया है, और वे इसके महत्त्व को न्यूनाधिक रूप से स्वीकार करने की स्थिति में आ रहे हैं। ऐसे समय में मैं आज की आलोचना के व्यापक परिप्रेक्ष्य में अतः–अनुशासनीय आलोचना की आवश्यकता को सामने रखने का प्रयत्न करूंगा। इसमें न कोई पूर्वाग्रह या दुराग्रह है, क्योंकि मेरी यह मान्यता है कि अंतः–अनुशासनीय दृष्टि पूर्वाग्रहों एवं दुराग्रहों को लेकर चल ही नहीं सकती है क्योंकि यह दृष्टि चीजों और

परामर्श, (हिन्दी), वर्ष ११, अंक २, मार्च १९९०

वस्तुओं के सही 'लोकेशन' पर बल देती है और किसी भी विचार, सिद्धान्त और संवेदना को पूर्वाग्रह के आधार पर नकारती नहीं है। यह उन्हीं चीजों को नकारती है जो हमारे विचार-संवेदन की द्वन्द्वात्मक गति में बाधास्वरूप उपस्थित होकर सृजनशीलता को कुंठित कर देते हैं।

अंतः-अनुशासनीय दृष्टि या एप्रोच से सम्बन्धित आलोचना के स्वरूप एवं क्षेत्र पर विचार करने के बाद मैं आज की आलोचना के विविध आयामों और प्रकारों को इस दृष्टि से विवेचित करना चाहूंगा जो उनकी सीमाओं और सभावनाओं को रेखांकित कर सके और अंततः अंतः-अनुशासनीय समीक्षा की प्रासंगिकता और आवश्यकता को, उन्हीं की सापेक्षता में प्रस्तुत कर सके। इससे पूर्व अंतः-अनुशासनीय आलोचना क्या है, उसका स्वरूप तथा क्षेत्र क्या है और आज के संदर्भ में उनकी अर्थवत्ता और प्रासंगिकता क्यों है? इन सबका विवेचन एक समग्र दृष्टि की अपेक्षा रखता है जिसको प्रस्तुत करने का प्रयत्न मैं इस लेख में करूंगा।

साहित्य-सृजन के नए आयामों के साथ आलोचना लगातार विकसित होती है और नए प्रतिमानों का आवश्यकतानुसार सृजन करती है। इस दृष्टि से आलोचना और सृजन का एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध होता है। अन्य ज्ञानानुशासनों की तरह साहित्य एक विशेष प्रकार का अनुशासन है जिसमें संवेदना, राग और विचार का ऐसा घोल होता है जो रचनाकार के संवेदना-तन्त्र को व्यापकता और विस्तार देता है। यह संवेदना दिक्काल के चतुर्विमीय आयाम को उसी सीमा तक ग्रहण कर सकेगी, जहाँ तक उसका संवेदना-तंत्र उसे आत्मसात् करने में सफल होगा। अन्तः संवेदना की बनावट एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें एक ओर मानसिक क्रियाओं का योग रहता है तो दूसरी ओर ज्ञानात्मक क्रियाओं का। इस प्रकार, संवेदन और ज्ञान का रिश्ता विलोम का न होकर सापेक्ष सम्बन्ध का है। अन्तः-अनुशासनीय दृष्टि से, ज्ञान और संवेदना का समीकरण आवश्यक है जिसमें विचारों की गत्यात्मकता का एक अपना विशिष्ट स्थान है। यहां पर मैं संवेदना और राग-तत्त्व की संरचना में इस विचार-तत्त्व को आज के संदर्भ में अधिक आवश्यक मानता हूं। इसका कारण यह है कि भिन्न ज्ञानानुशासनों ने अपने प्रत्ययों और प्रस्थापनाओं के द्वारा इस विचार की गत्यात्मकता को समक्ष रखा है। अंतः-अनुशासनीय दृष्टि पर आधारित समीक्षा संवेदना की बनावट में इस गत्यात्मक विचार को रेखांकित करती है। यदि गहराई से देखा जाय तो सृजन-कर्म में यह विचार और संवेदना की गतिशीलता जितनी गहरी, व्यापक और विस्तारवादी होगी, वह सृजन (साहित्य कला) उतना ही अनेक आयामी होगा। यहां पर मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यदि सृजन या कृति एक या दो आयामी है, और वह यथार्थ और सत्य के किसी एक या दो पक्षों को गहराई से

संवेदना–विचार के धरातल पर रूपांतरित करती है तो उसका महत्त्व रहेगा, बावजूद इसके कि वह अनेक आयामी नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तः–अनुशासनीय समीक्षा एकांगी न होकर अनेक आयामी है चाहे ये आयाम या सरोकार कम या अधिक हों। यदि वे अधिक हैं तो निश्चित ही वह कृति या रचनाकार अधिक सरोकारों और अर्थ–संदर्भों को प्रकट करने में सक्षम होगा। इसी सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट कर दूं कि भिन्न अनुशासनों के प्रत्ययों (सिद्धान्तों, वादों आदि) और अवधारणाओं का अन्तः–अनुशासनीय रूप यांत्रिक नहीं है, उन प्रत्ययों आदि का संवेदनात्मक रूपान्तरण ही सृजन में मान्य होगा जो सर्जनात्मकता को भिन्न आयामी बना सके। प्रत्येक अनुशासन (साहित्य भी) की यह प्रकृति होती है कि वह अपनी आंतरिक संरचना में बहिर्गामी या दूसरे अनुशासनों की ओर गतिशील होता है। क्या प्रत्येक अनुशासन की यह प्रकृति अंतः–अनुशासनीय दृष्टि की मांग नहीं करती है? जहां तक साहित्य और कला का सम्बन्ध है, वह भी निरपेक्ष सत्ताएं नहीं हैं, वे भी अन्य अनुशासनों के संवाद द्वारा अपनी अस्मिता को बनाए रखती हैं। अंतः-अनुशासनीय समीक्षा भिन्न अनुशासनों की सापेक्षता पर विश्वास करते हुए भी प्रत्येक मानवीय अनुशासन की अपनी स्वायत्तता को बनाए रखने की एक 'जैविक दृष्टि' है। अतः यह आलोचना, एक व्यापक अर्थ में सापेक्ष स्वायत्ता की आलोचना है जो विचारों और संवेदनाओं के गत्यात्मक रूप को पकड़ने का प्रयत्न है। इस दृष्टि से प्रत्येक अनुशासन या जन–क्षेत्र मानव और प्रकृति से सम्बन्धित होने के कारण 'सत्य' के सापेक्ष रूप का ही अन्वेषी है और इस यथार्थ और सत्यान्वेषण के धरातल पर हरेक ज्ञानानुशासन मानव और प्रकृति सापेक्ष है। इस दृष्टि से साहित्य की अपनी स्वायत्तता पर उसी समय आघात हो सकता है जब आलोचक आरोपों और पूर्वाग्रहों से पीडित हो और ज्ञान–मीमांसा के सामाजिक वैयक्तिक और प्राकृतिक एवं ब्रह्माण्डीय सरोकारों से परिचित न हो। सृजन ओर आलोचना दोनों में जब तक इस ज्ञान–मीमांसा से उद्भूत वैचारिक गत्यात्मकता और दूसरी ओर संवेदना का नीरक्षीर एकीभूत संस्कार नहीं होगा, तब तक न रचना और न आलोचना आज के वैचारिक विस्फोट को संवेदना के धरातल पर पकड़ने में समर्थ रहेगी। मानवीय चेतना के द्वन्द्वात्मक विकास में विचारों और संवेदनाओं की एक अहम् भूमिका होती है क्योंकि विचारों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव चेतना की बनावट पर पड़ता है। प्रत्येक अनुशासन उसी चेतना को गति देता है और इस धरातल पर आलोचक की अंतः–अनुशासनीय दृष्टि उसकी जैविक चेतना की गति को समीक्षा में रूपांतरित करती है। यहां पर मैं इस सत्य की ओर संकेत करना चाहता हूं कि मात्र अनुभव या संवेदना आलोचना–कर्म को गति नहीं दे सकती है। उसे ज्ञानात्मक एवं विचारात्मक प्रक्रिया से गहराना अत्यन्त आवश्यक है।

आस्वादन को इस ज्ञानात्मक प्रक्रिया से पुष्ट करना मेरे विचार से, आज की आलोचना का एक प्रमुख तत्व है। इसी से यह भी निगमित होता है कि आलोचक (विचारक भी) को अध्ययनशील होना उतना ही जरूरी है जितना संवेदनशील होना। यही बात रचनाकार के लिए भी सत्य है, पर एक आलोचक के लिए यह अनिवार्य है।

यह आस्वादन और ज्ञानात्मक (विचार) प्रक्रिया का जैविक रूप जहाँ एक ओर वैचारिक गतिशीलता को व्यक्त करता है वहीं यह सत्य भी प्रकट करता है कि यथार्थ और सत्य को देखने की अनेक दृष्टियां हैं, फिर भी उनमें एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध होते हुए भी कुछ ऐसे तत्व व उपादान होते हैं जो एक दूसरे को 'संवाद' की स्थिति में लाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी तत्व या उपादान होते हैं जो असमान या विरोधी होते हैं। अंत:–अनुशासनीय समीक्षा में इन असमान तत्वों को भी लोकेट करना आवश्यक है, नकारात्मक या सकारात्मक रूप में। ये तत्व भी एक आलोचक को लगातार सोचने को विवश करते हैं। हो सकता है किसी विशिष्ट स्थिति में उस उपादान का महत्त्व या उसकी प्रासंगिकता हो जो नयी संवेदना और सर्जना के प्रकाश में रूपांतरित होने की दशा में हो, उसे हम किसी पूर्वाग्रह के कारण स्वीकार न कर रहे हों। उदाहरणस्वरूप, 'रूपवाद' और रोमांटिक बोध को पूर्णरूपेण नकारना किसी भी काल की सर्जना और आलोचना के लिए सम्भव नहीं है क्योंकि रूप और रोमांटिक बोध भी कथ्य संवेदना को सापेक्षता में, परिवर्तित होते हैं, वे कोई स्थिर प्रत्यय नहीं हैं। रीतिकाल के रूप और छायावाद के रूप में अन्तर है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नयी कविता और समकालीन कविता के रूप में अन्तर है। यह परिवर्तन युग-बोध की सापेक्षता में होता है। अत: 'रूप' का मात्र एक प्रतिमान नहीं हो सकता है। क्योंकि कथ्य के बदलाव के साथ 'रूप' का बदलाव भी आता है। उसी प्रकार प्रेम, प्रकृति, राग-संवेदन, ब्रह्माण्डीय बोध, रहस्य भाव और सामाजिक संरचना के प्रति भी दृष्टि का बदलाव सदा घटित होता है और यह बदलाव-विज्ञान के नए अर्थ संदर्भों और उनके व्दारा चेतना पर पड़ने वाले प्रभावों के कारण भी घटित होता है जो संवेदना तंत्र को नए क्षितिजों की ओर ले जाता है। अंत:–अनुशासनीय समीक्षा संवेदना की इस गत्यात्मक संरचना को पकड़ने का प्रयत्न है, अत: वह एक जैविक दृष्टि है जिसमें भिन्न सरोकारों का उचित लोकेशन जरूरी है। अस्तु। अंत:–अनुशासनीय समीक्षा विचार–संवेदन की भिन्न आयामी गतिशीलता को पकड़ने की दृष्टि है। किसी भी कृति या रचनाकार का मूल्यांकन एकपक्षीय भी हो सकता है और अनेक पक्षीय – यह आलोचक की व्यापक दृष्टि पर आधारित है। और यह तभी सम्भव है जब रचनाकार की रचना-दृष्टि भी व्यापक एवं बहुआयामी हो। रचनाकार की कृति

या रचना अपने परिवेश से जन्म लेती है और उसे व्यापक अर्थ संदर्भों से जोड़ती है – यह जुड़ाव जहां एक ओर वैचारिक गतिशीलता को पकड़ने का प्रयत्न करता है, वहीं वह यथार्थ के व्यक्तिगत और सामूहिक रूपों को रचनात्मक संदर्भ देता है। मैं इस प्रक्रिया को कृति की राह से गुजर कर 'लोकेट' करने के पक्ष में हूँ। वाद या विचारधारा हमारी दृष्टि – विकास के प्रेरक होने चाहिए, न कि बाधक। यहाँ पर वाद, सिद्धान्त या विचारधारा का नकार नहीं है, वरन् उनका सही निर्धारण है जिससे कृति या रचनाकार की सर्जनात्मकता को, उसके भिन्न अर्थ संदर्भों को, आवश्यकतानुसार संकेतित किया जा सके। आज की आलोचना में अक्सर यह देखा जाता है कि अनेक आलोचक वाद या 'सिद्धान्त' का नाम सुनते ही कुछ नकारात्मक रूख अख्तियार कर लेते है या बिचकने लगते है। अंतः-अनुशासनीय आलोचना में प्रत्येक वाद और सिद्धान्त की अपनी एक विशिष्ट भूमिका है क्योंकि मेरा यह मानना है कि इन वादों और सिद्धान्तों के सकारात्मक तत्त्व जो सृजन के लिए प्रासंगिक हों, उनकी छानबीन आवश्यक है, और उनमें जो नकारात्मक तत्त्व हैं, उनकी पहचान भी आवश्यक है। उदाहरण के तौर पर आज मार्क्सवाद की विश्वदृष्टि में द्वन्द्वात्मकता और जनवादी दृष्टि का जो स्वर मुखर है, वह आज के संघर्षशील व्यक्ति और समाज के लिए एक दर्शन है जो कर्म को गति एवं अर्थ देता है। इसी प्रकार सापेक्षवाद एक दार्शनिक वैज्ञानिक प्रत्यय होते हुए भी व्यक्ति, समाज और विश्व के सम्बन्धों, दिक् और काल के सापेक्ष स्वायत्त रूप को, समझने की एक दृष्टि है जो सृजन और आलोचन को व्यापक संदर्भों से जोड़ सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अंतः-अनुशासनीय आलोचना में वाद, सिद्धान्त और प्रत्यय का पूर्णतया नकार नहीं है, वरन् उनका सही लोकेशन आवश्यक है।

इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में विभिन्न आलोचना प्रकारों का विवेचन आवश्यक है जो आज की आलोचना के भिन्न आयाम हैं और जो किसी न किसी सिद्धान्त या विचार–दर्शन पर आधारित हैं, और क्योंकि इन आलोचना प्रकारों के पीछे कोई न कोई सिद्धान्त या विचार–दर्शन है, अतः, अन्तः– अनुशासनीय आलोचना की वैचारिक गतिशीलता में इनका न्यूनाधिक स्थान है और रहेगा। अक्सर यह देखने में आता है कि किसी रचनाकार या कृति के विवेचन में अनेक विचारों और आलोचना–प्रकारों के उन तत्त्वों का सहारा लेना पड़ता है जो उस कृति या रचनाकार की बहुआयामी रचनाशीलता को संकेतित कर सके। यह तभी सम्भव है जब आलोचक पूर्वाग्रह रहित होकर अपनी 'आलोचना–दृष्टि' को व्यापक और अर्थगर्भित बना सके।

आज की आलोचना में भिन्न सरोकारों का एक ऐसा रूप प्राप्त होता है, जिसके कारण अक्सर ऐसा लगता है कि आज की आलोचना में भटकाव है, दिशाहीनता है और किसी विशेष विचारधारा का प्रभाव। इसे मैं भटकाव नहीं मानता हूं, पर किसी आलोचना प्रकार के अन्तर्गत एक ऐसी तलाश मानता हूं जो अपने तरीके से कृति के (रचनाकार आदि) मूल्यांकन की एक विशेष पद्धति है। यह पद्धति सीमित सरोकारों की या व्यापक सरोकरों की हो सकती है। होता यह है कि एक आलोचना प्रकार (मार्क्सवाद, शैलीतात्त्विक आदि) के तहत हम उस कृति को बांधने का प्रयत्न करते हैं जिससे हो सकता है कि कृति या रचनाकार के अन्य अर्थ-संदर्भ पृष्ठभूमि में चले जाएं या नकार दिए जाएं। जहां तक सरोकारों (आलोचना-प्रकारों) का प्रश्न है, उनका सम्बन्ध किसी न किसी ज्ञान-क्षेत्र से है। अत: अनत:-अनुशासनीय आलोचना में आवश्यकतानुसार उनका उपयोग उसी सीमा तक किया जा सकता है जो कृति या रचनाकार के सृजन-आयामों को विश्लेषित एवं मूल्यांकित कर सके। उदाहरणस्वरूप, समाजशास्त्रीय और मार्क्सवादी आलोचना का सम्बन्ध क्रमश: समाजशास्त्र के सिद्धान्तों और मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित है, पर ये दोनों आलोचना प्रकार एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि किसी न किसी बिन्दु पर समाजशास्त्री मार्क्सवाद की ओर जाता है और मार्क्सवाद समाजशास्त्र की ओर और दोनों मानव के नृतत्त्व शास्त्रीय, विकासात्मक ऐतिहासिक क्रम में राजतंत्र, सामतवाद और जनवाद के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को रेखांकित करते हैं। अत: किसी भी कृति या रचनाकार के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए इनका उपयोग अवश्यंभावी है। इसी प्रकार, शैली-तात्त्विक संरचनावादी, बिम्बवादी, प्रतीकवादी आलोचनाओं का सम्बन्ध भाषा-विज्ञान और भाषा-दर्शन से है और मेरे विचार से ये सभी आलोचनाएं भाषा-दर्शन के विविध रूपों को ही प्रक्षेपित करती हैं। भाषा की बाह्य और आंतरिक संरचना का अन्योन्य पूरक सम्बन्ध है और काफी सीमा तक भाषिक संरचना का पूरा महल सामाजिक संरचना के अनुकूल निर्मित होता है। यहीं से रचनाकार भाषा के रूपों को उठाता है जो यथार्थ-सापेक्ष होते हैं। शैली-तात्त्विक आलोचना का जो रूप विकसित हुआ है, वह अधिकतर यांत्रिक है, इस यांत्रिकता में बाह्य संरचना प्रमुख है जिससे हुआ यह है कि आंतरिक संरचना (कथ्य, कथानक, पात्र आदि) पर कम बल दिया गया है। विद्यानिवास मिश्र, पांडेय शशिभूषण 'शीतांषु' और राघव प्रकाश ने इस यांत्रिकता के खतरे को पहचान कर कृति की आंतरिक संरचना को बाह्य संरचना से जोड़ने का प्रयत्न किया है जिसके फलस्वरूप इनकी आलोचना में यांत्रिकता का कम प्रभाव दृष्टिगत होता है। आलोचना-कर्म में भाषा की बाह्य और आंतरिक संरचना को पहचानना इसलिए जरूरी है कि उसके द्वारा हम कृति के भाषिक सरोकारों को व्यापक संदर्भ दे

सकते हैं। क्रिया, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण का प्रयोग मात्र यांत्रिक न हो कर, सृजन कर्म में उनका व्यापक अर्थ-संदर्भ होता है जो हमें आज की कविता और कथा साहित्य में प्राप्त होता है। मैं-हम-तुम-वे (सर्वनाम) या प्रजातंत्र, संसद, गणतंत्र, राष्ट्रध्वज (संज्ञाएँ) सृजन में मात्र सर्वनाम या संज्ञाएं न हो कर कुछ व्यापक अर्थ संदर्भों को व्यंजित करती हैं। इस दृष्टि से भाषा में प्रयुक्त होने वाले रूपाकारों (शब्द, बिम्ब, प्रतीक) की संख्या और आकृति से हम रचनाकार के संवेदन एवं विचार-लोक की छबियाँ प्राप्त कर सकते हैं। इसी संदर्भ में भाषा-दर्शन के दो तत्त्व भी सामने आते हैं जो भाषा के प्रतीकों और रूपाकारों के प्रत्ययात्मक रूप को व्यक्त करते है, क्योंकि प्रत्येक जन-क्षेत्र इन भाषिक रूपाकारों के अर्थ-विवेचन के द्वारा ही उस विशिष्ट ज्ञान को रूपायित करते हैं। अतः ज्ञान और संवेदना का जितना भी विकास होता है, वह इन्हीं भाषिक रूपाकारों के विवेचन के द्वारा होता है। यदि गहराई से देखा जाए तो भाषिक संरचना के तत्त्व या अवयव (संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, वाक्य आदि) किसी न किसी रूप में दिक् और काल का ही निबंधन करते हैं। इस दृष्टि से साहित्य और आलोचना के रूपाकार और शब्द (प्रतीक शब्द, बिम्ब, मिथक) भी साहित्य और आलोचना के अर्थ-विवेचन को गति देते हैं। अतः इस व्यापक परिदृश्य से यह प्रकट होता है कि आलोचनात्मक रूपाकारों का एक अपना प्रत्ययात्मक रूप है और कृति में प्रयुक्त भाषिक रूपाकारों के द्वारा हम इस आलोचना के प्रत्ययात्मक रूप का क्रमशः विकास करते हैं। अतः भाषिक संरचना की यह मुख्य भूमिका होती है क्योंकि कृति इसी के द्वारा साकार होती है। इस दृष्टि से रचना और आलोचना का गहरा सम्बन्ध है जहां तक भाषिक संरचना का प्रश्न है। अंतः-अनुशासनीय आलोचना में भाषा-दर्शन का यह रूप अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि कृति भाषा के द्वारा ही कथ्य और संवेदना को प्रकट करती है। उसी के माध्यम से आलोचक कृति की राह से गुजर कर संवेदना और विचार के आयामों को क्रमशः उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है।

कृति या प्रवृत्ति की आलोचना को लेकर मिथकीय और मनोविश्लेषणवादी आलोचना-पद्धतियों का इधर जो विकास हुआ है, वह मिथक के रचनात्मक संदर्भ को और दूसरी ओर उसके ऐतिहासिक और मनस्तात्त्विक रूपों को विवेचित करती है। उसने मिथकीय आद्यरूपों, चरित्रों और इतिवृत्तों को नए संदर्भों में रखने का प्रयत्न किया है। ये आद्यरूप जातीय मनस् के अभिन्न अंग हैं और वे बार-बार नए रूपों और अर्थों में अवतीर्ण होते हैं। मिथकीय रचनाओं के विवेचन में इस पद्धति का प्रयोग उस विशिष्ट रचना के अनेक अर्थ-संदर्भों को (जैसे सामाजिक, ऐतिहासिक और वैयक्तिक) उजागर करता है। रमेश कुंतल मेघ, इन्द्रनाथ चौधरी, शम्भुनाथ, अनिलकुमार तिवारी और मैंने आदि ने इस

दृष्टि से अनेक रचनाओं और कवियों का विश्लेषण किया है। इस पद्धति के द्वारा एक तथ्य यह भी सामने आता है कि रचनाकार नए आद्यरूपों और नए मिथकों का भी सृजन करता है जो नए ज्ञान–सवेदन के प्रकाश में लगातार विकसित होते हैं। ये नए मिथक और आद्यरूप, जहां तक आज का प्रश्न है, अवधारणात्मक अधिक होते हैं और उनमें इतिवृत्त का अपेक्षाकृत अभाव होता है जो हमें प्राचीन मिथकों में सामान्यत: प्राप्त होता है। मुक्तिबोध का 'ब्रह्मराक्षस', प्रेमचन्द का 'होरी' और शरत का 'देवदास' ऐसे ही आधुनिक मिथक या आद्यरूप हैं। गांधी, मार्क्स और आइन्स्टीन अब मात्र व्यक्ति न रह कर एक 'विचार' हो गए हैं जो क्रमश: मिथकीय आद्यरूपों की कोटि में आ रहे हैं। आज का एक महत्त्वपूर्ण मिथक है 'जन संस्कृति का मिथक' जिससे रचनाकार और विचारक लगातार टकरा रहे हैं, क्योंकि आज के विचार–दर्शन में इस मिथक को एक नया संदर्भ प्राप्त हुआ है। (देखें मेरा लेख "जन संस्कृति का मिथक", साक्षात्कार ६७–६८) इन सभी आद्यरूपों में प्रत्ययात्मकता का प्रभाव अधिक है, और इसी से, प्राचीन मिथकों की अपेक्षा इतिवृत्त का इनमें अभाव है। पर इति-वृत्त का हल्का पुट इनमें अवश्य है क्योंकि मिथक की धारणा में इतिवृत्त या प्रभामंडल का न्यूनाधिक रूप अवश्यंभावी है। इसी प्रकार मनोविश्लेषणवादी और सौंदर्यशास्त्रीय आलोचनाएं मनोविज्ञान और सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। सौन्दर्यबोध एक मानसिक प्रक्रिया है तो दूसरी ओर मनोविश्लेषण के तहत भी हम मानसिक जटिलताओं (ग्रंथियों, तनाव, संवेग, संवेदना, विचार आदि) का ही अध्ययन करते हैं। इस दृष्टि से ये दोनों आलोचनाएं मानसिक क्रियाओं से ही परोक्षत: सम्बन्धित हैं। जहां तक आलोचना–कर्म का सम्बन्ध है मनोविज्ञान और सौंदर्यशास्त्र का गहरा सापेक्ष सम्बन्ध है क्योंकि किसी कृति या रचनाकार का विवेचन किसी न किसी स्तर पर उन दोनों क्षेत्रों से टकराता है।

उपर्युक्त विवेचन से जो बात मैं कहना चाहता हूं वह यह कि अंत:–अनु-शासनीय समीक्षा में इन समस्त प्रकारों और सरोकारों का महत्त्व रचना के विविध अर्थ–संदर्भों को न्यूयाधिक रूप से उद्घाटित करने में है और उनका रचना के संदर्भ में सही लोकेशन करने में है। यह कार्य, मेरे विचार से, विचार-संवेदन की व्यापक गतिशीलता के द्वारा ही सम्भव है। अंत:–अनुशासनीय समीक्षा इस गतिशीलता को पकड़ने का प्रयत्न है। समीक्षक की दृष्टि और अध्ययन ही साहित्य को नए सदर्भों से जोड़ता है। इस वैचारिक गतिशीलता में भिन्न अनुशासनों के अनेक ऐसे प्रत्यय और विचार हैं जो उपर्युक्त आलोचन–प्रकारों के अन्तर्गत नहीं आ सकते हैं। उदाहरण स्वरूप, सापेक्षवादी चिंतन, विकासवाद, प्रतिबिम्बवाद (समाजशास्त्र) दिक् और काल की अवधारणाएं,

विज्ञान–बोध के विविध आयाम, प्रक्रम का चिंतन (प्रोसेस), ऊर्जा, परमाणु, विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र आदि ऐसे अनेक विचार हैं जो सृजन के अनेक स्तरों पर, बिम्बों और रूपाकारों द्वारा संकेतित होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि रचनाकार मनस्–निर्माण में विचारों के इस विस्फोट का उसकी संवेदना की बनावट एवं संरचना में प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ता है, यदि वह सजग है – अपने समय के ज्ञान–संवेदन से। इसके द्वारा आलोचक एवं रचनाकार दोनों अपने प्रत्यक्ष अनुभव को अधिक व्यापक एवं बहुआयामी अनुभवों और प्रातिभज्ञानों से जोड़ सकते हैं। इस प्रस्थापना तक पहुचने में मुझे अनेक रचनाकारों और कृतियों की विवेचना सहायक हुई है जिनके बहुआयामी संदर्भों तक पहुंचने के लिए विचार–सवेदन की गत्यात्मकता का एक प्रमुख हाथ रहा है। इस प्रक्रिया में आलोचना के प्रकारों की आवश्यकतानुसार सहायता लेते हुए मैंने उस फ्रेमवर्क के बाहर जाने का भी प्रयत्न किया है, क्योंकि अक्सर यह होता है कि एक 'फ्रेमवर्क' के तहत हम उस रचना को सीमित कर देते हैं जबकि उसमें अन्य विचार संवेदनाओं की प्रत्यक्ष या परोक्ष गूँजें प्राप्त होती हैं। अंतः–अनुशासनीय आलोचना इन सभी या कुछ गूँजों और प्रतिगूंजों को संदर्भित करती है, और इस प्रकार कृति या रचनाकार के बहुआयामी अर्थ संदर्भों को उजागर करती है। इस दृष्टि से रचनाकार के एक ऐसे मनस् का साक्षात्कार होता हैं जो कई सरोकारों और विचारों को बोध एवं संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्त करता है। इसे ही मैं विचार की गत्यात्मकता कहता हूं।

इसी संदर्भ में मैं कुछ रचनाकारों और कृतियों का हवाला देना चाहूंगा जिन पर मैंने इसी दृष्टि से विचार किया है। यहां पर मैं इन सबका सविस्तर विवेचन नहीं कर सकूंगा क्योंकि इन पर अलग से ही ऐसा विचार किया जा सकता है जो उसका व्यावहारिक पक्ष है। इस दृष्टि से प्रसाद, मुक्तिबोध, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बलदेव वंशी, विनय, शमशेर, विश्वंभर नाथ उपाध्याय के उपन्यास, नरेन्द्र कोहली के राम कथा पर आधारित उपन्यास–खण्ड आदि ऐसी रचनाएँ हैं जिनका मूल्यांकन अंतः– अनुशासनीय दृष्टि से करने पर उनकी विचार–संवेदनात्मक गतिशीलता के अनेक आयामों को रेखांकित किया गया है। इस पूरी प्रक्रिया से गुजरने पर रचनाकार की रचना–दृष्टि का एक समग्र बिम्ब उभर कर आता है, वह मात्र एक ' फ्रेमवर्क ' या ' वाद ' के तहत मूल्यांकित नहीं होता है। इस मूल्यांकन में यह तो हो सकता है कि उसमें किसी सरोकार या ' वाद ' का प्रभाव अधिक हो, और अन्य सरोकारों व विचारों का उसकी सापेक्षता में कम – यह तथ्य भी अंतः–अनुशासनीय आलोचना के द्वारा ही तटस्थ रूप से उद्घाटित हो सकता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि अनेक अनुशासनों के

प्रभाव को आरोपित किया जाएँ। आवश्यकता इस बात की है कि कृति की संरचना से भिन्न प्रभावों को रेखांकित किया जाए जो रचना की संरचना में अंतर्व्याप्त हैं। इस संदर्भ में मैं मुक्तिबोध और प्रसाद की रचनाओं के आधार पर कह सकता हूं कि ये दोनों कवि, अंत:–अनुशासनीय दृष्टि से अपनी सर्जनात्मकता को अनेक आयामी बना सके। प्रसाद ने छायावादी फ्रेमवर्क में विज्ञान–बोध, दिक्काल–संदर्भ. इतिहास और मिथक, तंत्रवाद और औपनिषदिक चिंतन, राष्ट्रीय आन्दोलन, करुणा और नियति–दर्शन तथा भिन्न अनुशासनों के अनेक रूपाकारों (परमाणु, गति, गुरुत्वाकर्षण) का जो रचनात्मक संदर्भ दिया है, वह प्रसाद के कृतित्व को एक फ्रेमवर्क के अन्तर्गत नहीं रख सकता है। आवश्यकता इसकी है कि उनकी सृजनात्मकता के अनेक आयामी संदर्भों को पुन: विवेचित एवं मूल्यांकित किया जा सके। इसी प्रकार मुक्तिबोध की रचनाएं मार्क्सवादी फ्रेमवर्क के अंन्तर्गत विज्ञान–बोध, दिक्कालबोध, इतिहास की द्वन्द्वात्मकता, राजनैतिक प्रतिबद्धता, अस्तित्व–संघर्ष और भिन्न अनुशासनों के रूपाकारों का रचनात्मक संदर्भ आदि ऐसे संदर्भ और सरोकार हैं जिनके द्वारा हम मुक्तिबोध की अंत:–अनुशासनीय सर्जनात्मकता के विविध आयामों को पहचान सकते हैं। इसी प्रकार हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों और उपन्यासों को अन्त:– अनुशासनीय दृष्टि से विवेचित करने की आवश्यकता है और नागार्जुन, बलदेव वंशी तथा विनय के काव्य को इस दृष्टि से विवेचित किया जा सकता है क्योंकि इन कवियों पर भी मैंने यदाकदा इसी दृष्टि से लिखा है। इस पूरे विवेचन द्वारा एक बात यह भी स्पष्ट होती है इन भिन्न सरोकारों के द्वारा एक प्रकार से हम अपने आस्वादन को अधिक व्यापक और अर्थगर्भित बनाते हैं जो भिन्न अनुशासनों से प्राप्त एक जैविक दृष्टि का ही परिचायक है। भिन्न ज्ञान–विज्ञान की शाखाएँ और शब्द (पारिभाषिक भी) जो अलग अलग कटघरों में बंद रहते हैं, वे इस अंत:–अनुशासनीय दृष्टि के द्वारा एक दूसरे में प्रवेश कर आलोचना और सर्जना को गति देते हैं। एक को पहचानने का अर्थ है दूसरे को पहचानना। इसी कारण समीक्षात्मक शब्दावली में दर्शन, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, विज्ञान, समाजशास्त्र, भाषाशात्र तथा इतिहास आदि के अनेक प्रत्यय एवं शब्द आज की आलोचना में लगातार प्रयुक्त हो रहे हैं। उदाहणस्वरूप, विज्ञान के अनेक शब्द जैसे ऊर्जा, जैविक परमाणु, दिक्काल गुरुत्वाकर्षण, कंपन, गति आदि जिनका प्रयोग लगातार आज की आलोचना में हो रहा है। इसी प्रकार अग्रगामिता (फोर ग्राउंडिग), संरचना (भाषाशास्त्र), चेतन अचेतन, ग्रंथि, मोहभंग (मनोविज्ञान) तथा प्रतिबद्धता, सर्वहारा, अभिजात (मार्क्सवादी–दर्शन) आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो आलोचना के भिन्न भिन्न प्रकारों में प्रयुक्त हो रहे हैं। मेरे विचार से अंत: अनुशासनीय दृष्टि से आलोचना में आए ऐसे शब्दों और प्रत्ययों का अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि इसके द्वारा हम

आलोचना के अंत: अनुशासनीय स्वरूप को भाषिक स्तर पर उद्घाटित कर सकते हैं। दूसरी ओर, सृजन के स्तर पर भी ऐसे शब्दों का अध्ययन किया जा सकता है जो सृजनात्मकता के गतिशील रूप को सामने रखने में समर्थ हैं। प्रसाद, निराला, मुक्तिबोध, विनय, बलदेव वंशी, नरेश मेहता, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि में ऐसे शब्दों का यदा-कदा रचनात्मक संदर्भ प्राप्त होता है जो उस शब्द के प्राथमिक अर्थ (विशेष अनुशासन में) को सुरक्षित रखते हुए उसमें नई अर्थ-छवियों को विचार-संवेदन के धरातल पर देने का प्रयत्न करता है। ऐसे शब्द और प्रत्यय साहित्य में आकर साहित्य के हो जाते हैं, वे मेरे विचार से हाशिएं के शब्द या प्रत्यय नहीं रह जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, मुक्तिबोध में विज्ञान (भौतिकी) के शब्दों का रूपांतरण इसी प्रकार का है जो उनके विचार-संवेदन को गहराता है-

परमाणु केन्द्रों के आस-पास
अपने गोल पथ पर
घूमते हैं अंगारे
घूमते हैं इलेक्ट्रान
निज रश्मि पथ पर
इलक्ट्रान-रश्मियों से बंधे हुए
अणुओं का पुंजीभूत
एक महाभूत।

यहाँ पर मैं नरेश मेहता के **उत्सवा** काव्य ग्रंथ से एक उदाहरण और देना चाहूंगा जिसमें काल, दिक्, ग्रह, नक्षत्र और विस्तरणशील ब्रह्मांड (दिक्) के प्रत्यय को सुन्दर रचनात्मक संदर्भ दिया गया है जो विचार-संवेदन के उस रूप को प्रकट करता है जो भारतीय तत्त्व-चिंतन एवं आज के वैज्ञानिक प्रत्यय को एक संवाद की स्थिती में लाता है-

कौन है वह
जो महाकाल की अलगनी पर
ग्रह नक्षत्रों की राशियों की
और अंकों की आकृतियाँ प्रदान कर रहा है
संवत्सरों के इतिहासों को
पौराणिक बुनावट में बुनकर
नए आकाशों के निर्माण में
फैलता जा रहा है
फैलता ही जा रहा है।

समकालीन आलोचना के संदर्भ में अंतः-अनुशासनीय आलोचना हमारे सामने एक ऐसे क्षितिज को खोलती है जो ज्ञान-संवेदन के विविध आयामों को

रेखांकित करने में समर्थ है, तो दूसरी ओर वह 'संवेदना' की जटिल और गतिशील संरचना को सृजन के संदर्भ में लोकेट करती है। यहाँ पर चेतना का भी प्रश्न उठता है क्योंकि मानवीय चेतना का स्वरूप जटिल एवं द्वन्द्वात्मक है। इस द्वन्द्वात्मकता में चेतना के दो स्तर–जागतिक और अनंत–जहाँ एक ओर द्वन्द्व को संकेतित करते हैं, वहीं वे एक दूसरे के पूरक हैं। इस पूरकता में जागतिक दिक्काल का स्तर एक आवश्यक तत्त्व है क्योंकि उसी स्तर से हम क्रमशः अनंत या भविष्यत् का साक्षात्कार करते हैं जो हमें लगभग हरेक ज्ञान–शाखा में प्राप्त होता है। इसे हम चाहे तो अनंत कहें या अध्यात्म ईश्वर या और कोई नाम दें, लेकिन 'चेतना' की बनावट की दृष्टि से हम किसी न किसी स्तर पर इस अनंत से अवश्य टकराते हैं। असल में, हमारे मनोवैज्ञानिक दिक्काल की सही स्थिति यह है कि वह जहाँ है, वहाँ से वह आगे या भविष्य की ओर गतिशील होती है, यही विकास की अग्रगामी गति है। मेरे विचार से आलोचना चेतना के इसी रूप को पकड़ने का प्रयत्न है। वह मात्र चेतना के एक स्तर तक सीमित अनुशासन या प्रक्रिया नहीं है। यही कारण है कि आलोचना–कर्म एक व्यापक एवं विस्तृत प्रक्रिया है, और उसकी व्यापकता का अर्थ है–सृजन की बहुआयामिकता को पकड़ना और उन्हें सही 'लोकेट' करना। मेरे विचार से यह कार्य अंतः– अनुशासनीय आलोचना के द्वारा हो सकता है।

५ झ, १५, जवाहर नगर
जयपुर–३०२००४.
(राजस्थान)

वीरेन्द्र सिंह

टिप्पणी

१. मैंने इन दोनों कवियों को इसी दृष्टि से विवेचित किया है जो मेरी पुस्तक **मुक्तिबोध–काव्य बोध का नया परिप्रेक्ष्य** में विवेचित है। 'प्रसाद के काव्य में राष्ट्रीय आन्दोलन' '**कामायनी** में विज्ञान–बोध' '**कामायनी** में दिक्काल बोध' तथा 'प्रसाद का इतिहास–बोध' नामक लेख भिन्न–भिन्न पत्रिकाओं में समय–समय पर प्रकाशित हो चुके हैं।

समवाय: न्याय- वैशेषिक की एक विशिष्ट संकल्पना

पूर्णत: बाह्यार्थवादी दर्शन न्याय-वैशेषिक के अपने कुछ ऐसे सिद्धांत हैं जो किसी दर्शन में नहीं पाए जाते। यथा : गुण व क्रिया की अपने द्रव्य से तत्वत: भिन्नता, जाति और व्यक्ति की तत्वत: भिन्नता। इनके अतिरिक्त इस दर्शन का एक और मुख्य सिद्धांत है, जिसका प्रबल विरोध हुआ है बौद्धों की ओर से भी तथा अन्य पुरातन आस्तिक दर्शनों की ओर से भी। वह सिद्धांत है कार्य व कारण (यथा पट व तन्तु) को दो भिन्न व पृथक् द्रव्य मानना तथा साथ ही उन्हें समान देश का अधिकारी भी मानना, जबकि यह एक मूलभूत सिद्धांत है कि दो ठोस द्रव्य समान स्थान के अधिकारी नहीं हो सकते। (यद्यपि न्याय-वैशेषिक में 'देश' शब्द का प्रयोग स्थान के अर्थ में न किया जाकर अधिकरण के अर्थ में किया गया है।)

न्याय-वैशेषिक के इन विशिष्ट सिद्धांतों का मूल उसका बाह्यार्थवादी होना है। बाह्यार्थवाद का तात्पर्य है दृश्यमान जगत् की वास्तविकता में पूर्ण विश्वास। इस चराचर जगत् में भी लघु से लघु वस्तु हमारे अनुभव का विषय बनती है, उसकी सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। वह यथार्थ है, भ्रम या माया मात्र नहीं यह इस दर्शन की मान्यता है। यही कारण है कि यह अवयव और अवयवी को दो पूर्णत: पृथक् द्रव्य मानता है। अवयवी में रहनेवाले गुण (यथा रंगादि) को भी उससे पृथक् मानता है। इसी मान्यता के अनुसार 'पट' एक अलग इकाई है और तन्तु जो इसके अवयव हैं तथा जिनसे यह निर्मित है वे एक भिन्न इकाई हैं। इसी तरह 'पट श्वेत है' इस ज्ञान में श्वेतत्व, जो कि पट में रहता है, एक भिन्न वस्तु है, तथा पट भिन्न। यों हम देखते हैं कि 'पट' जो

कि संम्पूर्ण वस्तु के रूप में हमारे अनुभव में आता है – न्याय–वैशेषिक उसमें विभाग बनाता है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि कोई ऐसी विधि हो जो उन्हें पुनः संयुक्त कर दे तथा साथ ही अवयव व अवयवी की समानदेशता के औचित्य को भी सिद्ध कर दे। न्याय–वैशेषिक ने इन सबके उत्तर में जो प्रस्तुत किया है वह है 'समवाय सम्बन्ध की संकल्पना।

समवाय का लक्षण

कणाद के अनुसार " जिसके कारण, कार्य और कारण में 'यह इसमें है' इस प्रकार की प्रतीति होती है, वह समवाय है।"[1] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि समवाय की कल्पना मूलतः कारण और कार्य के सम्बन्ध के प्रसंग में की गई थी। कार्य–कारण–सम्बन्ध कणाद के अनुसार द्रव्यरूपी कारण में तथा द्रव्य, गुण एवं क्रिया रूपी कार्य में होता है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि किसी द्रव्य में यदि द्रव्य, गुण या क्रिया उत्पन्न हो तो कारण-द्रव्य तथा कार्यरूप द्रव्य, गुण या क्रिया में जो सम्बन्ध होगा उसे समवाय कहेंगे। द्रव्य में द्रव्य की उत्पत्ति न्याय–वैशेषिक के विशिष्ट सिद्धान्त के अनुसार है। अवयवों के विशिष्ट संयोजन से जो 'अवयविन्' उत्पन्न होगा, वह न्यायवैशेषिक के अनुसार अपने अवयवों में ही निवास करता है।

प्रशस्तपाद द्वारा समवाय की परिभाषा दो अयुतसिद्धों के सम्बन्ध के रूप में की है गई है।[3] एक आश्रय एव दुसरा आश्रित – इस प्रकार के दो अयुत-सिद्धों का जो सम्बन्ध 'यह (आश्रित) यहाँ (आश्रय में) है' इस प्रकार के प्रत्यय का कारण हो, वही सम्बन्ध समवाय है।

इसका विशदार्थ है कि

द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन सभी पदार्थों में से जो दो वस्तु यथासंभव कार्यकारणभावापन्न हों अथवा स्वतंत्रही हों, किंतु अयुतसिद्ध हों एवं आधार–आधेय रूप हों उन दोनों में से, एक (आधेय) का दूसरे (आधार में) 'यह यहाँ है' इस प्रकार का प्रत्यय जिससे हो वही सम्बन्ध 'समवाय' है।

'अयुतसिद्ध' शब्द का अर्थ श्रीधर ने यह बताया है कि जो अनेक वस्तुएँ परस्पर, एक दूसरे को छोड़ कर न रहें वे अयुतसिद्ध हैं (अयुतसिद्धानाम् इति परस्परपरिहारण पृथगाश्रयानाश्रितानामित्यर्थः।) कहने का तात्पर्य यह है कि जिन दो सम्बन्धियों का आश्रयत्व या आश्रितत्व एक दूसरे को छोड़ कर किसी तीसरी वस्तु में भी रहे, उन दो वस्तुओं की स्वतंत्र रूप से विद्यमानता ही युतसिद्धि है। इस प्रकार की युतसिद्ध जिन दो वस्तुओं की न रहे वे दोनों वस्तुएँ अयुत सिद्ध हैं। इसी प्रकार अयुतसिद्धि दो वस्तुओं का सम्बन्ध समवाय है, जैसे सूत और कपडे का।

न्याय–वैशेषिक सम्प्रदाय ने जब एक वस्तु के रूप में प्रतीत होने वाले 'धर्म' और 'धर्मी', 'अवयव' व 'अवयवी' को अलग कर दिया और उनको तत्त्वत: अलग–अलग पदार्थ माना, तो दार्शनिक संप्रदायों की ओर से प्रश्न हुआ कि जो वस्तुएँ अलग–अलग हैं वो कभी अलग–अलग पाई भी जानी चाहिए क्योंकि अलग–अलग दो पदार्थ यदि संयोग सम्बध से जुडे हों तो वे कभी कभी अलग भी हो सकते हैं। इसका उत्तर न्याय वैशेषिक के समवाय सम्बन्ध में पाया जाता है। 'समवाय' वह सम्बन्ध है जो ऐसे दो पदार्थों में होता है जिनमें से एक दूसरे के बिना कदापि न पाया जाये।

समवाय पांच स्थानों पर पाया जाता है, अर्थात् (१) द्रव्य में गुण (२) द्रव्य में कर्म (३) द्रव्य, गुण या कर्म व्यक्तियों में जाति (४) नित्य पदार्थों में विशेष तथा (५) अवयवों में अवयवी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं।

यह स्पष्ट है कि द्रव्य में न केवल गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये चार पदार्थ समवाय सम्बन्ध से रहते हैं अपितु अवयवों में अवयवी के रूप में याने द्रव्य में द्रव्य भी समवाय सम्बन्ध से रहता है।

इस समवाय सम्बन्ध की बाह्य जगत् में यथार्थ विद्यमानता (वस्तुपरक सत्यता) मानी जाती है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य व विशेष ये आरंभिक पञ्च पदार्थ यदि न्याय–वैशेषिक की भित्ति में लगने वाली ईंटें हैं तो छठा पदार्थ 'समवाय' उन ईंटों को संयुक्त करने वाला गारा है।

इस प्रकार यह समवाय सम्बन्ध गुण–गुणी, क्रिया–क्रियावान्, अवयव–अवयवी, जाति–व्यक्ति और विशेष तथा नित्यद्रव्यों में ही पाया जाता है।

आगे चल कर न्यायवैशेषिक दार्शनिकों के सम्मुख एक समस्या आई। न्याय-वैशेषिक दर्शन यह मानता है कि यदि किसी वस्तु का समवायिकारण या असम-वायिकारण नष्ट कर दिया जाये तो वह वस्तु नष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ, पट के समवायीकारण तन्तु या असमवायिकारण तंतु-संयोग को नष्ट कर दिया तो पट नष्ट हो जायेगा। इसका तात्पर्य हुआ कि कारण का नाश कार्य के नाश का कारण बनता है। कारण सदैव कार्य से एक क्षण पहले होता है। अत: यदि हम तंतुओं को या उनके संयोग को नष्ट कर दें तो पट–नाश एक क्षण बाद होगा। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि एक क्षण तक पट कहाँ रहेगा? न्याय – वैशेषिक को यह मानना पड़ा कि एक क्षण तक पट अनाश्रित रहेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसी स्थिती भी हो सकती है जिसमें अयुतसिद्ध वस्तु भी क्षण भर को अलग रह सके और वह स्थिति है 'विनश्यद् अवस्था'। आगे चल कर 'अयुतसिद्ध' का लक्षण इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए निर्धारित किया गया। तर्कभाषा के अनुसार "अयुतसिद्ध वे

दो वस्तुएँ हैं जिनमें से एक विनश्यत् अवस्था को छोड़कर सदैव दूसरे पर ही आश्रित रहती है।"[५]

'समवाय' बाह्यार्यवाद का प्राण

न्याय वैशेषिक के बाह्यार्थवादी ढाँचे पर जो आक्रमण विरोधियों के द्वारा किये गये उनसे अपनी रक्षा यह इसी समवाय सम्बन्ध के आधार पर करता है। गुण व क्रियाओं की अपने द्रव्य से भिन्न सत्ता सिद्ध करने का आधार भी समवाय ही है तथा इसी समवाय सम्बन्ध की जादूगरी शक्ति के सहारे ही न्याय-वैशेषिक पट व तंतुओं को दो पृथक् द्रव्यों के रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है तथा पट व पटरूप को तत्वत: भिन्न, दो पथक् सत्ताएँ मानते हुए भी उन्हें एक ही स्थान में एक साथ रहने का अधिकारी भी इसी सम्बन्ध के सहारे मानता है।

न्याय-वैशेषिक की एक और विचित्र मान्यता है कि कारण (यथा तन्तु) अपने तत्त्व को पूर्णत: अपने पास सुरक्षित रखते हुए ही अपने कार्य (यथा पट) के लिए नवीन तत्त्व की सृष्टि कर देता है। अपना कुछ भी खोये बिना समवायिकारण— जो कि अवयवों के रूप में है —अपने कार्य के लिए यह जो नवीन सृष्टि करता है उसका उत्तर भी यही समवाय सम्बन्ध है।

कहने का तात्पर्य यह है कि समवाय की कल्पना न्याय-वैशेषिक के बाह्यार्थवाद का आधारस्तम्भ है। न्याय-वैशेषिक का 'अवयविन् सिद्धांत' अर्थात् अवयवों से पृथक् अवयवी की भिन्न सत्ता मानने का सिद्धांत-समवाय सम्बन्ध के सहारे ही चलता है। मनुष्य की सामान्य बुद्धि को पट व तन्तु दो भिन्न, स्वतंत्र वस्तुएँ प्रतीत नहीं होतीं बल्कि यही लगता है कि एक ही वस्तु है जो पट की उत्पत्ति से पूर्व तन्तु रूप में थी और बाद में पट रूप में। किंतु न्याय-वैशेषिक के लिए यह आवश्यक था कि वह इनकी भिन्न सत्ता को स्वीकारे, क्योंकि बाह्यार्थवाद की सिद्धि के लिए यह जरूरी है। इस सिद्धांत पर जो आक्षेप किया गया उसका उत्तर समवाय सम्बंध के सहारे दिया गया। एक ऐसा सम्बन्ध जो ऐसी वस्तुओं में होता है जो पृथक् दिखाई नहीं देतीं (यथा द्रव्य और उसके गुण या क्रिया आदि) किंतु न्याय-वैशेषिक जिन्हें पृथक् मानता है।

समवाद व कारणवाद

न्याय-वैशेषिक का कारणवाद का सिद्धांत 'असत्कार्यवाद' बाह्यार्थवाद का मुख्य आधार-स्तंभ है। इस सिद्धांत के अनुसार कार्य-पट अपने कारण-तंतुओं से सर्वथा भिन्न एक नवीन सृष्टि है। सांख्य की मान्यता के विपरीत यह कार्य की पूर्व विद्यमानता से इन्कार करता है। इसका कहना है कि कार्य अपने कारण से भिन्न है तथा एक नवीन सृष्टि है जो उत्पत्ति के बाद समवाय सम्बन्ध से अपने कारण में निवास करती है। कार्य व कारण को दो पृथक् द्रव्य मानते हुए भी उन्हें समान स्थान का अधिकारी बताना

असंभव लगता है किंतु न्याय–वैशेषिक के अनुसार समवाय सम्बन्ध के द्वारा ऐसा संभव हो जाता है, क्योंकि समवाय सम्बंध से सम्बद्ध वस्तुएँ भिन्न–भिन्न होते हुए भी एकरूप ही प्रतीत होती हैं। श्रीधर का कहना है 'अत्र सम्बन्धिनो अय: पिण्ड वह्निवत् पिण्डीभूतो एव प्रतीयते' अर्थात् यहाँ कारण व कार्य अग्नि व लौहपिण्ड की भांति एक पिण्ड से ही प्रतीत होते हैं।

समवाय सम्बन्ध अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। जिस प्रकार 'इस मटके में दही है' यह प्रतीति (दही और मटके में संयोग) सम्बंध के रहते ही होती है, उसी प्रकार इन तंतुओं (में) का पट है, इन वीरणों (तृण विशेषों) (में) की चटाई है इत्यादि प्रतीतियाँ भी होती हैं। अत: वह समझते हैं कि प्रतीति के विषय इन आधार और आधेय में भी कोई सम्बन्ध अवश्य है। श्रीधर ने एक संक्षिप्त कारिका में समवाय का स्वरूप यों समझाया है–

परस्परोपसंश्लेषो भिन्नानाम् यत्कृते भवेत्।
सममाय: स विज्ञेय: स्वातन्त्र्यप्रतिरोधक:॥

अर्थात उस सम्बन्ध को समवाय समझना चाहिए जो भिन्न और पृथक् दो वस्तुओं के सम्मिश्रण का कारण बने। यह उन दोनों में से किसी भी एक की पृथक्, स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिरोधक है। इस कारिका के प्रथम भाग को अर्थात् सम्बद्ध दो वस्तुओं के मिश्रण को संयोग व समवाय सम्बन्ध के अंतर से भलीभांति समझा जा सकता है।

समवाय व संयोग की भिन्नता

१) सयोग सम्बन्ध पूर्णत: पृथक् व भिन्न दो द्रव्यों में हो होता है (यथा पुस्तक व मेज के बीच अथवा दो छडियों को यदि बांध दिया जाये तो उनके बीच) जबकि समवाय सम्बन्ध निम्न तीन स्थितियों में होता है–

अ) दो द्रव्यों में, जबकि कार्य–द्रव्य अपने कारण–द्रव्य में निवास करता है।

ब) दो अद्रव्यों में जैसे जाति की गुण व क्रिया में विद्यमानता के प्रसग में।

स) एक द्रव्य व दूसरे अद्रव्य के बीच जैसे गुण, क्रिया, जाति या विशेष की द्रव्य में विद्यमानता के प्रसंग में।

२) संयोग उन दो वस्तुओं के बीच होता है जो पृथक् हो सकती हैं, जबकि समवाय उन दो वस्तुओं में होता है जो परस्पर पृथक् न की जा सकें। यथा कार्य (पट) को अपने कारण (तन्तुओं) से पृथक् नहीं कर सकते।

३) समवाय से सम्बद्ध दोनों वस्तुओं में आधाराधेय भाव अनिवार्य है। कार्य, गुण, क्रिया इत्यादि जिनकी अपने कारण या द्रव्य के बिना स्वतंत्र सत्ता

नहीं होती सदा आधेय के रूप में होते हैं, और वो द्रव्य जिसमें ये रहते हैं–जिसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता भी हो सकती है–वो आधार रूप में होता है, जबकि संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध दो वस्तुओं के बीच ऐसा होना आवश्यक नहीं। दो छड़ियों को यदि परस्पर जोड़ा जाये तो कोई किसीका आधार नहीं होगी–दोनों की समान स्थिति होगी।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि समवाय क्यों व कैसे दो पूर्णतः भिन्न व पृथक् द्रव्यों को इस तरह प्रस्तुत करता है कि वे एक प्रतीत हों और क्यों साथ ही वो दोनों वस्तुएँ पृथक् मानी जाती हैं? ये दोनों विरोधी बातें कैसे एक ही साथ सम्भव हो सकती हैं? जहाँ तक गुण, क्रिया, जाति या विशेष का अपने द्रव्य में रहने का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि वे अद्रव्य हैं, द्रव्य उनका घर है. अतः इनके आधार के दृष्टिकोण से देखें तो वे दोनों एक प्रतीत होते हैं। परेशानी पैदा होती है अवयव व अवयवी के प्रसंग में जो दो भिन्न द्रव्य माने जाते हैं। न्याय–वैशेषिक इस विरोधाभास के समाधान में कहता है कि हम इस तरह सोचने के अभ्यस्त हो गए हैं कि दो द्रव्य साथ रह ही नहीं सकते। समवाय की जादुई क्षमता से यह भी संभव है। जयन्त की इस सम्बन्ध में यह कारिका है–

> प्रतीतिभेदात् भेदोऽस्ति, देशभेदस्तु नेश्यते।
> तेनात्र कल्प्यते वृत्तिः समवायः स उच्यते॥

समवाय की स्वतंत्रता

इस समवाय सम्बन्ध को अपने द्रव्य में रहने के लिए किसी अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होता। इस अर्थ में यह स्वतंत्र है क्योंकि इसे किसी दूसरे सम्बन्ध के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। विरोधी पक्ष की ओर से यह एक मुख्य प्रश्न था कि समवाय स्वयं किस सम्बन्ध से किसी वस्तु में रहता है? यदि इसके लिए भी दूसरे समवाय या किसी अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता पड़ती हो तब तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। इसीलिए न्याय–वैशेषिक ने इसे स्वतंत्र कहा है जिसे किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं होती। प्रशस्तपाद ने इसे स्वतंत्र कहा है जबकि संयोग स्वयं अपने द्वारा संयुक्त वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है। समवाय स्वतंत्र क्यों कहलाता है इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है– 'अनाश्रितः समवायः' क्योंकि इसे किसी दूसरे समवाय की जरूरत नहीं होती। न्याय–वैशेषिक में उद्योतकर अकेले ही इस विचार के पोषक हैं कि समवाय अन्यत्र कहीं भी आश्रित नहीं रहता। अन्य लेखक मात्र यही कहते हैं कि समवाय अपने आधार में किसी अन्य सम्बन्ध से नहीं रहता। प्रशस्तपाद ने इस स्थिति

का इस तरह वर्णन किया है–'समवायस्य नान्य वृत्ति अस्ति तस्मात् स्वात्मवृत्तिः' श्रीधर का कहना है 'वृत्ति अभावान्न वर्तते इति एतेन न तादात्म्याद वृत्ति आत्मकत्वाद् स्वत एवायम् वृत्तिरिति ॥'

अर्थात् यह सत्य नहीं है कि समवाय किसी अन्य वस्तु में रहता ही नहीं। बल्कि सही बात तो यह है कि किसी वस्तु में रहने के लिए इसे अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं रहती। इसी अर्थ में इसे स्वतंत्र कहा गया है।

समवाय के प्रत्यक्षीकरण के प्रश्न पर न्याय–वैशेषिक में परस्पर थोड़ा भेद है। न्याय वाले इसे संभव मानते हैं जबकि वैशेषिक वाले नहीं मानते।

अन्य दर्शनों द्वारा समवाय का खण्डन

इस प्रकार हम देखते हैं कि समवाय नामक षष्ठ पदार्थ न्याय–वैशेषिक दर्शन का आधार–स्तंभ है। समवाय के आधार पर ही कारण तथा परमाणुवाद के सिद्धांत स्थिर हैं। इसी आधार पर इन्हें कल्पनावादी की श्रेणी से यथार्थवादी की श्रेणी में अलग किया जा सकता है। न्याय के विद्यार्थियों के लिए जहाँ समवाय कुञ्जी है वहीं बौद्धों ने तथा सांख्य व वेदांत ने इसे आधार मान कर न्याय का खण्डन किया है।

बौद्ध तो अवयवी नाम की किसी सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते। बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है–'सर्वमनात्मम्'। बाह्य जगत् में प्रत्येक क्षण परिवर्तन हो रहा है और कोई भी वस्तु समय की दृष्टि से स्थिर नहीं तथा स्थान की दृष्टि से फैली हुई नहीं। अर्थात् यह देश के एक बिंदु पर रहने वाले कण या अवयव के रूप में है। अवयवों में रहने वाला कोई अवयवी या द्रव्य नहीं होता। इसलिए समवाय को मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बौद्धों ने इसका प्रबल विरोध किया है।

शंकराचार्य ने समवाय सम्बन्ध की निर्बलता के प्रसंग में कहा है कि चूंकि संयोग गुण है, अतः उसका द्रव्य से सम्बन्ध किसी सम्बन्ध विशेष से होगा और वह सम्बन्ध ही समवाय है तथा यह समवाय दो पदार्थों का सम्बन्ध मात्र है तो अब प्रश्न यह है कि यह समवाय भी दोनों पदार्थों में किस सम्बन्ध से रहता है? क्या अतिरिक्त समवाय से? यदि हाँ, तो उस अतिरिक्त समवाय के लिए भी अन्य समवाय मानना होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। इस अनवस्था से बचने के लिए यदि न्याय–वैशेषिक समवाय को गुण न मान कर अतिरिक्त पदार्थ मानता है एवं तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्यादि में उसकी विद्यमानता स्वीकार करता है तो सयोग को ही इसी रूप में अर्थात् द्रव्यादि में तादात्म्य सम्बन्ध से उपस्थित क्यों न मान लिया जाय?

–वेदांतसूत्र : शांकरभाष्य) ॥ ii १७)

इसीलिए वे समवाय सम्बन्ध को नहीं मानते । संयोग सम्बन्ध सर्वत्र अनित्य होता हो, कर्मान्तरजनित होता हो तथा विभागान्तावस्थायी होता हो ऐसी बात नहीं । काल तथा आकाश का परमाणु से संयोग नित्य ही है । इसके लिए हेतु के रूप में कर्मान्तर की आवश्यकता नहीं होती और न यह विभागान्त अवस्थाई ही है । यदि संयोग द्रव्यान्तर संयोग के समय अनित्य रहता है, यह कहा जाये तो यही स्थिति समवाय की भी है । वह भी तो वस्तु की उत्पत्ति और विनाश के साथ-साथ उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है । समवाय को यदि कार्य-कारण के सम्बन्ध के रूप में ही मानना है तो कारण को ही कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध से क्यों न स्वीकार कर लिया जाये ?

समवाय के मूल अयुतसिद्धत्व पर भी शंकराचार्य ने दृढ आक्षेप किया है। उनका कहना है कि गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, दो वस्तुएँ ही नहीं हैं, फिर उनके सम्बन्ध के लिए समवाय की मान्यता का कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

समीक्षा

न्यायवैशेषिक के बाह्यार्थवाद का मुख्य आधार है धर्म-धर्मी भेद। धर्म-धर्मी, अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-जातिमान, विशेष-नित्यद्रव्य-आदि स्थानों पर जहाँ सम्बन्धियों को अलग नहीं किया जा सकता था, अतः संयोग मानना संभव नहीं था, वहाँ समवाय जैसे सम्बन्ध को स्वीकार करना आवश्यक था । अन्य दर्शन जो समवाय को नहीं मानते वे धर्म और धर्मी में तादात्म्य मानते हैं और तादात्म्य मानने पर स्थिति यह होगी कि या तो धर्मी की ही सत्ता माननी होगी या धर्म की । बौद्धों ने केवल धर्मों की सत्ता मानी और प्रत्येक प्रकार के धर्मी का निषेध किया । दूसरी ओर सांख्य तथा वेदांत ने धर्मी की सत्ता मानी जिसकी चरम परिणति अद्वैतवाद के सिद्धांत के रूप में हुई जहाँ एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार किया गया ।

किंतु जैसाकि हम देख ही चुके हैं समवाय सम्बन्ध की इस संकल्पना ने न्याय-वैशेषिक के सम्मुख अनेक आपत्तियाँ उठा दीं । बौद्ध-दर्शन व शंकराचार्य ने मुख्य रूप से इन आपत्तियों को स्वर दिया ।

आगे चलकर नव्य-न्याय में विशेषण को स्वरूप सम्बन्ध में ग्रहण किया गया है । ऐसा होने पर तो समवाय को स्वरूप सम्बन्ध के अंतर्गत ही लिया जा सकता है । उसे पृथक् सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

यदि समवाय की यह आधारहीनता सिद्ध है तब तो न्याय-वैशेषिक का सम्पूर्ण तात्त्विक ढांचा ही चरमरा जायेगा और तब बाह्यार्थवाद भी आधारहीन सिद्ध तो जायेगा जो न्याय-वैशेषिक की मूल मान्यता है ।

८०/१४ गुड़गाँव-१२२००१ स्नेहलता माहेश्वरी
(हरियाणा)

टिप्पणियाँ

१. इहेदमितियत: कार्यकारणयो: स समवाय:। **वैशेषिक सूत्र**

२. द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम्। **वैशेषिक सूत्र**, I. i. १८

३. अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां य: सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतु: स समवाय:। **प्र. पा भा**, पृ. ६६३.

४. अवयवाऽवयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनो: क्रिया क्रियावतोर्नित्यद्रव्य-विशेषयोश्च य: सम्बन्ध: स समवाय: । **न्या. सि. मु** पृ. ६५ समवाय प्रकरणं ।

५. ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ।
–तर्कभाषा (मुसलगांवकर) पृ. ३१.

प्रोफेसर जी. आर्. मलकानी निबंध-प्रतियोगिता

किसी भी भारतीय शिक्षा–संस्था में अध्ययन करनेवाले और २५ वर्षो से जादा उम्र न होनेवाले स्नातक–पूर्व या स्नातकोत्तर छात्र। छात्राओं से प्रोफेसर जी. आर्. मलकानी निबंध प्रतियोगिता के लिये "सांख्य की मूलप्रकृति की संकल्पना," इस विषयपर **अंग्रेजी या हिन्दी में** निबन्ध आमन्त्रित किया जा रहे हैं। प्रतियोगिता के लिये स्वीकृत निबन्धों के अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों के मतानुसार प्रथम तथा द्वितीय निबन्धों को क्रमशः रुपये २००।– और रुपये १००।– के पारितोषिक दिये जायेंगे, और पारितोषिक-प्राप्त निबन्ध कालान्तर से **इण्डियन फिलॉसॉफिकल क्वार्टर्ली की छात्र-परिशिष्ट** या **परामर्श (हिन्दी)** इन त्रैमासिकों में प्रकाशित किये जायेंगे। उक्त पारितोषिक के लिये पेश किये जानेवाले निबन्धों को निम्मनलिखित शर्तों के अनुसार प्रस्तुत करना होगा :–

१) निबन्ध डबल स्पेस में कागज की एक बाजू पर टंकलिखित किया हुवा और दो प्रतियों में होना चाहिये।

२) निबन्ध २५०० शब्दों से जादा लम्बाई का न हो।

३) निबन्ध के साथ छात्र / छात्रा जिस संस्था में अध्ययन करता / ती हो उस संस्था / विभाग के प्रमुख अध्यक्ष का ऐसा प्रमाणपत्र होना चाहिए कि

अ) छात्र / छात्रा उक्त संस्था / विभाग में अध्ययन कर रहा / ही है और उसकी उम्र २५ वर्षो से जादा नहीं है।

ब) प्रतियोगिता में प्रस्तुत निबन्ध उक्त छात्र / छात्रा ने लिखा हुआ है।

४) यह आवश्यक है कि प्रतियोगिता के लिये प्रस्तुत किये जानेवाले निबन्ध डॉ. मंगला रा. चिञ्चोरे जी के पास दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिण्ड, पुणे ४११००७ इस पते पर हर हालत में ३१–५–१९९० तक पहुँच जाने चाहिये।

५) अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों का निर्णय सारे प्रतिस्पर्धियों पर बन्धन-कारक होगा और उक्त विषय में किसी भी प्रकार पत्राचार नहीं किया जायगा।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
गणेशखिण्ड, पुणे -- ४११००७

प्रसाद के उपन्यासों में युगचेतना

उपन्यास यथार्थ मानव–अनुभवों एवं सत्य के उद्घाटन का प्रयास है। यह जीवन की अनेकता में एकता तथा अपूर्णता में पूर्णता स्थापित करने की चेष्टा करता है। उपन्यास के इतिहास या उसकी आलोचना का अध्ययन करते समय यही बात विशेषत: विचारणीय है कि लेखक–जीवन का अपना अनुभूत सत्य भी उसके अपने समाज और राष्ट्र का व्यापक सत्य होता है। वही छन कर उसकी रचना में आता है, जिससे पाठक अपना निकटतम परिचय स्थापित करता है। ध्यातव्य है कि उपन्यास आरम्भ से ही राष्ट्र–भावना से सम्बद्ध रहा है। यथार्थ मूर्त रूप धारण कर वह पाठकों के सम्मुख प्रकट होता है। कविता शब्द–साधना अधिक है। इसलिए उसमें अपार्थिवता है, परंतु उपन्यास जीवन के एकदम निकट है। वह हमारे परिचित समाज, व्यक्तियों और तथ्यों का चित्रण करता है। इसीलिए उपन्यास पढ़ने के बाद हम अनुभव करने लगते हैं–'ऐसा ही होता है।' "इस प्रकार साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास में जीवन की यथार्थता, सत्यता, आवश्यकताएँ, सम्भावनाएँ और स्वतंत्रता, व्यक्तित्व एवं मूल्यों का निरूपण अधिक होता है।"[१] जिस तथ्य को हम नहीं जानते, उन्हें भी उपन्यासकार अभिव्यक्ति प्रदान कर हमारे समक्ष साकार कर देता है। उसकी रचना से समाज में प्रचलित सत्य की अनुभूति घनीभूत हो उठतीं है। सच पूछिए, तो जीवन की यथार्थता एवं सत्योद्घाटन में ही उपन्यास का सामाजिक महत्त्व है। "इसी सामाजिक महत्त्व का निर्वाह करने से वह पाठकों में मानवता के नए आदर्श और मानव–मूल्यों की स्थापना करता है।"[२]

उन्नीसवीं शताब्दी अनेक कारणों से उपन्यास के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि बनी। इसी शताब्दी में जब युरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न

विचारादर्श का प्रभाव भारतीय जीवन पर पड़ा, तब नवोत्पन्न मध्यवर्ग ने नवीन शिक्षा प्राप्त कर सामन्तवादी जीवन–क्रम की परिधि तोड़ डाली।[२] इन कारणों से समाज में परिवर्तन होना शुरु हुआ और उसने करवट बदली, तो हिन्दी में उपन्यास का जन्म हुआ। उपन्यास के दो प्रमुख पोषक तत्त्व हैं– सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक जीवन की प्रखरता। इंग्लंड की विचार–धारा के साथ सम्पर्क के फलस्वरूप व्यक्ति–महत्ता, समाज में उदारतावादी, साथ ही मानवतावादी और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के जन्म ने मध्यवर्ग को विशेष धरातल पर स्थापित कर उपन्यास को उसका दर्पण बनाया।

इस शताब्दी का महत्त्व इसलिए भी आँका जाता है कि इसी समय भारतवासियों ने अपने गुण–दोषों का सार्वजनिक विश्लेषण किया। अनिश्चितता की भटकन के साथ उसमें बौद्धिक सक्रियता का स्पंदन था। उपन्यास उसी स्पंदन का मानदण्ड बना। मनुष्य यथार्थ को जरा मुश्किल से जज्ज कर सकता है। उपन्यास ने इस मुश्किल को आसान बनाया और कुज्झटिकाच्छन्न वातावरण में समाज की नई मूर्ति गढने में सहायता पहुँचाई। विद्वानों का विश्वास है कि पश्चिम से सम्पर्क नहीं स्थापित होता, तो भी उन्नसवीं शताब्दी जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होतीं, तो देश को उपन्यास जैसा साधन ग्रहण करना पड़ता। जटिलता, उलझन, संघर्ष को जितने व्यापक रूप में उपन्यास व्यक्त कर पाता है, उस तरह महाकाव्य नहीं।[३] जहाँ तीव्र परिवर्तनशीलता ही जीवन–क्रम बन जाए, वहाँ उपन्यास अनिवार्य है। जयशंकरप्रसाद जैसे इतिहास–प्रेमी साहित्यकार की सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति भी उपन्यासों द्वारा ही हुई।

रचना की दृष्टि से प्रसाद का पहला उपन्यास है **कंकाल** (१९२९)। इसके पूर्व १९२२ में प्रेमचन्द ने लिखा **रंगभूमि**। इस उपन्यास में राष्ट्रीय स्तर की अनेक समस्याओं को लिया गया। सबसे मूल में थी एक समस्या–विदेशी शासन, जो आर्थिक विषमता पैदा कर वर्गभेद बढ़ाता था और पारस्परिक कलह को बढ़ावा देता था। धनी–गरीब, किसान–जमींदार, पूंजीपति–मजदूर जैसे भेद कायम कर जनता का शोषण कर रहा था। हिन्दू–मुस्लिम में साम्प्रदायिकता की आग भड़का रहा था। शासन दूर खड़ा इस जलती आग की आँच ताप रहा था। काँग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय युद्ध छिड़ चुका था। **रंगभूमि** सत्य–असत्य का भीषण संघर्ष लेकर सत्य की विजय का प्रयास करता रहा। असत्य कई रूपों में छाया हुआ था। पूरी विदेशी सत्ता तो असत्य है ही, लोभ, स्वार्थ और भय से ग्रस्त देश के अपने कहे जानेवाले लोग भी असत्य हैं।[४] प्रेमचन्द ने सूरदास के माध्यम से देश की इस बिकट समस्या से साक्षात्कार कराया और समाधान के लिए प्राणपन से जुटे रहे। **कंकाल** का महत्त्व इन साम्प्रतिक समस्याओं से रू–बरू कराने में

उतना नहीं है, जितना एक नई शुरूआत करने में है। कंकाल प्रसाद और उनके काल की कृतियों के बीच यथार्थ का एक नया आयाम लेकर उभरता है। जहाँ प्रेमचन्द आदर्शवाद की दुहाई देते, उसे जबरन आरोपित करते और प्रयत्न करते कि देवीदीन खटिक और जोहरा जैसे अतिसाधारण, दुर्बलताओं के पुतले भी आदर्श की महिमा मंडित पताका हराने के कारण बने, वहां प्रसाद शुद्ध यथार्थवाद के धरातल से उभरते हैं, जिसमें बिना किसी महत्ता या आदर्श के आरोपण के समाज की विषमता को तटस्थभाव से चित्रित किया गया है।[५] डॉ. प्रेम शंकर का कहना है -- " प्रसाद मुख्यतया आदर्श की भूमिका पर कार्य करनेवाले रचनाकार हैं, किन्तु कंकाल उनकी एक ऐसी कृति है, जिसमें पूर्णतया यथार्थ का आग्रह है। इस दृष्टि से उनका यह उपन्यास विशेष स्थान रखता है।" [६]

यथार्थवाद का आरम्भ प्रेमचन्द कर चुके थे। कंकाल से पूर्व ही सेवा-सदन का प्रकाशन हुआ था। कंकाल सेवा-सदन से अपनी प्रकृति में थोड़ा भिन्न ठहरता है। इसलिए कि (क) इसमें प्रेमचन्द की अन्य कृतियों के समान आदर्श-वाद का आरोपण नहीं है (ख) इसके यथार्थ में लेखक की आत्म-सम्पृक्ति न हो कर तटस्थता है। इस उपन्यास ने प्रेमचन्द के आर्थिक वैषम्य को आधार न बना कर वर्तमान काल की धार्मिक और सांसारिक मनोवृत्तियों के द्वंद्व को आधार बनाया है। सचाई यह है कि धार्मिक संस्थाएँ और लोग सांसारिक वासना से आक्रान्त हो चुके हैं। उनकी नैतिकता एक विचित्र द्वंद्व एवं संशय-गुहा में भटक रही है। सत्य के संधान में निकलते हैं, निरंजन, बाथम जैसे लोग (कंकाल) जो अपने ही भीतर निहित वासनाओं के कर्दम में फंस जाते हैं। इससे वे एक ऐसा जाल बुनते हैं कि स्वयं तो उसमें फंस ही जाते हैं, औरों को भी उसमें उलझाए रहते हैं। सबसे बडी त्रासदी तो यह है कि पथभ्रष्ट पतित लोग सत्यद्रष्टा होने का भ्रम पालते हैं। इस क्रम में कितनी किशोरियां, कितनी ललिकाएँ या तो वर्बाद हो जाती हैं या ऐसा पथ चुनती हैं, जो निरन्तर एक नए छद्म की आवश्यकता रखता है।[७]

प्रसादजी का विश्वास है कि धर्म हमारे समाज को पतित होने से बचा नहीं सकता। उसने अपने भीतर पैदा होनेवाली नित-नूतन विसंगतियों से वर्णसंकरी समाज की रचना नहीं की है। सामाजिक विसंगतियाँ धार्मिक अंधविश्वासों एवं अत्याचारों की कोख से जनमती हैं। धर्म का यही मिथ्या-बोध नाना अनर्थों का कारण बनता है। मिथ्याबोध का यह आतंक अनेक प्रकार से समाज को रसातल में ले जाता है। यह भूली भटकी अपनी बहू-बेटियों को सामाजिक स्वीकृति दिलाने में बाधक बनता है। अविवाहिता या विधवा स्त्रियों को मां

बनाकर परित्यक्त करवाता है और वह नारकीय जीवन की यंत्रणा झेलने को विवश हो जाती हैं।

कंकाल में यहाँ से वहाँ तक मंगल, विजय, घंटी, यमुना, गाला जैसे धर्म और समाज के मारे हुए, भटके तथा वर्णसंकरी अभिशाप से ग्रस्त पात्र बिखरे हुए हैं।[८] अनेक पात्रों के प्रणय–सूत्र आपस में बडे उलझे हुए हैं। लोकापवाद से डरे, सहमे, सिकुडे ये पात्र इतने दुर्बल हैं कि इनके प्रेम–सम्बन्ध भी अस्पष्ट, कई-कई गांठों वाला है। यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि किसका प्रेम किससे है और कब वह बदल जाएगा।

इस उपन्यास की कथा वस्तु मुख्यतया मध्य वर्ग से सम्बन्धित है। समाज के बहुविध चित्र यहाँ उभारे गए हैं, जिनसे वर्तमान का एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत होता है। वेश्यालयों की दयनीय स्थिति के मार्मिकांकन के साथ ही काशी, प्रयाग, हरिद्वार जैसे तीर्थ–स्थानों के साधु संतों का वर्णन एक विरोध अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु यथार्थ को विस्तार देने की दृष्टि से यह उचित ही है। सामाजिक यथार्थ के अंकन में प्रसाद ने कहीं–कहीं व्यंग्य का भी सहारा लिया है, यद्यपि यह इनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं है तथापि यथार्थ की सार्थकता तीक्ष्ण व्यंग्य से ही अंकित होती है। कंकाल में एक ऐसा समाज चित्रित है, जिसकी आधार हिल गई है, पुरानी आस्थाएँ धराशायी हो गई हैं। धर्म के ठेकेदार पादरी किसी युवती की परिस्थिति का लाभ उठाकर उसके साथ यौनाचार करते हैं। समाज में स्त्रियों की दयनीय स्थिति, असुरक्षा देख कर घंटी कहती है —" हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, इसमें उनके लिए कोई अधिकार हो, तब तो सोचना विचारना चाहिए।"[९] इसी प्रकार जमुना कहती है–" कोई समाज स्त्रियों का नहीं बहन। सब पुरुषों के हैं, स्त्रियों का एक धर्म है, आघात सहने करने की क्षमता।... '[१०] प्रचलित सामाजिक विषमता, अंधविश्वास, भेदभाव, पाखंड के स्थान पर प्रसाद उदार मानवीयता पर आधारित एक नए समाज की संकल्पना करते हैं।

कंकाल में प्रसाद ने स्पष्ट कर दिया है कि जितने सफेदपोश हैं, सभी वर्ण-संकर हैं और जाति तथा वर्ण का मिथ्या अहंकार व्यर्थ है। पीड़ित मानवता की मार्मिक व्यंजना हुई है इस उपन्यास में, जो अपना व्यापक प्रभाव छोडे बिना नहीं रहता है। डॉ. मक्खनलाल शर्मा का कहना है– " कंकाल यथार्थवादी-समस्यामूलक उपन्यास है, जिसमें केवल समस्याओं को उठाया गया है, उनका हल नहीं दिया गया है। कला की दृष्टि से यह उच्चकोटि का मान–दंड माना गया है, जबकि कलाकार अपने उद्देश्य को अधिकाधिक गुप्त और अप्रत्यक्ष रखता है।"[११]

कंकाल प्रमुखत: एक कवि की रचना है। इसलिए यथार्थ का चित्रण होते हुए भी कवि की भावुकता यत्र-तत्र झलकती है। विशेषकर लंबे उद्धरणों में, जहाँ विचारों का क्रम है। **कंकाल** की शक्ति उसका समाज-दर्शन है, जिसमें निश्चित रूप से व्यक्ति की प्रतिष्ठा है। व्यक्ति की यह स्वतन्त्रता सामाजिक दायित्व एवं व्यापक मानवीयता पर आधारित है।

सामाजिक यथार्थ की भावभूमि में प्रेमचन्द अपना उपन्यास लिख रहे थे। उन्होंने ही स्त्री-समस्या पर विचार नहीं किया वरन् उस युग में ऐसे भी उपन्यास[१२] लिखे गए, जिनमें नारी के आदर्श का खुल कर चित्रण हुआ। नारी-पात्रों को जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में रख कर उनके चरित्र की विशेषताओं का सुन्दर वर्णन किया गया। **तितली** (१९३४) में प्रसाद ने एक कलापूर्ण आदर्श प्रस्तुत किया और नारी को उससे प्रेरित करके भारतीय संस्कृति और आदर्श की ओर उन्मुख किया। **तितली** की तुलना में यूरोपीय महिला शैला को प्रस्तुत किया और दो विभिन्न तथा परस्पर-विरोधी जीवन-दर्शनों की तुलना करके सिद्ध किया कि भारतीय नारी के लिए कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है। इसी काल में नारी की वीरता से ओत-प्रोत अनेक उपन्यास (जिनमें ऐतिहासिक उपन्यासों की संख्या अधिक है) लिखे गए, जिनमें **तितली** का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

श्रम के महत्त्व को प्रतिष्ठा और ग्रामराज्य के आधारभूत सिद्धान्त खद्दर की प्रतिष्ठा-स्थापना से हिंदी कथाकार भी ग्रामीण जनता की ओर उन्मुख हुए। बंगला में लिखा गया **पल्ली समाज**। प्रेमचन्द ने **प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प** और **कर्मभूमि** में जिस कृषक-समस्या को उठाया, वह **गोदान** का अमर वरदान पाकर धन्य हो गई। प्रसाद ने **तितली** में इस समस्या पर विविध पहलुओं से दृष्टिपात किया। किन्तु सारी परम्परा और पृष्ठभूमि प्रेमचन्द की ही है। **तितली** की वजरिया **प्रेमाश्रम** के आश्रम का ही प्रतिरूप है।

ग्रामीण क्षेत्र में छूआछूत, ऋण, वर्ण-व्यवस्था, जमींदारी-प्रथा, पारम्परिक वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, पुलिस तथा शासक का अत्याचार, झूठी मुकदमेबाजी, बेगार, घूस, बहु-विवाह, अनमेल विवाह, अकाल, महावृष्टि, खेतों पर अतिरिक्त बोझ, कृषि श्रमिक प्रश्न तथा पूंजीपति का कारखाने हेतु भूमि हस्तगत करना और अंग्रेजों का ग्रामीण भूमि में नील की कोठी बनाकर अन्न के स्थान पर नील की खेती करना आदि हैं। अन्तिम प्रश्न **तितली** और उससे पहला **रंगभूमि** में अपनी सम्पूर्ण सम्भावनाओं के साथ उभारा गया है। शेष प्रश्न तो प्रेमचन्द, मन्नन द्विवेदी (**रामलाल** १९२१) तथा शिवपूजन सहाय (**देहाती दुनिया**) १९२६) आदि अनेक उपन्यासकारों ने उठाए हैं।

तितली में प्रमुख रूप से ग्राम-जीवन के चित्र और समस्याओं का समावेश किया गया है। एक ओर इन्द्रदेव को लेकर सामन्ती वातावरण का चित्रण है, तो दूसरी ओर बाबा रामनाथ और मधुआ ग्रामीण जीवन का प्रकाशन करते हैं। भूमिहीन किसानों में क्रांति विद्रोह का भाव है, जो मधुवन में स्पष्ट है। ग्रामोद्धार के अनेक प्रयत्न होते हैं- "तीसरे दिन जहाँ बाजार लगता है, वहीं एक अच्छा सा देहाती बाजार बसाना होगा, जिसमें करघे के कपड़े, अन्न बिसाती खाना और आवश्यक चीजें बिक सकें।...किसानों में खेती की सुविधा हो।"[१३] ध्वस्त होती सामन्तवादी प्रथा की सूचना तितली में मिलती है। महाजनों का शोषण, महतों का पाखंड इसमें अंकित है। गोदान जैसी विशाल आधारभूमि तितली को प्राप्त नहीं हो सकी है।

तितली मनुष्य बनाम समाज के संघर्ष का ही उपन्यास न होकर मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा का भी उपन्यास है। इसमें तितली, शैला, माधुरी, श्याम-कुमारी, राजकुमारी आदि चरित्र वर्ग-चरित्र न होकर ऐसी नारियाँ हैं, जो अपनी कमजोरियों के कारण टूटती भी हैं और उसी से शक्ति अर्जित करके सामाजिक जीवन को बदलती भी हैं।

इस उपन्यास में महात्मा गांधी की मूल्य-चेतना के साथ-ही-साथ उस समत्व की भी खोज की गई है, जिससे एक वैश्विक सामरस्य का सृजन सम्भव हो सकता है। पुरुष-सत्तात्मक व्यवस्था के प्रति विद्रोह के साथ सम्भव बराबरी का लक्ष्य इस उपन्यास में निरन्तर बना हुआ है। त्याग, प्रेम, समता और करुणा के साथ-साथ इसमें इन मूल्यों के कारण मनुष्य में होने वाली हलचलों का संकेत औपन्यासिक शिल्प के विकास और क्षमता का भी प्रमाण प्रस्तुत करता है। अर्थमय जगत् में आत्म-संस्कार की आवश्यकता महात्मा गांधी की तरह इस उपन्यास में सृजनात्मक आदर्श की तरह संरचना के साथ बुनी हुई है। सेवा-भावना निष्कामता के साथ जुड़कर वाटसन और स्मिथ आदि चरित्रों का निर्माण कर सकी है। वर्तमान हिन्दी उपन्यास के समझने में ही नहीं, बल्कि आधुनिक चेतना तथा सत्याग्रह कालीन दृष्टि के संतुलन और वैषम्य की दृष्टि से भी यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि इरावती (१९४०) ऐतिहासिक उपन्यास है, तथापि इसमें भी प्रसाद ने अतीत की प्रत्यंचा चढ़ाकर भविष्य के लक्ष्यभेद का प्रयास किया है। यह उपन्यास उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ और अधूरा है, फिर भी इसकी सम्भावनाओं को स्वीकारा जा सकता है। अन्य दो उपन्यासों में इन्होंने समाज को अंकित किया, उसकी समस्याओं से सामना किया, परन्तु इस उपन्यास में वे पुनः अतीत की ओर लौट गए हैं। इसकी मुख्य समस्या एक महाधर्म (बौद्ध-

धर्म) की पतनोन्मुख अवस्था से सम्बन्धित है। अमात्यकुमार, बृहस्पति मित्र अपनी हिंसात्मक प्रवृत्ति का प्रकाशन इरावती में स्थल-स्थल पर करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह अहिंसा का एक विपर्यय बनकर आया है। मौर्य साम्राज्य का यह प्रतिनिधि प्रियदर्शी अशोक की तुलना में उसका विरोधी प्रतीत होता है। इसी प्रकार बदले हुए वातावरण का संकेत करते हुए एक स्थान पर इरावती में प्रसाद ने एक पात्र से कहलवाया है–" धर्म के नाम पर शील का पतन, काम सुखों की उत्तेजना और विलासिता का प्रयास तुमको भी बुरा नहीं लगता न। स्वर्गीय देवप्रिय सम्राट् अशोक का धर्मानुशासन एक स्वप्न नहीं था। सम्राट् उस धर्म विजय को सजीव रखना चाहते थे, किन्तु वह शासकों की कृपा से चलने पावे तब तो। तुम्हारी छाया के नीचे ये व्यभिचार के अड्डे, चरित्र के हत्यागृह और पाखंड के उद्गम स्थल हैं।"[१४] देव मंदिरों में विलासिता का वातावरण धर्म की पतनावस्था को घोषित करता है। मंदिरों के प्रांगण में नर्तकियों का गायन इसका प्रमाण है।[१५]

इस अधूरे उपन्यास का गौरव एक ओर यदि इतिहास के माध्यम से सांस्कृतिक पतन के चित्रण में है, तो दूसरी ओर उसके परिपुष्ट शिल्प में निहित है। उनकी भाषा बौद्ध युग के वातावरण के चित्र में सजीव और समृद्ध है। इतिहास-युग के अनुरूप सामग्री का चयन इरावती में हुआ है। "एक साथ सूर्य, शंख, पटह की मन्द ध्वनि से वह प्रदेश गूंज उठा। स्वर्ण-कपाट के दोनों ओर खडे कवचधारी प्रहरियों ने स्वयं निर्मित राजचिन्हों को उपर उठा लिया।"

यह उस परम्परा का ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें इतिहास के एक खंड को उनकी समस्त संगति-विसंगति में मूर्तिमान कर दिया जाता है। प्रस्तुत उपन्यास में जीवनरस को सोखने वाले बौद्ध-धर्म की कठोर ठंडी व्यवस्था, उष्मा को निगलने वाली उसकी खोखली अहिंसा-नीति तथा विलासी, कमजोर राजा के राज्य में उत्पन्न होने वाली अव्यवस्था, असुरक्षा के भाव, षडयंत्र आदि का जीवंत चित्रण हुआ है। तत्कालीन समाज अपने राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिवेश में सजीव हो उठा है। डॉ. रामदरश मिश्र का कहना है– " लेखक स्वकालीन जीवन-चेतना की अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं है, किन्तु पुरे उपन्यास में उसकी मानवीय जीवनदृष्टी व्याप्त है। समस्त बन्धन से जीवन-रस को मुक्त करना इसका उद्देश्य प्रतीत होता है।"[१६]

इरावती, कालिंदी, अग्नि-मित्र, पुष्य-मित्र और बृहस्पति-मित्र, ब्रह्मचारी आदि चरित्र केवल कथा की वृद्धि नहीं करते, केवल रहस्य को घना करके उपन्यास को रोमांचक ही नहीं बनाते, बल्कि मानव-मन का उद्घाटन कर यथार्थ के कारण की ओर संकेत करते हैं। सामन्ती मूल्यों के साथ-साथ इसमें उस

सामयिक परिवर्तन का संकेत है, जो वर्ग और जाति की दीवारों को तोड़कर उपजता है, और नए समाज में रूपांतरित हो जाता है।

इस प्रकार प्रसाद ने अपने तीन उपन्यासों में तत्कालीन ज्वलंत समस्याओं के साक्षात्कार के साथ-साथ मानव-मन की अतल गहराइयों में अवगाहन किया है। भारतीय संस्कृति के सही अर्थ को आयाम दिया है और परिवर्तनकामी समाज में परिवर्तन की अनुकुल भूमि तैयार की है। प्रेमचन्द ने जिस यथार्थोन्मुख आदर्शवाद एवं सामाजिक यथार्थ की अपने उपन्यासों में आजीवन वकालत की, प्रसाद में उसका पुष्ट एवं प्रोज्वल रूप मिलता है, किंचित् भिन्न रूप में। कहना नहीं होगा कि प्रसाद और उपन्यास लिख पाते, तो निश्चय ही मील के पत्थर साबित होते। भाषा और शिल्प की धनी हैं प्रसाद की औपन्यासिक कृतियाँ, उसका कवि जो उसके साथ है।

'वृन्दावन'
राजेन्द्र पथ
धनबाद-८२६००१.
(बिहार)

मृत्युञ्जय उपाध्याय

टिप्पणियाँ

१) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; **हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ**, १९७०, पृ. ११.
२) उपरिवत्, पृ. ११.
३) आचार्य नलिन विलोचन शर्मा; 'हिन्दी का उपन्यास साहित्य' **आलोचना**, उपन्यास विशेषांक १९५७, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली २.
४) डॉ. रामदरश मिश्र; **हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा**, पृ. ४८.
५) उपरिवत् पृ. ५८.
६) **हिंदी साहित्य कोश**, भाग २, सं. २०२०, ज्ञानमंडल, वाराणसी; पृ. ५६.
७) **हिन्दी उपन्यास** : **एक अन्तर्यात्रा**, पृ-५८
८) उपरिवत्, पृ. ५९
९) कंकाल पृ. ७३
१०) कंकाल, पृ. ७७

११) हिंदी उपन्यास पुस्तक में डॉ. मक्खनलाल शर्मा का लेख 'हिंदी उपन्यास का क्रमिक विकास : प्रेमचन्द युग' पृ. १५८
१२) भगवती प्रसाद वाजपेयी; **त्यागमयी**, १९३२
शिवरानी देवी; **नारी हृदय १९३२**
गोविन्दवल्लभ पन्त; **मदारी १९३६**
उषादेवी मित्रा; **बचन का मोल**–१९३६ आदि
१३) **तितली**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८५, पृ. ५६.
१४) **इरावती**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८५, पृ. १४.
१५) **हिंदी साहित्य कोश**, भाग २, पृ. ३९
१६) **हिंदी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा** पृ. १५२

परामर्श (हिन्दी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण
फॉर्म ४ (नियम ८ देखिये)

१. प्रकाश स्थान : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे – ४११००७

२. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक

३. मुद्रक का नाम : डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
पता और राष्ट्रीयता : १ मोरेश्वर हाऊसिंग सोसायटी, बाणेर रोड,
पुणे – ४११००७ भारतीय

४. प्रकाशक का नाम, : डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
पता और राष्ट्रीयता : १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी, बाणेर रोड,
पुणे ४११००७, भारतीय

५. सम्पादकों के नाम, : १. डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
पता और राष्ट्रीयता
१, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी,
बाणेर रोड, पुणे ४११००७ भारतीय

२. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद,
स्टेडियम मुख्य दरवाजे के सामने, प्रेमचन्द पथ;
राजेन्द्र नगर, पटना – ८००१६, भारतीय

३. डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित,
'कलापी', प्लॉट क्र. २५३७, पुलिस परिवहन
कार्यशाखा के पीछे, बाणेर रोड, औंध
पुणे – ४११००७, भारतीय

४. डॉ. मोरेश्वर प्रभाकर मराठे
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७, भारतीय

६. उन व्यक्तियों/संस्थाओं : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे–४११००७
के नाम व पते जो और प्रताप तत्त्वज्ञान, केन्द्र, अमलनेर –४२५४०१
समाचारपत्र के स्वामी हों। जिला–जलगाँव, (महाराष्ट्र)

मैं. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

– सुरेन्द्र बारलिङ्गे

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१४)
अवच्छेदकता

अवच्छेदकता का स्वरूप तथा उसके भेदों के विषय में पूर्व लेखों में पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। जिस प्रकार प्रतियोगिता का सम्बन्ध के रूप में प्रयोग होता है उसी प्रकार अवच्छेदकता का भी सम्बन्ध के रूप में अनेकत्र प्रयोग किया जाता है। किंबहुना अवच्छेदकता को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किये बिना अनेकत्र उपस्थित कार्य-कारण-भाव का सुविचरित स्पष्टीकरण ही नहीं किया जा सकेगा। किन्हीं दो वस्तुओं में कार्य-कारण-भाव बनने के लिये यह आवश्यक होता है कि वे दोनों ही वस्तुएँ एक स्थान में विद्यमान हों। लेकिन बहुत से ऐसे कार्य-कारण-भाव व्यवहार में देखे जाते हैं जहाँ कार्य और कारण (संयोग आदि) प्रसिद्ध सम्बन्धों से एक स्थान में (याने एकत्र) नहीं रहते हैं। परन्तु फिर भी उनमें कार्य-कारण-भाव माना जाता है। इस प्रकार के कार्य-कारण-भावों की व्याख्या करने के लिये प्रसिद्ध सम्बन्धों से भिन्न अवच्छेदकता (नियामकत्व) आदि सम्बन्धों का सहारा लेना पड़ता है।

उदाहरणार्थ, शाब्द-बोध, अनुमिति आदि प्रकार के (ज्ञानात्मक) कार्य-कारण-भाव दो प्रकार से' बनते हैं। आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से और विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से। याने इस प्रकार के ज्ञान के दोन प्रकार के नियामक होते हैं – आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से नियमित और विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से नियमित। 'आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से' (आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्या) का अर्थ होता है आत्मा (याने जानन वाले व्यक्ति) में रहनेवाले सम्बन्ध से, तथा 'विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से' (विषयनिष्ठ प्रत्यासत्या) का अर्थ होता है विषय में रहनेवाले सम्बन्ध से। शाब्द-बोध होने के लिये (याने शब्द से किसी पदार्थ का ज्ञान होने के लिए)

उक्त पदार्थ की उपस्थिति (का ज्ञान), योग्यता-ज्ञान (शब्दों की अबाधित अर्थवत्ता का ज्ञान,) तात्पर्य-ज्ञान (वक्ता को ईप्सित अर्थ का ज्ञान) आदि कारण (नियामक) होते हैं। शाब्द-बोध यह ज्ञान है और ज्ञान होने से वह आत्मा में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। अतः उक्त ज्ञान के उपर्युक्त योग्यता-ज्ञान आदि कारण (नियामक) आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः समवाय सम्बन्ध से शाब्द-बोध होने के लिये समवाय सम्बन्ध से योग्यता-ज्ञान का जो कार्य-कारण-भाव है वह आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्त्या कार्य-कारण-भाव कहा जाता है।

प्रत्यासत्ति का अर्थ है सम्बन्ध। योग्यता-ज्ञानादि शाब्द-बोध के कारण आत्मा (व्यक्ति) में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। वहीं पर (आत्मा में) शाब्द-बोध भी समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। समवाय सम्बन्ध से शाब्द-बोध उत्पन्न होने के लिये समवाय सम्बन्ध से योग्यता-ज्ञान का जो कार्य-कारण-भाव है वह आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से नियन्त्रित होनेवाला कार्य-कारण-भाव माना जाता है। इसी प्रकार अनुमिति और परामर्श में जो कार्य-कारण-भाव होता है (परामर्श अनुमिति का कारण है।) वह भी आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से होता है। परन्तु केवल आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से ही ज्ञानजनक कार्य-कारण-भाव नियन्त्रित होता है ऐसा मानने पर आपत्ति यह होती है कि जहाँ समवाय सम्बन्ध से अश्व की उपस्थिति है वहाँ गौ का भी शाब्द-बोध होना चाहिये। लेकिन वैसा वह नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिये उक्त कार्य-कारण-भाव में विषय का ग्रहण भी करना अनिवार्य हो जाता है। अर्थात् यह मानना पड़ता है कि समवाय सम्बन्ध से गौ-विषयक शाब्द-बोध होने के लिये समवाय सम्बन्ध से गौ-विषयक उपस्थिति कारण है। इस प्रकार प्रत्येक विषय का अलग अलग ग्रहण करने पर तथा ज्ञेय विषय अनन्त होने से तथा अनन्त विषयों के उल्लेख से गौरव दोष होता है उसे टालने के लिये नैयायिक विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से भी ज्ञानात्मक कार्यकारण-भाव की व्यवस्था स्वीकार हैं।

जिस प्रकार समवाय सम्बन्ध से ज्ञान आत्मा से सम्बधित है (इसी का उल्लेख सामान्यतः ज्ञान आत्मा में रहता है ऐसा बता कर किया जाता है।) उसी प्रकार ज्ञान विषयता सम्बन्ध (जिसका विवेचन अगले लेखों में किया जायगा) से विषय से भी सम्बन्धित रहता है। उदाहरणार्थ, शाब्द-बोध यह ज्ञान है। इसलिये वह और योग्यता-ज्ञानादि उसके कारण जिस प्रकार आत्मा से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार विषयता सम्बन्ध से विषय से भी सम्बन्धित हैं। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस प्रकार आत्मा और ज्ञान में होनेवाला समवाय सम्बन्ध ज्ञान का नियामक

है उसी प्रकार विषय में रहनेवाला विषयता सम्बन्ध भी उक्त ज्ञान का नियामक है।) विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति याने विषय में रहनेवाला विषयता-रूप सम्बन्ध। उस सम्बन्ध से शाब्द-बोध और उसके कारण विषय से सम्बन्धित होने से उनमें नियम्य-नियामक-भाव सम्बन्ध (और उस सम्बन्ध के आधारपर कार्य-कारण-भाव) सिद्ध होता है। और उसके स्पष्टीकरणार्थ अवच्छेदकता का सहारा लेना पड़ता है। यह विषयता अनेक प्रकार की होती है। जैसे, 'श्वेताश्व' यहाँ पर अश्व में रहनेवाली विषयता विशेष्यता या धर्मिता के रूप में गृहीत होती है। अश्व के समान अश्वत्व सामान्य भी उक्त ज्ञान का विषय होनेसे (क्योंकि किसी भी व्यक्ति का ज्ञान जाति के व्यतिरिक्त नहीं होता है ऐसा नैयायिक स्वीकार करते हैं।) उसमें रहनेवाली विषयता धर्मितावच्छेदकता (याने धर्मिता की नियामक) की अवच्छेदक संसर्गता के रूप में प्रतीत होती है, जबकि श्वेत रूप में रहनेवाली विषयता प्रकारता, श्वेतत्व में रहनेवाली प्रकारतावच्छेदकता तथा श्वेत और श्वेतत्व के बीच होनेवाले समवाय सम्बन्ध में रहनेवाली विषयता; प्रकारतावच्छेदकता वच्छेदकता के रूप में मानी जाती है।

विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से जो कार्य-कारण-भाव माना जाता है वहाँ कार्य (शाब्दबोध आदि) विषयता सम्बन्ध से विषय की ओर से नियन्त्रित होता है, आत्मा (व्यक्ति) से नहीं। और वहीं पर (याने विषय से) कारण भी उसी सम्बन्ध से रहने के कारण ही विषय में और शाब्दबोध तथा उसके कारण योग्यता-ज्ञानादि में कारण-कार्य-भाव सिद्ध होता है। (यही बात नैयायिक सामान्यत: इस प्रकार बताते हैं – ज्ञान जिस प्रकार समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है उसी प्रकार वह विषयता सम्बन्ध से विषय में रहता है। इसका मतलब इतना ही है कि जिस प्रकार समवाय सम्बन्ध से आत्मा (ज्ञान का आश्रय होने से) ज्ञान का नियामक है उसी प्रकार विषय (विषय में रहनेवाली विषयता का आश्रय) विषयता सम्बन्ध से ज्ञान का नियामक है। उदाहरणार्थ, 'नीलोत्पलम्' इस वाक्य से होनेवाला शाब्द-बोध धर्मिता-रूप विषयता सम्बन्ध से उत्पल का होता है, क्योंकि उत्पल यहाँ पर धर्मि (विषय) है। अतः धर्मिता उत्पल में होने से धर्मिताख्य विषयता सम्बन्ध से शाब्द-बोध उत्पल (में होता है) से नियन्त्रित होता है, और उसी उत्पल से (याने उत्पल में होनेवाले धर्मिताख्य विषयता सम्बन्ध से) योग्यता-ज्ञानादि भी नियन्त्रित होते हैं। उसी तरह उक्त वाक्य से होने वाला शाब्द-बोध उत्पलत्व में होनेवाले धर्मितावच्छेकता सम्बध से नियन्त्रित होता है। क्योंकि 'उत्पलत्व' यहाँ उत्पल में रहनेवाली धर्मिता का अवच्छेदक (नियन्त्रक) है। उसी प्रकार उसी वाक्य से होनेवाला शाब्दबोध प्रकारता नामक विषयता सम्बन्ध से 'नील' से नियन्त्रित होता

है क्योंकि नील वहाँ प्रकार के रूप में प्रतीत होता है, जबकि नील में रहनेवाला नीलत्व यह धर्म प्रकारतावच्छेदक (प्रकारता का नियन्त्रक) के रूप में भासित होने से प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से वही शाब्दबोध नीलत्व से नियन्त्रित होता है। नील और नीलत्व का जो समवाय सम्बध भी उक्त शाब्दबोध का विषय होता है वहाँ प्रकारतावच्छेदकतावच्छेकता सम्बन्ध से शाब्दबोध नियन्त्रित होता है। इस प्रकार उत्पल, उत्पलत्व, उनका समवाय, नील, नीलत्व और उनका समवाय तथा उत्पल और नील का अभेद सम्बन्ध (क्योंकि उत्पल और उसका नील धर्म एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते) ये सभी उक्त वाक्य से होने वाले शाब्दबोध के विषय होने से ये सभी अलग अलग सम्बधों से उक्त शाब्दबोध के नियन्त्रक या नियामक हैं। इसलिये धर्मितावच्छेदकता आदि सम्बन्धों से उक्त शाब्दबोध के लिये उन्हीं सम्बन्धों से उपस्थिति इत्यादि को कारण मानना पड़ता है। इसके फलस्वरूप उक्त प्रकार के शाब्दबोध के स्पष्टीकरणार्थ तत् तत् वस्तुओं में रहने वाली अवच्छेदकताओं का सम्बन्ध के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसके बिना विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से नियन्त्रित होनेवाला कार्यकारण भाव ही उचित रूप से व्याख्यात नहीं हो सकेगा।

जब 'नीलोत्पलम्' इस वाक्य से वाक्य होनेवाले शाब्दबोध के विषय जितने पदार्थ होते है उनमें प्रत्येक से भिन्न सम्बन्ध से शाब्दबोध नियन्त्रित होता है। इसका चित्रण निम्नप्रकार से किया जा सकता है।
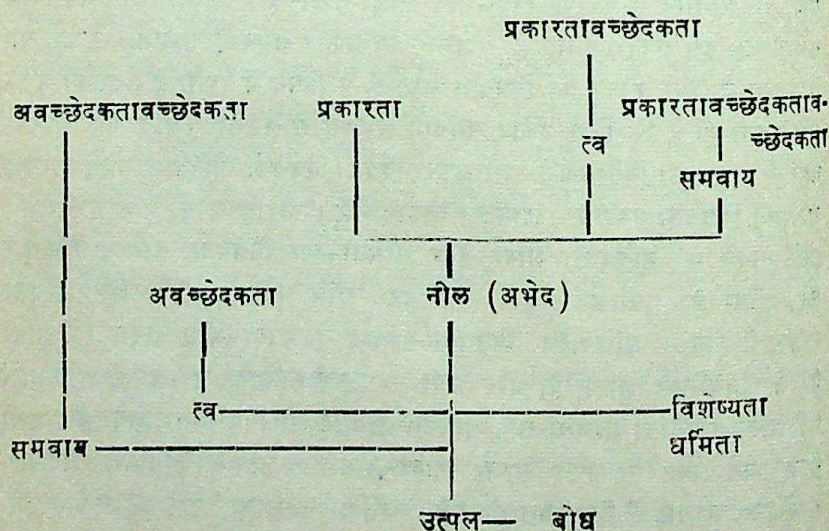
इस चित्र को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न पदार्थों की स्थिति एक दूसरे के समान नहीं है। उनमें रहने वाली अलग-अलग विशेषताएँ उनकी

भिन्न-भिन्न स्थिति को स्पष्ट करती हैं। इस तरह उक्त चित्र में दिग्दर्शित प्रत्येक पदार्थ का उक्त शाब्दबोध में भाव होता है। अतः उनमें से प्रत्येक से भिन्न-भिन्न सम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध नियन्त्रित होता है। जैसे, उत्पलत्व से धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध नियन्त्रित होता है, तो नीलत्व से प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से वह नियन्त्रित होता है। इस प्रकार अवच्छेकता का सम्बन्ध के रूप में व्यवहार होता है।

इस प्रकार विषयनिष्ठ सम्बन्ध के आधार पर शाब्दबोध का कार्यकारण की भाषा में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया जाता है – विषयता सम्बन्ध से शाब्द-बोध होने के लिये विषयता सम्बन्ध से उक्त पदार्थ की उपस्थिति कारण होती है।

यहाँ 'विषयनिष्ठप्रत्यासत्या' और 'आत्मनिष्ठत्यासत्या' इन दोन प्रकार के शाब्दबोध के नियामक कार्य-कारण-भावों पर कुछ और प्रकाश डालना अप्रासंगिक नहीं होगा।

ऊपर यह बताया गया कि विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध होने के लिये विषयता सम्बन्ध से उक्त पदार्थ की उपस्थिति कारण है। इस प्रकार का कार्य-कारण-भाव विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से नियन्त्रित होनेवाला कार्य-कारण-भाव है यह पहले ही कहा जा चुका है। विषयता यह विषय में रहनेवाली प्रत्यासत्ति अर्थात् सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध से आत्मा को (में) शाब्दबोध होने के लिये समवाय सम्बन्ध से शाब्दबोध की उपस्थिति कारण है यह आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति अर्थात् समवाय सम्बन्ध से होनेवाला कार्य-कारण-भाव है।

देवदत्त को पद से पदार्थ की उपस्थिति (ज्ञान) होने से यज्ञदत्त को शाब्द-बोध होने की आपत्ति के निवारण हेतु कार्यकारण-भाव के विचार में 'तत्पुरुषीयत्व' का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। अर्थात्, जिस पुरुष को जो शाब्दबोध होता है उस शाब्दबोध के लिये उसी पुरुष को होनेवाला पदार्थज्ञान कारण है। इस प्रकार विषयनिष्ठ सम्बन्ध के आधार पर कार्य-कारण भाव स्वीकार करने के बावजूद 'तत्पुरुषीयत्व' का उल्लेख आवश्यक हो जाता है, जबकि 'आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्त्या' कार्य-कारण-भाव का निर्धारण करने पर उसकी आवश्यकता नहीं होती। कार्य और कारण का एक स्थान में रहना आवश्यक होने से तथा समवायेन शाब्दबोध आत्मा (व्यक्ति) में उत्पन्न होने से तथा व्यक्ति अनेक होने से जिस व्यक्ति में पदार्थ की उपस्थिति रहेगी (याने जिस व्यक्ति को पदार्थ का ज्ञान होगा) उसी व्यक्ति को शाब्दबोध होने से तत्पुरुषीय के स्वतन्त्र उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति तथा आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति ऐसी दो प्रकार की प्रत्यासत्तियाँ उक्त

प्रकार के शाब्दबोध की नियामक होती हैं ऐसा स्वीकार करने के बजाय मात्र आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति वाला कार्य–कारण–भाव स्वीकार करने में लाघव है ऐसा कहा जा सकता है। लेकिन यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से आत्मा (व्यक्ति) में घट पदार्थ की उपस्थिति (ज्ञान) होने पर घट पदार्थ का शाब्दबोध होने की आपत्ति के निवारण के हेतु उक्त कार्य–कारण–भाव में विषयों का उल्लेख करना आवश्यक होता है। लेकिन इस प्रकार प्रत्येक विषय का उल्लेख करने से उक्त कार्य–कारण–भाव की अपेक्षा गौरव दोष ही प्रतीत होता है। विषयनिष्ठ सम्बन्ध के आधार पर कार्य–कारण–भाव की स्थापना में विषय का अलग उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि विषय का विषयता सम्बन्ध में अन्तःप्रवेश रहता है। जब घट में विषयता सम्बन्ध से उपस्थिति है (याने जब विषयता सम्बन्ध से घट का ज्ञान होता है) तो पट के बोध की आपत्ति के लिये कोई अवसर नहीं रहता है। कार्य और कारण दोनों एक स्थान में उपस्थित होना नियमतः आवश्यक होने से जब कारण पदार्थ की उपस्थिति आदि विषयता सम्बन्ध से घट में रहती है, तब उसका कार्य शाब्दबोध भी उसी सम्बन्ध से घट में उत्पन्न होता है जहाँ उपस्थिति–रूप कारण रहता है। विषयों के भिन्न–भिन्न होने के कारण विषयों में रहनेवाली विषयतायें भी भिन्न–भिन्न होती हैं। इसलिये जिस घट में विषयता सम्बन्ध से उपस्थिति आदि शाब्दबोध के कारण रहेंगे उसी में (याने उसी विषय से) उस सम्बन्ध से शाब्दबोध उत्पन्न होगा (याने नियन्त्रित होगा)। उक्त प्रकार की विषयता पट में न होने से घट की उपस्थिति होने पर पट का शाब्दबोध नहीं होगा। इस प्रकार से उक्त कार्य–कारण–भाव में विषय का अतिरिक्त उल्लेख करने की आवश्यकता न होने से आत्म (व्यक्ति) निष्ठ प्रत्यासत्ति के आधार पर होने वाले कार्य–कारण–भाव की अपेक्षा लाघव है।

परन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मान लीजिये एक ही घट देवदत्त के ज्ञान का विषय हुआ और वहीं घट उमादत्त के ज्ञान का भी विषय हो सकता है। तो वहाँ देवदत्त को घट का ज्ञान होने के बाद उमादत्त को भी शाब्दबोध होना चाहिये, क्योंकि कार्य और कारण की उपस्थिति और शाब्दबोध विषयता सम्बन्ध से घट (में) से ही नियन्त्रित होने से उनमें 'सामानाधिकरण्य' अक्षुण्ण ही है। उपस्थिति तथा शाब्दबोध के आश्रय व्यक्तियों की भिन्नता विषय-निष्ठ प्रत्यासत्ति के आधार पर होनेवाले कार्य–कारण–भाव में बाधक नहीं है।

विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य–कारण–भाव स्वीकार करने पर विषय ही विषयता सम्बन्ध से पदार्थ की उपस्थिति तथा शाब्दबोध का आश्रय (याने नियामक) होने से यज्ञदत्त को गौ की उपस्थिति होने पर देवदत्त को शाब्दबोध

होने की जो आपत्ति होती है उसके निवारण के हेतु कार्य-कारण-भाव में 'तत्पुरुषीय' का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव स्वीकार करने पर 'तत्पुरुषीय' का उल्लेख करने से आत्म (व्यक्ति) निष्ठ प्रत्यासत्ति से होने वाले कार्य-कारण-भाव की अपेक्षा गौरव दोष होता है, क्योंकि आत्म (व्यक्ति) निष्ठ सम्बन्ध (समवाय) के आधार पर कार्य-कारण-भाव का विवेचन करने पर 'तत्पुरुष' के उल्लेख की आवश्यकता नही होती है। इस तरह उसमें लाघव होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ विशेषण और विशेष्य की संख्या समान होती है – जैसे, 'नीलोघट:' इत्यादि में एक ही विशेषण और एकही विशेष्य होता है – वहाँ विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव स्वीकार करें या आत्म (व्यक्ति) निष्ठ कार्य-कारण-भाव स्वीकार करें कोई फर्क नहीं पड़ता है। क्योंकि आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव मानने पर तत्पुरुषीयत्व का निवेश स्वतन्त्रतया नहीं करना पड़ता है। उसी प्रकार ऐसी अवस्था में विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव मानने पर विषय का स्वतन्त्र उल्लेख न करने से लाघव होता है। परन्तु पहले प्रकार के कार्य-कारण-भाव में विषय का उल्लेख करना पड़ता है जबकि दूसरे में 'तत्पुरुषीयत्व' का उल्लेख करना पड़ता है। इस प्रकार दोनों तरह के कार्य-कारण-भावों में एक लाघव तथा एक गौरव होने से बराबरी ही रहती है।

परन्तु जहाँ विशेषण और विशेष्य समसंख्याक नहीं होते याने जिनमें न्यूनाधिक्य होता है वहाँ आत्म (व्यक्ति) निष्ठ सम्बन्ध से होने वाले कार्य-कारण-भाव की अपेक्षा विषयनिष्ठ सम्बन्ध से होने वाले कार्य-कारण-भाव के स्वीकार में लाघव होता है। जैसे 'नीलो घट; पीतो घट; सुन्दरो घट:' आदि। यहाँ पर विशेषण नील, पीत, सुन्दर आदि अनेक हैं, जबकि विशेष्य एक ही है। वहाँ यदि आत्म (व्यक्ति) निष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव स्वीकार किया तो 'समवायेन नीलो घट:' इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध के लिये समवायेन नील घट की उपस्थिति को कारण मानना पडेगा, तथा 'पीतो घट:' इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध के लिये समवायेन पीत घट की उपस्थिति को कारण मानना पडेगा। लेकिन इस प्रकार से पृथक् पृथक् कार्य-कारण-भावों को स्वीकार करने पर अत्यन्त गौरव दोष होता है।

विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति के आधारपर शाब्दबोध का कार्य-कारण-भाव स्वीकार करने पर प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से तत्पुरुष के शाब्दबोध के लिये प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से तत्पुरुष को होने वाली पदार्थ की उपस्थिति कारण होती है। इसलिये एक ही प्रकार के कार्य-कारण-भाव के आधार पर

'नीलो घटः' 'पीतो घटः' 'सुन्दरो घटः' इत्यादि अनेक घट-विशेष्य वाले सभी वाक्यों से होनेवाले शाब्दबोध और उसके लिये कारण होने वाले पदार्थोपस्थिति इत्यादि के कार्य-कारण-भावों की एकरूपता (अनुगम) स्थापित होती है। जहां नीलत्व, पीतत्व और सुन्दरत्व में शाब्दबोध के लिये आवश्यक उपस्थित्यादि कारण प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से रहते हैं वहीं पर शाब्दबोध भी प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। वहाँ कार्य-कारण-भाव के उच्चारण में अनेक नील, पीत आदि विशेषणों के स्वतन्त्र उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं होती है। विशेष्य (घट) एक है। अतः उसीका 'घटत्वावच्छिन्न' कह कर उच्चारण किया जाता है। इसलिये आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति के आधार पर होने वाले कार्य-कारण-भाव की अपेक्षा लाघव होता है। आत्मनिष्ठ समवाय सम्बन्ध के आधार पर वहाँ कार्य-कारण-भाव होने से वहाँ विशेष्य और प्रकारों का उच्चारण आवश्यक होता है।

उसी प्रकार 'घटो नीलः', 'पटो नीलः', 'मठो नीलः' इन वाक्यों से होने वाल शाब्द-बोध में जहाँ विशेष्य अनेक हैं और विशेषण एक ही है वहाँ भी आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव मानने पर समवाय सम्बन्ध से नील में रहने वाली प्रकारता से निरूपित घट में रहने वाली विशेष्यता वाले शाब्द-बोध के लिये समवाय सम्बन्ध से नील में रहने वाली प्रकारता से निरूपित घट में रहने वाली विशेष्यता वाली पदार्थ की उपस्थिति को कारण मानने पर उन-उन वाक्यों से होने वाले शाब्द-बोध और उनके अनुरूप पदार्थों की उपस्थिति के अलग-अलग ही कार्य-कारण-भाव मानने पर महान् गौरव दोष होता है।

इसके विरुद्ध विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति के आधार पर कार्य-कारण-भाव का विधान करने पर उक्त प्रत्यासत्ति के आधार पर उक्त वाक्यों से होने वाले शाब्द-बोध का कार्य-कारण-भाव इस प्रकार का होगा—नील में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से होने वाले उस व्यक्ति के शाब्द-बोध के लिये उसी सम्बन्ध से उसी व्यक्ति का पदार्थ-ज्ञान (उपस्थिति) कारण है। इस प्रकार का कार्य-कारण-भाव मानने पर एक ही कार्य-कारण-भाव के आधार पर 'घटो नीलः' इत्यादि एक नील विशेष्य वाले सभी वाक्यों के शाब्द-बोध और उपस्थिति सम्बन्धी कार्य-कारण-भाव की एकरूपता स्थापित होती है। क्योंकि घटत्व, पटत्व, मठत्व में जहाँ धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से जिस व्यक्ति की उपस्थिति और कारण रहते हैं वहाँ पर उक्त सम्बन्ध से उस व्यक्ति को शाब्द-बोध होता है। अनेक घट, पट आदि विशेष्यों के अलग-अलग उच्चारण की कोई आवश्यकता नहीं होती है। विशेषण एक ही होने से उसी का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से

कार्य-कारण-भाव मानने पर आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से होने वाले कार्य-कारण-भाव की अपेक्षा लाघव होता है। क्योंकि उक्त कार्य-कारण-भाव में विशेष्य और विशेषण दोनों का ही उल्लेख करना आवश्यक होता है।

इस प्रकार जहाँ विशेषण एकाधिक होते हैं वहाँ प्रकारतावच्छेदकता-सम्बन्ध से कार्य-कारण-भाव कहना उचित होगा। अनेक विशेषणों के स्वतन्त्र उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार जहाँ विशेष्य अनेक होते हैं वहाँ धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से कार्य-कारण-भाव कहना चाहिये। यहाँ अनेक विशेष्यों के अलग-अलग उच्चारण की कोई आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव स्वीकार करने में लाघव होने से उसे स्वीकार करने पर 'प्रकारतावच्छेदकता' तथा 'धर्मितावच्छेकता' को सम्बन्ध के रूप में प्रयुक्त करना पड़ता है। यही कारण है कि 'घटोघटः' यहाँ पर अभेदान्वय बोध की आपत्ति उठायी जाने पर आपाद का अभाव होने से उक्त आपत्ति नहीं शेष रहती इस उत्तर के विरोध में गदाधर ने कहा है कि वहाँ द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले शुद्ध घट-प्रकारक अभेदान्वयबोध की घटत्वादि में आपत्ति सम्भव है।[२]

केवल विषयतारूप अवच्छेदकता को ही सम्बन्ध माना है[३] यह बात नहीं है। अन्य दैशिकादि अवच्छेदकताओं को भी सम्बन्ध माना गया है। रघुनाथ शिरोमणि[४] के 'एकावच्छेदेन यावद्विशेषाभावत्वस्योपाधित्वाच्च' इस दीधिति-वचन की व्याख्या करते हुए जगदीश[५] ने कहा है कि एकावच्छेदेन का तात्पर्य है "अवच्छेदकता सम्बन्ध से तत् तत् अभावाधिकरण-स्थान का अवच्छेद्यता सम्बन्ध से अभाव होने से"। 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' यहाँ शाखा, मूल आदि अवच्छेदकता-सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता वाले कपिसंयोगाभाव के अधिकरण होते हैं। इस प्रकार वृक्ष में जो कपिसंयोगाभाव प्रतीत होता है उसका अधिकरण अवच्छेदकता सम्बन्ध से मूल होने से वह (कपिसंयोगाभाव) वृक्ष में माना जाता है (यद्यपि कपि उसी वृक्ष की शाखा पर बैठा हो)।

आत्म को 'इन्द्रियाधिष्ठाता' कहा गया है। आत्मा इन्द्रियादिकों का अधिष्ठाता है यह कहने का अर्थ यह है कि इन्द्रियों और शरीर में परम्परा सम्बन्ध से वह चैतन्य का सम्पादक है। 'परम्परा' का अर्थ है जनकता-सम्बन्ध या अवच्छेदकता सम्बन्ध।[६] आत्मा में ज्ञान शरीरावच्छेदेन उत्पन्न होता है। अतः अवच्छेदकता सम्बन्ध से आत्मा में रहने वाला चैतन्य शरीर में रहता है। इस प्रकार न्यायशास्त्र में अनेकत्र अवच्छेदकता का सम्बन्ध के रूप में स्वीकार कर अनेक संकल्पनाओं का आख्यान किया गया है।

अवच्छेदकताओं के कुछ प्रयोग

वैसे तो किसी भी पदार्थ में रहने वाली शक्ति को ले कर उसके साथ अवच्छेदकता को उसके नियामक के रूप में ग्रहण कर उसमें अवच्छेदकता को समाविष्ट कर के अनन्त अवच्छेदकताएँ प्रदर्शित की जा सकती हैं। परन्तु नव्य-न्याय में जिनका अत्यधिक प्रयोग होता है ऐसी लगभग सत्रह शक्तियाँ स्वीकार की जाती हैं और उनके नियामक धर्मों का अवच्छेदक के रूप में प्रयोग होता है। उनमें से कुछ इस प्रकार की हैं–

प्रतियोगितावच्छेदकता–अभावीय प्रतियोगितावच्छेदकता का प्रयोग नव्य-न्याय में व्याप्ति आदि के लक्षणों में बहुतायत से होता है। जैसे व्याप्ति का लक्षण– 'साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभाव'। यहाँ 'वृत्तित्वाभाव' तथा 'साध्याभाव' इन दोनों का ही अर्थ क्रमशः 'वृत्तितात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव' [७] और 'साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव' [८] होता है। इन्हें निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है–
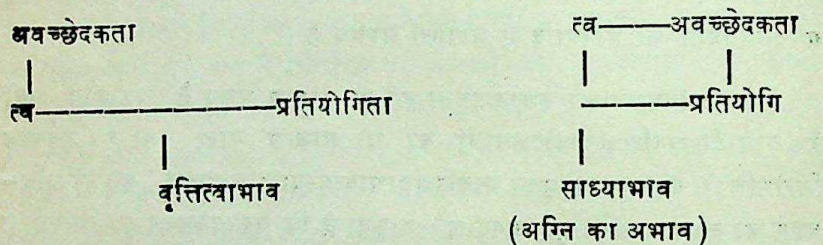
प्रथम उदाहरण में वृत्तिता में रहने वाली प्रतियोगिता वृत्तितात्व से नियमित होने से उसका अवच्छेदक वृत्तितात्व है। अतः उसमें प्रतियोगिता की अवच्छेदकता है।

दूसरे उदाहरण में सध्याभाव के रूप में अग्नि के अभाव का ग्रहण होता है। अतः अग्नि में रहने वाली अग्नि के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक अग्नित्व होता है। अतः अग्नित्व में उक्त अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता रहती है।

विषयतावच्छेदकता–दूसरी अत्यधिक प्रयुक्त की जाने वाली शक्ति विषयता है। इस शक्ति की चर्चा ज्ञान के सन्दर्भ में होती है। जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह वस्तु उस ज्ञान का विषय होती है। और उस विषय में रहने वाली शक्ति विषयता है। वह (विषयता) जिस धर्म से नियमित होती है वह विषयतावच्छेदक कहलाता है, तथा उसमें रहने वाली शक्ति का नाम अवच्छेदकता

है। जब हमें पर्वत पर अग्नि का ज्ञान होता है तो अग्नि में रहने वाली विषयता अग्नित्व धर्म से नियमित होने के कारण अग्नित्व में अवच्छेदकता रहती है।

उपर्युक्त उदाहरण में अग्नि और ज्ञान ये दो पदार्थ हमें दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें से एक विषय (अग्नि) और दूसरा विषयी (ज्ञान) है।
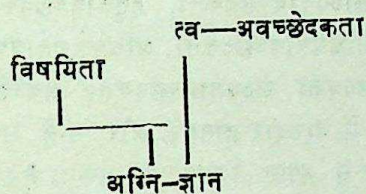
जिस प्रकार अभाव में अनुयोगिता होती है उसी प्रकार विषयी में विषयिता होती है। जिस प्रकार विषयता की अवच्छेदकता अग्नित्व में होती है उसी प्रकार विषयिता की अवच्छेदकता ज्ञानत्व में रहती है।

निरूपकतावच्छेदकता—निरूपकता और निरूप्यता का प्रयोग भी नव्य-न्याय में अत्यधिक मात्रा में होता है। जब हम घट का अभाव या अग्नि का अभाव कहते हैं तो अभाव की प्रतियोगिता वस्तु (जैसे यहाँ घट या अग्नि) में आती है, तथा अवच्छेदकता घटत्व या अग्नित्व में रहती है। उस अवच्छेदकता तथा प्रतियोगिता के बीच जो सम्बन्ध है उसे निरूप्य-निरुपक-भाव कहतें हैं। अग्नि का अभाव कहने पर अग्नि में रहने वाली अभाव की प्रतियोगिता अग्नित्व में रहने वाली अवच्छेदकता से निरूपित होती है। अतः अवच्छेदकता के निरूपक होने से अवच्छेदकतात्व निरूपकतावच्छेदक होता है। चूंकि प्रतियोगिता निरूप्य है अतः उसमें निरूप्यता है और उसकी अवच्छेदकता प्रतियोगितात्व में रहती है।

उसी प्रकार प्रतियोगिता और अभाव का भी निरूप्य-निरूपक भाव माना जाता है। इसलिये प्रतियोगिता का निरूपक अभाव होने से अभावत्व निरूपकतावच्छेदक होता है, तथा प्रतियोगितात्व निरूपकतावच्छेदक होता है और उनमें क्रमशः निरूपकतावच्छेदकता तथा निरूप्यतावच्छेदकता रहती है।
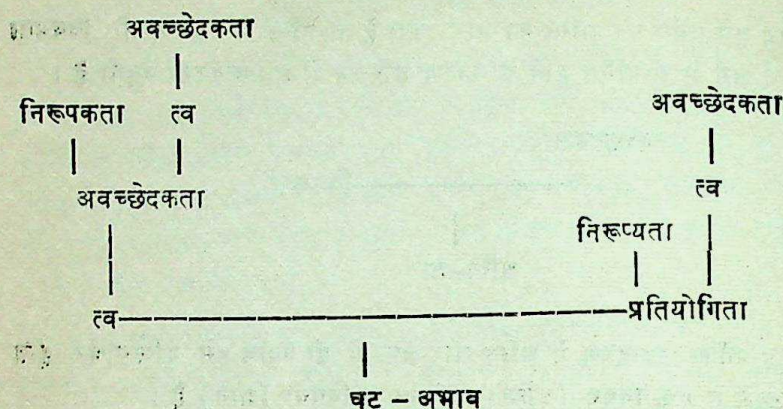
इसी प्रकार से साध्यतावच्छेदकता, हेतुतावच्छेदकता, कार्यतावच्छेदकता, कारणतावच्छेदकता, आधेयतावच्छेदकता, अधिकरणतावच्छेदकता, अनुयोगितावच्छेदकता, शक्यतावच्छेदकता, लक्ष्यतावच्छेदकता, अवच्छेदकतावच्छेदकता आदि का प्रयोग नव्य-न्याय में वारंवार होता है और उन्हें उपर्युक्त उदाहरणों जैसे उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है। तथापि इस प्रकार की चर्चा की गहराई में न उतर कर विषयता और उसके भेदों के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी।

दर्शन विभाग बलिराम शुक्ल
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे–४११००७.

टिप्पणियाँ

१. विश्वनाथ न्यायपञ्चानन; मन्मते तु समवाय सम्बन्धेन व्याप्तिप्रकारकं पक्षधर्मताज्ञानं समवाय सम्बन्धेन अनुमितिं जनयतीति। न्यायसिद्धान्त मुक्तावल्यां अनुमानखण्डे.

२. गदाधर; अथ द्रव्यत्वादौ धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन प्रसिद्धस्य शुद्ध घटत्वावच्छिन्न प्रकारकाभेदान्वयबोधस्य घटत्वावाऽपत्ति सम्भवात्! व्युत्पत्तिवादे

३. गदाधर; घटादिनिष्ठं तद्विषयत्वञ्च तत्प्रतियोगिकः सम्बन्धविशेषः। गादाधर्यां विषयतावादे

४. **दीधित्यां, सिद्धान्तलक्षणे**

५. केचित्तु एकावच्छेदेनेत्यस्य अवच्छेदकतासम्बन्धेन तद् तदभावाधिकरणीभूत देशस्यावच्छेद्यतासम्बन्धेन अभाववत्वेनेत्यर्थः।

६. दिनकर; परम्परया जनकतासम्बन्धेन, अवच्छेदकता सम्बन्धेन वा। चान्यत्वं ज्ञानवत्वम्। **दिनकर्यां,** आत्मनिरूपणे

७. विश्वनाथ न्यायपञ्चानन; साध्यवदन्यावृत्तित्वं च साध्यवदन्यवृत्तित्व-त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावः। **न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां** अनुमान खण्डे

८. मथुरानाथ; साध्याभावश्च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न साध्यता-वच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताको बोध्यः। **व्याप्ति पञ्चकरहस्ये**

९. गदाधर; अभावे तत्प्रतियोगिस्वरूपनिरूपितानुयोगितानामो सम्बन्ध-विशेषः। **सिद्धान्तलक्षणे**

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२०२. डॉ. सुरेश प्रसाद सिन्हा
२४, रोशन मंजिल
दमण
वाया–वापी
दमण–३९६२१०

२०३. डॉ. मृत्युञ्जय उपाध्याय
'वृन्दावन'
राजेन्द्र पथ
धनबाद–८२६००१
(बिहार)

२०४. प्रोफेसर मनोजकुमार झा
द्वारा, अे. एम्. चौधरी,
सी. ई. इन्स्पेक्टर
कबीरपुर
लहेरियासराय–८४६००१
दरभंगा
(बिहार)

२०५. डॉ. भिखारी राम यादव
द्वारा, प्राचार्य टैगोर विकास विद्यालय
राम लखनसिंह यादव कॉलेज के निकट
कृष्णपुरी
औरंगाबाद–८२४१०१.
(बिहार)

स्थायी सदस्य (संस्था)

२६. प्राचार्य,
सोनोपन्त दाण्डेकर साहित्य, व्ही. एस्.
आपटे कॉमर्स तथा एम्. एच्. मेहता विज्ञान महाविद्यालय
पालघर–४०१४०४.
ठाणे.
(महाराष्ट्र)

ग्रन्थ - समीक्षा

श्री गोविन्द प्रसाद; **कामायनी का नया मूल्यांकन: सिद्धान्त और विवेचन**; पराग प्रकाशन, कर्ण गली, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली–११००३२; १९८८; पृ. ८३ डिमाई; मूल्य– ३५ रुपये (सजिल्द)

कामायनी और रस–सिद्धान्त दोनों ही बहुविवेचित किन्तु बहुशः विवाद्य रहे हैं। श्री. गोविन्द प्रसाद **कामायनी** के प्रसंग में रस का विचार अवश्य करते हैं, किन्तु उसके विवेचन की हावभाव–विभाव वाली रूढ़ प्रणाली से हट कर वे रस को काव्य में साध्य मान कर नहीं बल्कि उसे अर्थ-सम्प्रेषण में साधन मान कर उसका विचार करते हैं। काव्य का मूल उद्दिष्ट है अर्थ–सम्प्रेषण; रस उसके सहायक की भूमिका निभाता है। रसवाद ने इस भूमिका को भुला कर रस की निष्पत्ति और रसास्वाद को ही मूल लक्ष्य बना दिया और अर्थ–सम्प्रेषण को पीछे धकेल दिया। इस अनिष्टकारी स्थिति से बचाव और अर्थ–सम्प्रेषण के मूल लक्ष्य के पुनरुद्धार के लिये यत्नशील लेखक पुस्तक के प्रथमाध्याय में मूल्यांकन की वह भूमिका तैयार करता है जिसमें रचना–प्रक्रिया, रस–निष्पत्ति, मनोविज्ञान और भौतिकवादी दृष्टि को एक सम्मिलन–बिन्दु पर प्रस्तुत किया जा सके। इस भूमिका में वह रसवाद की रूढ़ि–धर्मिता पर विभिन्न कोणों से प्रहार करता और काव्य में उसकी स्थिति का निर्देश करता हुआ अर्थ–सम्प्रेषण की समस्याओं से टकराता और उन समस्याओं का समाधान खोजता हुआ दीख पड़ता है। शेष दो अध्यायों का सीधा सम्बन्ध **कामायनी** से है जिनके अन्तर्गत वह क्रमशः **कामायनी** के कथ्य की सन्दिग्धता और सन्दिग्ध कथ्य की प्रामाणिकता का विवेकपूर्ण तथा अनुभूति–प्रवण विवेचन उपस्थित करता है। इस दृष्टि से अपने लघु कलेवर में भी यह पुस्तक **कामायनी** के अध्ययन–आस्वाद और बोध के लिये चिन्तन का नया दिशा–द्वार खोलती है; अतः बहुत उपलब्ध सामग्री के बीच भी महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट है।

'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' उक्ति का अभिनवगुप्त ने कुछ इस तरह अर्थ किया कि अर्थ से हट कर रचना–द्वार और पाठक की दृष्टि रस पर ही जम गयी। रस को अर्थ की बोधगम्यता के लिये मान कर भी उन्होंने रस पर कुछ इस तरह बल दिया कि रस–परिपाक को ही प्रधान मान लिया गया और कथ्य, वस्तु या अर्थ को दृष्टि–ओझल कर दिया गया।

गोविन्द प्रसाद का विचार है कि यद्यपि मूलतः भरतमुनि का उक्त कथन से अभिप्राय तो यह था कि कवि-मानस में बनी वस्तुविषयक अवधारणा में उसके संवेदानुभव अथवा सरोकार घुले-मिले रहते हैं, तथापि अभिनव गुप्त ने स्थायीभाव, वासनात्मकता आदि की जो कल्पना खडी की उसमें रसदशा से पूर्व की सब क्रियाओं को छोड़ दिया। यह भुला दिया गया कि प्रेक्षक शब्दों की संसूच्य क्षमता के सहारे ही भयभीत मृग की अवधारणा का अनुसन्धान करता है। भय-रूप स्थायी को प्रत्यक्षतः नहीं बल्कि कवि उसकी अवधारणा को प्रस्तुत करता है और बिम्बों की सहायता से अनुसन्धान की सीमा पर जा कर निजी शोध की प्रसन्नता या निन्दा की दीप्ति से भर जाता है। यही दीप्ति आल्हाद या रस है, जिसके मूल में अर्थग्रहण है और स्थायी उसकी अन्तिम कडी। अर्थ की इस भूमि पर ही रस या भाव की स्थिति है, अकेले या अर्थ के कमजोर होने पर रस मात्र रचना के स्थायित्व को शक्ति प्रदान नहीं करता। जिसे अभिनव गुप्त ने देश-काल-तिरोहित होने की विश्रमावस्था माना है उसे लेखक देश-काल-परिज्ञान से उदित एक नयी धारणा मानता है और उसे वस्तु-बोध की जाति या वर्गबोध में और संवेगों का संवेद में रूपान्तरित हो जाना स्वीकार करता है। इसका तात्पर्य यह है कि गोविन्द प्रसाद रस को प्रगतिवादियों की तरह अस्वीकृत नहीं करते, न ही वे उसे अभिनवगुप्त की तरह आध्यात्मिक स्थिति तक ले जा कर वस्तु-जगत् से उसका सम्बन्ध-विच्छेद ही करते हैं, बल्कि मनोविज्ञान की प्रक्रिया का सहारा ले कर वस्तुवादियों के साथ चलते हुए रस को वस्तु-सापेक्ष और मानसिक-व्यापार की तत्परता के रूप में प्रस्तुत कर के पुनः समाजोपयोगी बनाते हैं। इस प्रकार वे एक साथ वस्तु के साथ नाता जोड़ते हुए अर्थग्रहण-बिम्बग्रहण-रसानुभूति की संग्रथित प्रक्रिया का निर्देश और उसका प्रतिपादन करते हैं। निश्चय ही उनके तर्क रस तथा काव्यार्थ के सम्बन्ध और रस-स्वरूप पर नया आलोक डालते हैं और पुनर्विचार के लिये दिशा देते हैं।

इस प्रसङ्ग में भें गोविन्द प्रसाद रस-विचार की अद्यतन स्थिति पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. राकेश गुप्त तथा इन पंक्तियों के लेखक के विवेचन के मूल बिन्दुओं की समीक्षा करते हैं। उनकी विचार-सरणि के अनुकूल आचार्य शुक्ल का 'लोकहृदय' और 'आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण' काव्य में अर्थ के महत्त्व को पुनः प्रतिष्ठापित करने की दिशा में उठा हुआ कदम कहा जा सकता है। शुक्ल जी में उन्हें अर्थ-सम्प्रेषण की समस्या के समाधान की दिशाएँ खुलती प्रतीत हुई हैं। यह अवश्य है कि रसास्वाद की परम्परावादी दृष्टि ने उनको इस दिशा में दूर

तक आगे बढ़ने से रोक दिया है। डॉ. नगेन्द्र को गोविन्द प्रसाद मज़ाकदी या सुखवादी मान कर उनके दृष्टिकोण से पूर्ण असहमति व्यक्त करते हैं और मानते हैं कि नगेन्द्र ने "अभिनव के मार्ग पर चल कर अर्थ को पूरी तरह दफना दिया"। डॉ. राकेश गुप्त ने यदि अपनी पूरी शक्ति रस-विरोध में न लगा दी होती तो उनमें भी सम्भावनाएँ अवश्य थीं। गोविन्द प्रसाद के अनुसार प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का मत ही ऐसा मत है जिसमें "कोई त्रुटि दृष्टिगोचर नहीं होती", क्योंकि वह न तो आलम्बन-अनुक्रिया के जाल में फँसा है, न उसने तादात्म्य को माना है, बल्कि सबके साधारणीकृत रूप के ग्रहण को स्वीकार किया है। अस्तु। श्री. गोविन्द्र प्रसाद का विवेचन न केवल वस्तुवादियों के लिये उपयोगी है, बल्कि वह रस-विचारकों के और काव्यशास्त्रियों के लिये भी उद्‌बोधक और विचारणीय है। विचार की एक नई दृष्टि के लिये दोनों पक्षों को उनका ऋणी होना चाहिये और एक सन्तुलित दृष्टि की खोज के लिये उसे प्रवर्तन-बिन्दु मानना चाहिये।

पुस्तक के दूसरे अध्याय में गोविन्द प्रसाद **कामायनी** की कथा की सन्दिग्धता का निरूपण करते हैं। ऐसा नहीं है कि उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये ये सन्दिग्धता के बिन्दु सर्वथा मौलिक और नये हैं, परन्तु उनकी प्रस्तुति की पीठिका उनकी अपनी है और तर्काश्रित है। रसानुभूति के मूल में कथ्य की उपयोगिता पर बल देते हुए वे रचना की श्रेष्ठता को आंकने का उसे एक आधार मानते हैं और वस्तु की अवधारणा के रास्ते भावना के सहयोग से रचना को एक समग्र इकाई के रूप में देखने-जानने के मूल्यवान् निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उनकी विचार-पद्धति इस समग्र इकाई की धारणा को जितने सहज रूप में प्रस्तुत करती है, वस्तु और शिल्प की एकता की चर्चा करने वाले विद्वानों की धारणा उतनी सहजग्राह्य नहीं रही है।

गोविन्द प्रसाद का विचार है कि **कायायनी** में कथ्य की दृष्टि से श्रद्धा ही व्यक्ति के विश्वास के मूल में है या कहें कि सामाजिक विकास का मूल भी वही है। परन्तु इसके लिये **कामायनी** की कथा का अन्तिम भाग उन्हें क्षेपक या भरत-वाक्य सा जुड़ा प्रतीत होता है। अन्य कुछ विद्वानों की भाँति ही वे भी मानते हैं कि 'कथा की समाप्ति तो वहाँ हो जाती है जहाँ श्रद्धा मानव को इड़ा के सुपुर्द कर के मनु को ले शिव के मार्ग पर चल पड़ती है।' कथा-विन्यास की दृष्टि से उनका यह कथन उचित हो सकता है, किन्तु स्वयं प्रसाद की काव्य-विषयक धारणा के आलोक में विचार करें तो वे **कामायनी** को कथा-काव्य के रूप में नहीं बल्कि भाव-काव्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं और उस बिन्दु तक पहुँचना

चाहते हैं जहाँ उनको इन्द्र की आनन्दवादी धारणा पहुँचाती जान पडती है। यह बात और है कि उनकी यह अध्यात्मवादी दृष्टि काव्य के प्रसङ्ग में स्वीकार्य होनी चाहिये कि नहीं। लेखक का अपना मन्तव्य और दृष्टिकोण क्या है इस पर बल दें तो प्रसाद **कामायनी** का अन्त इसके पूर्व कर ही नहीं सकते।

चूंकि गोविन्द प्रसाद अनुभूति या भाव को तत्त्व या चिरन्तन सत्य के रूप में न मान कर उन्हें मानव-मन की संघटनाएँ मात्र मानते हैं अतएव श्रद्धा में भावनाओं का जन्मजात होने का अथवा मनु में आदिम प्रवृत्तियों की धारणा का होना भी उन्हें स्वीकार्य नहीं है। मनु को मनन या मानवता के रूपक के रूप में ग्रहण करने के आग्रह के पीछे के इस तर्क को वे स्वीकार नहीं करते कि चिन्तन-मनन से नर-पशु मानव बनता है और इसे **कामायनी** में केवल एक सन्दिग्धतापूर्ण दृष्टि का समावेश ही नहीं मानते बल्कि इसे सीधे 'असम्भव' कहते हैं। वे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के इतिहास में जाते हुए किंचित् विस्तार से चरवाहा पुरुष से ले कर आर्थिक दबावों के कारण बदलते नैतिक मानदण्डों का विचार करते हैं और श्रद्धा को सामंतकालीन नारी की अवधारणा से भिन्न नहीं पाते। इसी विवेक के कारण वे लक्षित करते हैं कि प्रसाद की दृष्टि पुरुष के सम्पत्ति-अधिकरण और नारी की दयनीयता पर नहीं गयी। 'अतिचारी प्रजापति' और 'सामुहिक बलि का पंथ निराला' से उत्पन्न घटना को वे इसका संकेत मानते हैं कि प्रसाद भी सामाजिक विश्वास की इस अनिवार्यता को स्वीकार कर चुके थे कि शान्तिपूर्ण प्रगति की जगह हिंसात्मक उथल-पुथल और क्रान्ति ने ले ली है। पर उन्हें यह भी मान्य है कि प्रसाद की दृष्टि वस्तु-जगत् की अलग सत्ता की ओर न जा कर चेतना-सत्ता पर ही विशेष टिकती है। कवि के द्वारा प्रतिपादित प्रेम, दया, सहानुभूति, उदारता, वत्सलता आदि की अनुभूति के मार्ग को वे क्षणजीवी दर्शन का मार्ग मानते हुए उसे रोमांचक तो स्वीकार करते हैं पर कारगर नहीं मानते। न वे मानव-मन के बेहतर होने को ही तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्हें यह मार्ग जीवन से पलायन का मार्ग प्रतीत होता है। अतः वे **कामायनी** में जीवन के जीवन्त चित्रण का अभाव पाते हैं। तथापि **कामायनी** के प्रभाव को निःसंदिग्ध रूप में स्वीकार करते हुए वे प्रसाद की रचनात्मक क्षमता को उसका श्रेय देते हैं और मानते हैं कि उनकी यह क्षमता 'यादृच्छिक वस्तु-बिम्बों की संरचना में अपनी विषयीगतता से इस प्रकार संपृक्त है कि उसका कथ्य सर्वोत्तम के रूप में साकार होता दिखाई देता है'।

तीसरे अध्याय में लेखक अर्थ या कथ्य की सन्दिग्धता से हट कर **कामायनी** के शिल्प के सहारे उसका विश्लेषण करता है और '**कामायनी** के सन्दिग्ध कथ्य की प्रामाणिकता' की खोज करता है। लेखक **कामायनी** को नैतिक उद्बोधन का

काव्य मानता है और मानता है कि इसे इस के विभावन–व्यापार के साँचे में देखा–परखा नहीं जा सकता। वह स्वीकार करता है कि प्रसाद ने अपनी अवधारणा का वस्तुकरण कर के कथा का चुनाव उसी के अनुकूल किया है। इस बात का विचार करते हुए कि ' कामायनी की संरचना में ऐसी कौनसी गुणवत्ता है जो कथ्य को दोषपूर्ण सिद्ध होने पर भी उसे विश्वसनीय रूप से श्लाघ्य बनाती है ' गोविन्द प्रसाद क्रमश: (१) वस्तु–विकल्प, (२) वस्तु–चयन तथा (३) भावनात्मक अभिवृत्ति के आधार पर विवेचन करते हैं। सामग्री–विकल्प के अन्तर्गत मुख्यत: जो बात ध्यान आकर्षित करती है वह यह कि गोविन्द प्रसाद कामायनी के प्रतीकार्थ को उसके सर्जन का केन्द्र–बिन्दु नहीं, बल्कि उप–उत्पाद मानते हैं। सामग्री–चयन से उनका अभिप्राय ' एक निश्चित परिवेश (देश–काल) से अनुकूलित पात्रों के परस्पर अन्तर्संबंधों की ऐसी क्रमिक रीति से सजाया जाता है कि वे कहीं भी कृत्रिम प्रतीत नहीं होते हैं, वरन् पात्र, परिवेल और घटना सभी कुछ कवि की मूल अवधारणा की अभिव्यंजना करने के लिये सिद्ध होते हैं।' यह काम जितना ही कठिन और कौशल–भरा है; गोविन्द प्रसाद उतनी ही गहरी सूझबुझ और पकड़ का परिचय देते हुए उसकी समीक्षा भी करते हैं, जिससे कामायनी के अन्तरङ्ग के उद्घाटन में ही नहीं उसके बहिरंग सौन्दर्य की सराहना में भी सहायता मिलती है और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पाठक की रुचि बनी ही नहीं रहती, बल्कि वर्धित होती है। गोविन्द प्रसाद का कौशल यह है कि वे विश्लेषण को नीरस या करवा नहीं बनने देते और उसके प्रति पाठक का विश्वास अर्जित कर पाते हैं। कामायनी के सन्दर्भ में इस विषय में उनका निष्कर्ष यह है कि प्रसाद ने इसमें ' अभूतपूर्व कला–दक्षता का परिचय दिया है '। ' वहाँ पात्र और उनके गुण–धर्म से प्रेरित घटनाएँ अपने अन्वित बिन्दु की ओर कुछ इस प्रकार अग्रसर होती दिखायी देती हैं कि एक ओर उन्हें यदि हम नाटकीय तत्त्वों के आधार पर परख सकते हैं तो दूसरी ओर वस्तु का यथास्थान औचित्य एवं महत्त्व भी जान सकते हैं।'

कामायनी में नाटकीय तत्त्वों की परख गोविन्द प्रसाद काफी विस्तार से करते हैं और उसके लिये उनका आधार भारतीय नाट्यशास्त्र रहा है। कामायनी में जहाँ वे अर्थप्रकृति, कार्यावस्था और सन्धियों का निर्देश करते हैं, वहीं लम्बे. स्वगत–कथनों तथा वस्तुवर्णन की प्रधानता के कारण उत्पन्न नाटकीय कमजोरियों का निर्देश कर के समीक्षा का सन्तुलन भी बनाये रखते हैं।

सामग्री–चयन तथा विकल्प से भी महत्त्वपूर्ण है भावनात्मक अभिवृत्ति और साधारणीकरण जिसके अन्तर्गत लेखक भाषा के उपकरणों के प्रयोगों की जाँच करता है। गोविन्द प्रसाद जी पूरे विश्वास के साथ इस क्षेत्र में उतरते हैं

और अन्ततः प्रसाद की तत्संबंधी क्षमता को श्रेय देते हुए स्वीकार करते हैं कि 'कवि की भाषा में सम्प्रेषण-क्षमता का ऐसा अमोघ भाण्डार है कि वह प्रशंसा की वस्तु को भी चाहने पर घृणित एवं उपेक्षणीय बना देता है'।

वस्तुतः गोविन्द प्रसाद का विवेचन किसी अन्य सिद्धान्त की दृष्टि से विवाद्य भी हो सकता है, किन्तु उनके अपने दृष्टिकोण में वह इतना निर्भ्रान्ति, क्रमिक, तर्कपूर्ण और व्यवस्थित है तथा काव्यशास्त्र के ऐसे महत्वपूर्ण पहलुओं को नयी क्षमता से उजागर और स्पष्ट करता है कि पूरी पुस्तक संक्षिप्त हो कर भी अपनी गंभीरता में साधारणता का अतिक्रमण कर जाती है। गोविन्द प्रसाद इस विवेचन के माध्यम से शास्त्र-रचना में भी उतने ही सहायक होते हैं, जितने शास्त्र एवं काव्य के विश्लेषण में। पुस्तक सम्पूर्ण मनोनिवेश के साथ पठनीय है और संग्राह्य भी।

–आनन्द प्रकाश दीक्षित

'कलापी'
प्लॉट क्र. २५३७
पुलिस परिवहन कार्यशाला के पीछे
बाणेर रोड, औंध,
पुणे-४११००७.

आगम

'निगम' अपौरुषेय, निर्धारितानुपूर्वीक, श्रेयस्कर शब्दराशिविशेष है जबकि 'आगम' पौरुषेय, अज्ञातकर्तृक तथा निबद्ध और अनिबद्ध उभयात्मक है। निगम अस्मर्यमाणकर्तृक है और आगम स्मर्यमाणकर्तृक। निगम त्रैवर्णिक है और आगम सार्ववर्णिक। निगम याग-मार्ग है और आगम रागमार्ग। निगम सबका एक है पर आगम सबका अपना अलग-अलग - जो जिसके लिए फलीभूत है वह उसका आगम है। आगम 'उपक्रम' है और निगम उपसंहार - इसलिए तत्त्वतः दोनों का अविरोध होने पर भी एक का स्वरूप अन्य के अनुरूप निर्धारित होता है। उपक्रम और उपसंहार से एक ही तत्त्व की चर्चा होती है पर उपक्रम प्रतिपाद्य-भूत या वाच्यभूत में उपक्रमण में नियमतः क्रियाशीलता की ओर केन्द्रित होता है जबकि निगम अपने वाच्यभूत अर्थ के उपसंहरण में क्रियाशीलता की ओर इंगित नहीं करता - इसीलिए आगमसम्मत दर्शन प्रत्यभिज्ञा प्रकाशाद्वयवादी होता हुआ भी स्वयं विमर्शनात्मक क्रिया से अपने को शून्य नहीं मानता, जबकि निगम का चूड़ान्त दर्शन अद्वैत वेदान्त प्रकाशतत्त्व को विमर्शमय या स्पंदात्मा नहीं मानता। ज्ञान और क्रिया के बीच क्रिया को महत्त्व देने वाले उपक्रम का भी पराक्रम अधिक मानते हैं और जो लोग क्रिया की अपेक्षा प्रकाश को ही (अधिक) महत्त्व देते हैं वह निगम का वैशिष्टय बताते हैं। अर्थात्, जहाँ आगम भोग और मोक्ष दोनों को चरम प्रयोजन मानते हैं वहां निगम केवल मोक्ष को। इसीलिए आगमिक धारा का प्रत्यभिज्ञा दर्शन जहाँ जगत् को सत्य मानता है वहां निगम का चूडान्त अद्वैत दर्शन उसे मिथ्या मानता है। न्यायदर्शन के अनुसार 'आगम' प्रतिज्ञा है और निगमन 'सर्वेषामेकार्थ-समता-सामर्थ्य- प्रदर्शन' है - एक में सबका निर्वहण है। दूसरे विद्वान् 'आगम' में उपासन या राग

की और 'निगम' में ज्ञान, उपासना, तथा कर्म की प्रतिपादना देख कर कहते हैं 'निःशेषेण गमो बोधो यस्मात् स निगमः'। इसके साथ ही —

'आ ईषद् अंशतः उपासनाख्यांशस्य गमो बोधो यस्मात्स आगमः'। कहा भी गया है —

अमर्त्ये शिवमार्गेऽस्मिन् राग एव प्रशस्यते।

'आगम' – शब्दार्थ निर्वचन

'निगम' से 'आगम' का अन्तर कर लेने के बाद व्युत्पत्ति के सहारे भी 'आगम' का स्वरूप–निर्वचन सम्भव है, परिभाषाएं तो हैं ही।

(क) सामान्य (व्युत्पत्ति और परिभाषाओं के साम्य पर) –

'आगम' शब्द को कुछ लोग 'रूढ़' मानते हैं और कुछ लोग 'योगरूढ'। रुढ़ मानने वाले निम्नलिखित श्लोक का साक्ष्य देते हैं –

'आगतं शिववक्त्रात्तु गतं च गिरिजामुखम्।
मतं च वासुदेवेन तस्मादागम उच्यते॥

इस श्लोक में 'आगत', 'गत' तथा 'मत' – पदों का आद्य अक्षर (आ ग म) ले लिया है और 'आगम' संज्ञा बना ली गई हैं। इसका अभिप्राय स्पष्ट है– वह शास्त्र 'आगम' है जो शिव के मुख से निकला हो, गिरिजा के मुख में गया हो और वासुदेव द्वारा मननगोचर हुआ हो। पर इस परिभाषा के द्वारा अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं हो पाता। फलतः योगरूढ़ि से अर्थ ग्रहण करना उचित है। योगरूढ़ अर्थ की ओर संकेत करते हुए स्वामी करपात्रीजी ने कहा है – 'आगच्छति – इति आगमः'। इसी को आधार बनाते हुए स्वामी सीताराम शरणजी ने कहा है – 'जो रहस्य या सत्य परम्परा या गुरु–परम्परा से आ रहा हो – वही आगम है।' औरों ने भी इसे मान्यता प्रदान की है।

डॉ. शशिभूषण दास गुप्त, म. म. पं. गोपीनाथ कविराज तथा पं. क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय – आदि तंत्र के नव व्याख्याकारों ने केवल भारतीय भूमि पर ही नहीं अपितु आंतरराष्ट्रीय भूमि पर इस धारा की गुह्य मंडलियों में अविगीत 'प्रसिद्धि' स्वीकार की है और ऐसे संकेत संहिताओं तथा उपनिषदों से ढूंढ़ निकाले हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि निगम / आगम–सम्मत रहस्य साधनाएं – साथ-साथ प्रवाहित हो रही थीं। फिर जो सम्प्रदाय या उपासक इस अन्तःप्रवाहित धारा से जुड़ता गया वह आगमिक अन्तस्तत्त्व को अपने अनुरूप ग्रहण करता गया। मेरा यह विश्वास है कि जिस प्रकार विज्ञान के सत्य सार्वभौम होते हैं उसी प्रकार अध्यात्म विज्ञान के भी। इतना अवश्य है कि ज्ञान वस्तु के अधीन रहता है जब कि उपासना में वस्तु उपासक की इच्छा के अनुरूप गृहीत होती है। उपासना इच्छाधीन होती है। अतः उस सन्दर्भ में उपासक की इच्छा–तृप्ति के लिये आराध्य

तदनुरूप गृहीत होता रहता है। मतलब, ज्ञान वस्तु के और भक्ति (उपासक की) इच्छा के अधीन होती है। इस प्रकार उपासक की उपासना में तत्त्व का रूप उसकी स्वारसिकी वासनावश भिन्न-भिन्न हो सकता है।

आगम के योगरूढ अर्थ का दार्शनिक स्तर पर भी व्याख्यान हुआ है जिसका समय-समय पर पौराणिकीकरण भी होता रहा है। 'आगम' शब्द की व्याख्या करते हुए स्वच्छंद तंत्र में कहा गया है –

आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः।

गति या गम ज्ञान ही है; आ-गम एक ऐसा परिपूर्ण ज्ञान है जो सर्वतोमुखी और सम्यक् है। टीकाकार ने मूलकार के आशय का उपबृंहण करते हुए कहा है–

अनन्ताः शास्त्रकोटयः यः पारमेश्वर आगम; तद् ज्ञानपराः– शक्तिस्फाररूपमित्युक्तम्। आसमन्तात्तु गमयति अभेदम् परामृशति पारमेशं रूपमिति कृत्वा या पराशक्तिः सैवागमः तत्प्रतिपादकः शब्द–सन्दर्भः तदुपायत्वात् शास्त्रस्य।

अर्थात्, अनन्तशास्त्र कोटियाँ ही पारमेश्वर आगम है – वह ज्ञानमयी है – शक्ति का वह विस्फार है अथवा तत्त्वतः वह शक्ति ही आगम है जो अभिन्न रूप से पारमेश रूप का विमर्शन कराती है – तत्परक शब्द–सन्दर्भ और स्वरूप–विमर्श में उपायभूत तत्तत् शास्त्र भी आगमपद पदवाच्य है। शब्द के बिना न स्वयं विमर्शन सम्भव है और न ही अन्यत्र उसकी संक्रान्ति। अतः विमर्शन में उपयोगी होने के कारण शब्द को भी आगम कहा जाता है। आगमों में परस्पर विरोधी अर्थ भी होते हैं। उसका कारण वस्तुतः जिस साधक का जिस शब्द में दृढ विमर्श या विश्वास हो – वही उसका आगम है। व्यक्तिभेद से प्रकार, उपचार और निदान भिन्न होता है। – वैसे ही साधक-संस्कार–भेद से उसके अपने मार्ग भी भिन्न–भिन्न होते हैं। फलतः जिसका जो शब्दात्मक आगम है वह उससे जैसे भी विमर्शन करेगा उसके लिये वैसा घटित हो कर रहेगा। उसका प्रामाण्य तर्क–सापेक्ष नहीं, अपितु प्रसिद्धि और क्रमागत परम्परा से प्राप्त होने के कारण स्वयं है। इस दृष्टि से शैव शास्त्र और वैष्णव ही आगम नहीं हैं – बौद्ध और जैन भी आगम हैं – वे भी नियत व्यक्ति विशेष से प्रकाशित नही हैं – अपितु परम्परा से उनके आगम भी चले आ रहे हैं। इसी आधार पर डॉ. के. सी. पाण्डेय का कहना है कि इस दृष्टि से न केवल भारतभूमि पर उपलब्ध धार्मिक पुस्तकों के पाठ प्रमाण हैं अपितु कुरान और बायबल भी प्रमाण हैं। जैन और बौद्ध परम्परा भी यही मानती है कि जिन और बुद्ध समय–समय पर प्रकट होते रहते हैं – वे व्यक्ति नहीं जाति हैं। मिलिन्द ने बुद्ध के लिए बौद्ध परम्परा में और जैनों के लिए जैन परम्परा में भी यही प्रसिद्धि बताई है।

आगम का अर्थ अवतरण भी है। इसका स्पष्टीकरण देते हुए आगमिकों ने बताया है कि आगम मूल में परावाक् के रूप में रहता है। वही पश्यन्तीभाव में अवतीर्ण होकर मध्यमाभाव में स्थित होती है – तब परिमित प्रमाता के द्वारा अधिकृत होती है। वस्तुतः प्रकाशमय शिव के स्वभाव में स्थित यह व्यापार प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणोंका उपजीव्य है – इसलिए वह पर–प्रमाता का व्यापार होने से नित्य माना जाता है। इसे और स्पष्ट किया जाय तो कहना होगा कि चरम सत्य रूप परावाक् परपरामर्शमय बोध–रूप है। वही विभिन्न अवस्थाओं में रूपान्तरित होती है। 'पश्यन्ती' उसी की बहिर्मुख अवस्था है। इसी बहिर्मुखी भाव में पर-बोधात्मक शास्त्र 'अहम्' इत्याकारक परामर्श–रूप में अन्तर में उदित होता है। उस भूमि के प्रत्यवमर्शक प्रमाता के द्वारा परामृश्यमाण वाच्यार्थ के रूप में नहीं; अपितु अहन्ताच्छादित होकर प्रतीत होता है। उसके बाद तीसरी अवस्था आती है – मध्यमा। यहाँ परवर्ती 'पश्यन्ती' का आन्तरविमर्श वितानरूप में – वाच्य-वाचक भाव रूप में–उल्लसित होता है। फिर भी यहाँ वह भेद नहीं है जो वैखरी स्तर पर होता है। यह भूमि कई दृष्टियों से महत्त्व की है। यही वह भूमि है जहाँ परसत्ता चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया–रूप पंचमुख का प्रकाश करती है और सदाशिव तथा ईश्वर दशा का आश्रय लेकर गुरु–शिष्य –भाव का परिग्रह धारण करती है। इसी परम्परा से आगम का अवतरण होता है। वैखरी भूमि पर यह स्फुटतर होता है – मध्यमा भूमि पर स्फुट रहता है।

यही वह भूमि है जहाँ चिन्मरीचिमय मंत्रों का उदय होता है। यहाँ वर्ण समष्टिमय मंत्र चैतन्य जागृत होते हैं – पर वैखरी स्तर पर शब्द जड़ होती है। वे केवल मध्यम स्तर के मंत्रों के स्मारक होते हैं। मंत्ररूप में ही मध्यमा वाक् आत्मप्रकाश करती रहती है। वैखरी का स्थान स्थूल है–यहीं से वह मुद्रित होता है। इसके मूल में मानसिक चिन्ता, मनोगत भाव या अर्थ जडीभावापन्न हो जाते हैं। यही वह भूमि है जहाँ शब्द और अर्थ का भेद स्पष्ट होता है। इस भूमि में स्मृति परिशुद्धि नहीं होती – स्मृति में सांकर्य रहता है – स्मृति परिशुद्धि के द्वारा सांकर्य का निराकरण होता है – यह निराकरण मध्यमाभूमि में आरूढ़ होने का आनुषंगिक फल है। वाक् के साथ प्राण और मन का तो अविनाभाव सम्बन्ध है ही; चित् का भी सम्बन्ध है – पर वह यहां आवृत्त रहता है। दीक्षा और अभिषेक से मध्यमा भूमि पर आरोहण होता है। पृथुभाव (वैखरी) से दिव्यभाव (पश्यन्ती) आने के लिये मध्यमा मध्यवर्ती भूमि है।

मध्यमा भूमि में ही परावाक् पंचमुखी आत्मप्रकाशन करती है – इसी का पौराणिकीकरण हुआ है और कहा गया है कि शिव (सदाशिव) के पंचमुख से शैवागमों का उद्धार हुआ है। कहा गया है —

गुरुशिष्यपदेस्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैः तंत्रं समवतारयत् ।।

सदाशिव विमर्शशक्ति संविद् को ही शिष्य बना कर आगम को अवतीर्ण करते हैं। यह वह भूमि है जहाँ नित्यसिद्ध विभव-ज्ञान नाद रूप से प्रकाशित होता है। इसके अतिरिक्त यह नाद और कुछ नहीं। शिव-तत्त्व में शक्ति का सतत चलन स्पंदन ही है या चित् शक्ति स्फुरण से महामाया का अवाङ्मुख होना है और यही चलन शब्द का मूल है। शिव कारण है और सदाशिव से भूमि पर्यन्त सभी कार्य हैं। शिव ही अमूर्त सादाख्य, मूर्तसादाख्य, कर्तृसादाख्य, और शिव-सादाख्य रूप में पंचमुख हैं – इन्हीं का नामान्तर वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, सद्योजात और ईशान है। ६४ शैवागम इन्हीं मुखों से निःसृत हैं। ये पांचों मुख मंत्रमय हैं – इन्हीं से दिव्यागम प्रसूत हैं। ये पांच सादाख्य नाम देवादि पंच भूमियाँ हैं। ये ही पांच आम्नाय हैं।

– राममूर्ति त्रिपाठी

२, स्टेट बैंक कॉलोनी
देवास रोड
उज्जैन
(म. प्र.)

साहित्य-रचना और परम्परा

मोटे तौर पर प्रायः सर्वत्र यह माना जाता है कि प्रत्येक कृति कुछ नयापन लिए हुए होती है। इसीलिए कोई कृति अनुकृति नहीं होती। वह एक नया निर्माण होती है। इस निर्माण का श्रेय बहुत अंशों में प्रतिभा को दिया जाता है जिसे 'नवनवोन्मेषशालिनी' कहा गया है: **प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।** रचना में 'नवनवोन्मेष' का अभिप्राय यह कह कर और स्पष्ट कर दिया है कि **प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माण-क्षमा प्रज्ञा।** इस उक्ति में प्रतिभा का सम्बंध अपूर्व वस्तु के **निर्माण** से जोड़ा गया है। प्रतिभा जिस वस्तु का निर्माण करती है वैसी कोई अन्य वस्तु पहले नहीं रही होती है। ऐसा मानने का सीधा अर्थ यह हुआ की प्रतिभा-निर्मित वस्तु नई होगी ही। इसलिए कला-रचना में आवृत्ति या दोहराव के लिए अवकाश रहता ही नहीं। लेकिन ऐसा कर पाना हर रचनाकार के लिए सम्भव नहीं होता। अनेक रचनाकार किसी बड़े लेखक के अनुगामी होते हैं। हिन्दी में कितने ही कथाकार प्रेमचंद को अपना आदर्श बना कर चले तो कितने ही नाटककारों ने जयशंकर 'प्रसाद' का अनुसरण किया। ऐसे रचनाकार कालान्तर में गुम हो जाते हैं। इतिहास में उन रचनाकारों को ही स्थान मिलता है जिन्होंने कुछ नया दिया हो। विन्सेंट टॉमस ने लिखा है[1] कि कोई चीज़ नई होने भर से सर्जनात्मक नहीं हो जाती, लेकिन वह सर्जनात्मक तभी हो सकती है जब वह नई हो।

साहित्य-रचना में नूतनता का श्रेय रचनाकार व्यक्ति को दिया जाना चाहिए, प्रायः दिया भी जाता है-यहाँ तक कि साहित्य की किसी नई धारा का प्रादुर्भाव भी बहुत बार व्यक्ति-रचनाकार की प्रतिभा से माना जाता है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के अन्तर्गत विभिन्न युगों में से कुछ का नामकरण

शायद इसी मान्यता के आधार पर व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर किया गया है। 'भारतेन्दु युग' का नामकरण उस युग को सर्जनात्मक क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान करने वाले व्यक्ति के नाम पर किया गया है। 'द्विवेदी युग' का नाम उस समय के साहित्य-नियन्ता के नाम पर रखा गया है। यही नहीं, कथा-साहित्य के विकास के केन्द्र में प्रेमचंद रखे गये हैं, नाटक-साहित्य के विकास के केन्द्र में 'प्रसाद' और आलोचनात्मक साहित्य के विकास-केन्द्र में पं. रामचन्द्र शुक्ल। तदनुसार प्रेमचंदपूर्व युग, प्रेमचन्द युग, प्रेमचंदोत्तर युग, प्रसादपूर्व युग, प्रसाद युग, प्रसादोत्तर युग, शुक्लपूर्व युग, शुक्लयुग और शुक्लोत्तर युग जैसी संज्ञाएं प्रचलन में आई हैं।

टी. एस्. ईलियट साहित्य-रचना में व्यक्ति को इस प्रकार महत्त्व देने के विरुद्ध थे। उनकी मान्यता यह थी कि व्यक्ति रचनाकार तो कैटलिस्ट होता है जो अपनी ओर से कोई अंशदान किए बिना साहित्य की परम्परा को आगे बढ़ाने का निमित्त बन जाता है। मानों, साहित्यकार सक्रिय कर्म की क्षमता से वंचित माध्यम मात्र होता है।

ईलियट का यह अतिवादी मत आलोचनात्मक प्रहारों का विषय बना है। इसकी सबसे बडी कमजोरी साहित्य-रचना के श्रेय से व्यक्ति को वंचित करना है। रचनाकर्म में व्यक्तित्व का महत्त्व अस्वीकार करने के स्थान पर यदि उन्होंने परम्परा की शक्ति पर ही बल दिया होता तो उनके मत में सार माना जा सकता था; लेकिन इस सम्बंध में उनका सोच जितना सकारात्मक है, उतना ही नकारात्मक भी है और इस नकारात्मकता का कोई ठोस आधार भी नहीं है।

फिरभी, जब वे यह कहते हैं कि परम्परा व्यक्ति की हड्डियों में धँस जाती है तो परोक्षतः वे यह स्वीकार करते हैं कि परम्परा साहित्य में रचनाकार के व्यक्तित्व में समा कर और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का अंग बन कर ही अवतरित होती है। इस उक्ति का आशय यही प्रतीत होता है कि परम्परा व्यक्ति-रचनाकार को अब तक का विकास उपलब्ध कराती है जिसकी पृष्ठभूमि में वह आगे बढ़ता है। ईलियट ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि परम्परा से उनका क्या आशय है? जैसा कि आगे चल कर देखेंगे साहित्य-रचना के संदर्भ में 'परम्परा' शब्द अनेक आशयों को अपने भीतर समेटे हुए है। इस शब्द को परिभाषित किए बिना यह नहीं समझा जा सकता कि परम्परा के आत्मसात् किए जाने की स्थिति में लेखक अपने भीतर क्या नई चीज जुडी पाता है और वह चीज किस तरह उसके कृतित्व को दिशा देती है?

'परम्परा' शब्द से ईलियट का जो भी आशय रहा हो, इतना तो निश्चित है कि परम्परा का ज्ञान होने भर से कोई रचनाकार साहित्य को कोई उल्लेख-

नीय देन नहीं दे सकता। अब तक के विकास को आत्मसात् कर लेने पर रचनाकार में आगे बढने की इच्छा, रुचि, समझ और शक्ति होना आवश्यक है। ये बातें व्यक्ति की अपनी क्षमता पर निर्भर हैं। परम्परा उसे पाथेय प्रदान कर सकती है, लेकिन आगे तो रचनाकार को ही बढ़ना होता है।

सच बात यह है कि इस शब्द के किसी भी अर्थ में 'परम्परा' बनी-बनाई नहीं मिलती, वह निरन्तर बनने की प्रक्रिया में होती है। जैसा कि इस शब्द से प्रकट होता है, आगे और आगे बढ़ते रहने का नाम परम्परा है। इसलिए वह निरंतर परिवर्तनों के बीच से गुजरती है। आधुनिक काल को ही लें तो जो काव्य-परम्परा द्विवेदी युग तक थी, वह छायावाद के आगमन से बदल गई और उसके बाद के काव्यांदोलनों से निरन्तर बदलती चली गई। टी. एस्. ईलियट ने भी यह कहा है कि परवर्ती विकास के प्रकाश में पूर्ववर्ती रचनाओं को नए प्रकाश में देखा जाने लगता है।

साहित्य की परम्परा, मोटे तौर पर, समर्थ रचनाकारों और रचनाओं से निर्मित होती है। 'अज्ञेय' की मृत्यु के बाद प्रकाशित हंस के सम्पादकीय में राजेन्द्र यादव ने जब लिखा कि वे नहीं होते तो हम भी नहीं होते तो शायद उनके ध्यान में साहित्य की परम्परा के निर्माण की यही अवधारणा थी। साहित्यिक परम्परा इसी प्रकार बनती है, लेकिन साहित्य-रचना के पीछे परम्परा का यही रूप नहीं होता। सांस्कृतिक परम्पराएँ भी उसमें योगदान करती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य को भूमिका में हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका की खोज़ करके यह दिखलाया है कि नृतत्त्वीय कारकों से लेकर धार्मिक और संस्थागत कारक तक किस प्रकार साहित्यिक धाराओं की दिशा निर्दिष्ट करते हैं। किसी देश में साहित्य-रचना जिस जन-समुदाय के हाथों में रही होती है, उसकी खपत जिन माध्यमों से और जिन लोगों के बीच होती है, उसकी भी एक रिवाज़ होती है जिसे 'परम्परा' कहने में कोई अनौचित्य नहीं है। इस प्रकार साहित्य-रचना को दिशा देने वाली परम्परा बहुमुखी होती है।

यदि इस संदर्भ में परम्परा का आशय कृतियों की परम्परा या जातीय कृतित्व की प्रवृत्तियों की निरन्तरता से ही माना जाए तो उसे साहित्यिक परम्परा कहना अधिक समीचीन होगा; लेकिन किसी भी साहित्य के विकास को एकरूपता के खूंटे से बाँध कर देखना असंगत होगा। 'हमारे यहाँ कथा-साहित्य की परम्परा इस प्रकार की रहती है', यह कहने का अर्थ होगा कि हमने परम्परा को एक निश्चित स्वरूप दे डाला है। उसमें जो नहीं अटता वह विजातीय मान लिया जाएगा। यदि साहित्यिक परम्परा का यह आशय समझा

गया तो अच्छा होगा कि उसे 'परम्परा' न कह कर 'रूढ़ि' कहा जाए।

परम्परा की एकरूपता न बनी रहने के कई कारण होते हैं : (१) महान् प्रतिभाएँ परम्परा का अनुगमन करने के स्थान पर उन्हें बदलती है। (२) कभी-कभी ऐतिहासिक कारणों से परम्परा को ऐसा धक्का लगता है जिसे वह झेल नहीं पाती, उसका कायाकल्प – सा होता प्रतीत होता है। हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल आरम्भ होने के साथ मानों नये ढंग का ही साहित्य लिखा जाने लगा। विषय, साहित्यरूप और शैली–शिल्प किसी स्तर पर उसके पास अपने पूर्वजों की कोई विरासत नहीं थी – यहाँ तक कि उसकी चिन्ताएँ नई थीं। यदि परम्परा का निर्वाह उसने किया तो केवल इस अर्थ में कि मिथकों और जीवन–मूल्यों तथा आदर्शों के मामले में अपनी मिट्टी की गंध उसमें बसी रही।

लेकिन अपनी परम्परा से विचलन सरल नहीं होता। ऐतिहासिक कारणों से जब साहित्य नये रंग – ढंग अपनाता है तब पुराने रंग – ढंग का मोह एकाएक नहीं छूट जाता। कभी – कभी ऐसा भी होता है कि साहित्य के एक क्षेत्र में तो नई भंगिमा के दर्शन होते हैं, दूसरे में पुरानी परम्परा बनी रहती है। जिस क्षेत्र में परम्परा की जड़ें गहरी होती हैं, उसमें उसके मोह से मुक्त होने में समय कुछ अधिक लगता है। भारतेन्दु युग में गद्य में जो नया उठाव आया वह काव्य में कुछ समय के लिए स्थगित रहा, क्योंकि हिन्दी की काव्य–परम्परा की जड़ें गहरी थीं; लेकिन यह द्विधा अधिक दिनों तक बनी नहीं रह सकी। अन्ततः काव्य ने भी गद्य के समान नई दिशा ग्रहण की और उस क्षेत्र में भी वह परम्परा से दूर निकल गया।

साहित्य की परम्परा का विचार करते समय प्रायः किसी भाषा का अपना साहित्य एक इकाई के रूप में हमारे सामने रहता है और हम उस इकाई के भीतर परम्परा की खोज करते हुए यह मानते हैं कि उस भाषा में आगे आने वाले साहित्य की रचना उसी भाषा के पूर्ववर्ती साहित्य की परम्परा में हुई। इस तरह की इकाई के भीतर परम्परा युगीन प्रवृत्तियों को भी लाँघ जाती है। **हिन्दी साहित्य का आदिकाल** में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बतलाया है कि किस प्रकार आदिकालीन साहित्य–रूपों की निरन्तरता भक्तिकाल तक में बनी रही। लेकिन यह भी होता है कि भिन्न भाषा का पूर्ववर्ती साहित्य कालान्तर में उदित अपेक्षाकृत नई भाषा के साहित्य के लिए अपनी विरासत छोड़ जाता है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का दाय हिन्दी साहित्य को मिला है। इस अर्थ में परम्परा साहित्यिक निरंतरता में भाषिक अन्तराल को पाटती है। इस प्रकार की निरन्तरता भाषिक अनुक्रम के अभाव में भी सम्भव है। आधुनिक काल में हिन्दी–साहित्य ने जिस परम्परा की भूमि पर पदार्पण किया वह रचना–दृष्टि के हिसाब से अभार-

तीय थी, लेकिन उसी से उसने जीवन-शक्ति ग्रहण की। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि परम्परा भाषिक इकाई के बाहर से ही नहीं, राष्ट्रीय इकाई के बाहर से भी किसी साहित्य को सींच सकती है। इसलिए जब साहित्य-रचना के संदर्भ में परम्परा की बात की जाए तो देशी-विदेशी, जातीय-विजातीय जैसी अवधारणाओं का परित्याग कर के चलना उचित होगा। विज्ञान के आविष्कारों के फलस्वरूप अब जब दुनिया छोटी हो गई है तो हमारी मानसिकता भी आज नहीं तो कल तो बदलनी ही है। कुछ दिनों बाद यह लग सकता है कि हमारी साहित्यिक परम्परा के संदर्भ में भाषिक परिधि की ही नहीं राष्ट्रीय परिधि की चर्चा भी अप्रासंगिक है। गेटे ने सार्वभौम साहित्य' या विश्वसाहित्य की परिकल्पना प्रस्तुत करते हुए आज से लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले यह बात कही थी।

आज राष्ट्रों की अपनी-अपनी समस्याओं के साथ विभिन्न राष्ट्रों की सामने की समस्याएँ भी हैं। भूख, गरीबी, सत्ता का दुरुपयोग और क्रूरता ऐसी समस्याएँ हैं जिनसे सम्पूर्ण मानव-जाति पीडित है। राष्ट्रीय या जातीय परम्परा के नाम पर कोई साहित्य उनकी अनदेखी नहीं कर सकता। संसार के विभिन्न भागों में लिखे जा रहे साहित्य में शिल्प भी एक स्थान से दूसरे की यात्रा कर रहा है। इस स्थिति में कोई साहित्य अपनी खिचडी अलग नहीं पका सकता। परम्परा-निर्वाह के लिए उसे अन्य साहित्यों की छूत से बचाने हेतु अपने खोल में समेटकर नहीं रखा जा सकता। जब वस्त्रों और खान पान तक में हम राष्ट्रीय सीमाओं को लांघ रहे हैं तब साहित्य में कोई परम्परा के पालन पर जोर दें तो उसे गम्भीरता से नहीं लिया जा सकता।

अपनी भूमि से जुडे रहने के आग्रह से साहित्य बहुत बार लोक-परम्परा से सम्बल प्राप्त करने का प्रयास करता है। नाटक के क्षेत्र में लोकनाटय-पद्धतियों का समावेश हिन्दी में इधर प्रचुरता से हो रहा है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी लोककथाओं की छटा कभी-कभी देखने में आती है। इन प्रयत्नों का परम्परा से कोई लना-देना नहीं है। इसके विपरीत इन प्रयासों का सम्बंध प्रयोगों से अधिक है। ये परम्परा के अन्तर्गत तो इसलिए नहीं आते कि प्राचीन भारतीय साहित्य या उसके बाद प्राकृत-अपभ्रंश आदि के शिष्ट साहित्यमें उनके नमूने नहीं मिलते। **सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी** और **किस्सा तोता-मैना** आदि मूलतः यदि प्राचीन रचनाएँ मानी जाएँ तो वे लोकसाहित्य के विकास के अन्तर्गत ही आती हैं। इस तरह की रचनाएँ भारत में ही नहीं मिलती, संसार के अन्य देशों में भी लोकसाहित्य के ये रूप उपलब्ध हैं, लेकिन वे साहित्यिक परम्परा का निर्माण नहीं करतीं। हिन्दी में आज भी वे निर्विवाद रूप से साहित्य का अंग नहीं मानी जातीं।

विजयदान देथा की कहानियों को अनेक लोग लोककथाओं का संशोधित सम्पादित रूप मानते हैं और उन्हें देथा की सर्जनात्मक उपलब्धि के रूप में स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः इधर साहित्य में लोकसाहित्य की जो रंगत कभी-कभी दिखलाई देती है, वह परम्परा के प्रति किसी लगाव का परिणाम न हो कर एक फैशन की द्योतक है। जैसे, वेश-भूषा में देहाती ढंग का वस्त्र-विन्यास देखने में आता है वैसे ही साहित्य में भी लोकसाहित्य का संस्पर्श कभी-कभी दिखलाई देता है। देहाती ढंग के वस्त्र ग्राम्य परम्परा के अन्तर्गत आने पर भी शहरी जीवन में फैशन रूप में ही अपनाए गए हैं। वैसे ही लोकनाट्य पद्धतियाँ और लोककथाएँ लोक-परम्परा का अंग होने पर भी साहित्य में फैशन बन कर ही आई है।

परम्परा रेल की पटरी नहीं है जिससे उतरते ही साहित्य की गाडी न चले, लेकिन वह विकास की दिशा की सूचक मानी जा सकती है। निस्संदेह वह एक निश्चित विकास-बिन्दु तक साहित्य के पहुँचने की सूचक अवश्य होती है। वस्तुतः परम्परा परिवर्तनों के भीतर निरन्तरता को दर्शाती है। परम्परा परिवर्तनों को अस्वीकार नहीं करती। उसमें निरन्तर होते रहने वाले परिवर्तन इस तरह जुडते हैं कि उनके जुड़ने से एक पहचान बनती है। जब परिवर्तन इतने आकस्मिक और आमूलचूल हों कि निरन्तरता लुप्त होती प्रतीत हो और लगे कि 'एक आरम्भ नवीन' की स्थिति आ गई है तो एक परम्परा का अन्त और दूसरी का उदय मान लेना चाहिए; यद्यपि उस स्थिति में भी पुरानी और नई परम्परा के बीच एक क्षीण-सा सम्बंध-सूत्र हो सकता है जिसे प्रयत्नपूर्वक खोज निकाला जा सकता है।

कभी-कभी जब वस्तु और रूप दोनों में साहित्य अपनी विकासधारा से अलग हट कर नये आरम्भ की सूचना देता प्रतीत होता है तब भी वह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के स्तर पर -- सरोकारों और जीवन-मूल्यों के स्तर पर -- अपने पूर्ववर्ती साहित्य से जुड़ा हुआ हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य में परम्परा विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में बनती है। कोई साहित्य विषय-वस्तु के स्तर पर एक परम्परा की सृष्टि करता है और विधा तथा शिल्प के स्तर पर दूसरी परम्परा का विकास कर सकता है। विजयदान देथा की कहानियाँ विषयवस्तु के स्तर पर जनवादी परम्परा में आती हैं तो उनका विधागत स्ववरूप लोक की परम्परा में (यदि वे वास्तव में लोक कथाएँ नहीं है तो)। इसलिए किसी साहित्यिक परम्परा की विशुद्धता की बात न करके उसे संश्लिष्ट रूप में देखना चाहिए।

साहित्यिक परम्परा अपनी संश्लिष्टता में वैविध्य को अंगीकार करती है जो उसके विभिन्न घटकों के अनुपात के बदलते जाने का अपरिहार्य परिणाम है।

इसलिए वह प्रयोगों का रास्ता नहीं रोकती। यदि प्रयोग नवनवोन्मेष की देन है तो साहित्य में उनका रास्ता सदा खुला रहता है। हिन्दी के प्रयोगवादी कवि ही 'नई राहों के अन्वेषी' नहीं थे, प्रत्येक रचनाकार अपने लिए नई राह बनाता है। परम्परा के अब तक के विकास को वह अपने प्रयोगों से और आगे ले जाता है। इसी अर्थ में 'अज्ञेय' का यह कथन सही माना जा सकता है कि 'प्रयोग का कोई वाद नहीं होता'।

लेकिन यह उक्ति वहाँ लागू नहीं होती जहाँ प्रयोग बौद्धिक खिलवाड़ के लिए किये जाते हैं, जैसे कि प्रयोगवादी काव्यांदोलन के दौरान कहीं-कहीं दिखलाई दिए थे। इस तरह के प्रयोग अनूठेपन के चक्कर में अटपटापन पैदा करते हैं। उनके प्रति आग्रह जब एक आंदोलन का हिस्सा बन जाता है तो प्रयोग प्रयोग न रह कर प्रयोगवाद में बदल जाता है। जब रचनाकार प्रयोगशील से बढ़ कर प्रयोगवादी हो जाता है तो उसकी रचना परम्परा को आगे ले चलने के स्थान पर उसे भटका देती है।

यह नहीं समझना चाहिए कि प्रयोग शिल्पगत ही होते हैं। वास्तविक प्रयोग रचना-दृष्टि में परिवर्तन का परिणाम होते हैं और नए विषयों, उनके साथ नए ढंग के बरताव और नूतन शिल्प में दिखलाई देते हैं।

रचना-दृष्टि का नयापन रचनाकार की मौलिकता को प्रेरित करता है, लेकिन पाठक के लिए वह कठिनाई पैदा करता है। पाठक अब तक की परम्परा से परिचित रहे होते हैं, और नए प्रयोग उनके लिए अप्रत्याशित होते हैं। इसी लिए नये काव्यान्दोलनों को आरम्भ में प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। फिर भी रचनाकार यह सोच कर अपने रास्ते पर डटा रहता है कि समय निरवधि है और पृथ्वी विपुला है, कभी-न कभी और कहीं न कहीं तो कोई ऐसा होगा जो उसके रचना-कर्म का सही मोल आँक सकेगा। बहुत जल्दी ही उसकी बह आशा पूरी होती है जब पाठकों की नई पीढी सामने आती है जिसकी रुचि और समझ पूर्ववर्ती परम्परा से बँधी न हो कर नए प्रयोगों के स्वागत के लिए खुली होती है। वह नए काव्यांदोलन के प्रतिरोध को क्षीण करती है। छायावाद और नई कविता, दोनों को आरम्भिक प्रतिरोध के बाद ही प्रतिष्ठा मिली।

यह कहा जा सकता है कि प्रतिरोध पर विजय उन्हीं प्रयोगों को मिलती है जो नवोन्मेष का परिणाम होते हैं। खिलवाड के तौर पर किए जाने वाले प्रयोगों का मजाक ही बनता है। प्रयोगवादी काव्यांदोलन के दौरान जो कई अटपटी कविताएँ लिखी गईं वे आज भी उद्धृत होती हैं तो रचनाकार की सर्जनात्मक उपलब्धि के उदाहरण देने के लिए, प्रयोगवादी धारा को बेतुकी सिद्ध करने के लिए।

लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्येक प्रवाह के साथ कंकड पत्थर रहते हैं। कंकड-पत्थरों के विना किसी प्रवाह का अस्तित्व शायद नहीं होता। पर उन्हें ले कर प्रवाह को घटिया बतलाना उचित नहीं है। वे तो उसकी वेगवती गति के परिणाम होते हैं। हिन्दी की प्रयोगवादी काव्यधारा में मिलने वाली अटपटी रचनाएँ नयेपन के लिए रचनाकारों के उत्साहातिरेक का पता देती है। यदि उनके मन में यह उत्साह नहीं रहा होता तो नई कविता को वह भूमि नहीं मिलती जो उसे प्रयोगवाद के अन्तर्गत किए गए प्रयोगों ने उपलब्ध कराई। निस्संदेह खिलवाड प्रतीत होनेवाली प्रयोगवादी कविताएँ उसकी उपलब्धियाँ नहीं हैं, लेकिन उन्होंने उपलब्धियों को आधार प्रदान अवश्य किया है। स्वयं श्रेय से वंचित रह कर श्रेय पाने वाली रचनाओं के पथ में वे बिछी हैं। उनका मूल्य इसी दृष्टि से सही तरह से समझा जा सकता है।

इस तरह देखने पर यही प्रतीत होता है कि इस कोटि की रचनाओं को परम्परा–विच्छिन्न मानने के स्थान पर परम्परा के नए मोड़ का निर्माण करने वाली समझना चाहिए। इस स्थिति में परम्परा और प्रयोग परस्पर विरोधी न रह कर परस्पर सहयोगी बन जाते हैं।

जगदीश शर्मा

५६, गोल्फ कोर्स
जोधपुर – ३४२००१
(राजस्थान)

टिप्पणी

१.– मॉरिस वाइज्ज की पुस्तक प्राम्ब्लम्स इन आर्ट में संगृहीत विन्सेंट टॉमस का लेख 'क्रिएटिविटि इन आर्ट' पृ. ३७७.

यूनानी नीतिशास्त्र (१)
सुकरात-पूर्व पाश्चात्य नीति-दर्शन की विवेचना : पाइथागोरस, हेराक्लाइटस और डेमॉक्रिटस

यूरोप के नीतिशास्त्रीय चिंतन का आरंभ हम ई. पू छटी शताब्दी में मान सकते हैं, जब यूनान में सुप्रसिध्द 'सात महात्माओं'[1] ने न केवल प्रकृति के संबंध में, बल्कि आचरण के संबंध में भी अपने असंबद्ध विचार सूत्र और नैतिक शिक्षाओं के रूप में प्रस्तुत किए। प्लेटो और अरस्तू ने अपनी कृतियों में इनके संबंध में जो संदर्भ दिए हैं उनसे नीतिशास्त्रीय विचार पर इनका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। किन्तु स्पष्ट ही इनके विचारों को पारिभाषिक अर्थ में नैतिक दर्शन या नीति-मीमांसा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। थैलीज (लगभग ६४०-५६० ई. पू.), जो सात महात्माओं में से एक था, यूनान का प्रथम भौतिक दार्शनिक माना गया है; किन्तु आचरण संबंधी उसके कथनों में कोई दार्शनिक-चरित्र नहीं देखा जा सकता। वस्तुतः थैलीज से सुकरात तक के दार्शनिक, जिन्हें हम प्रायः 'सुकरात-पूर्व दार्शनिक' कहते हैं मुख्यतः भौतिक या तत्त्व-मीमांसात्मक चिंतन तक ही सीमित रहे। बेशक इनमें सोफिस्ट अपवाद हैं। इन तत्त्वमीमांसात्मक अभिरुचि के दार्शनिकों में यदि किन्हीं विचारकों का चिंतन नीतिशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है तो वे केवल पाइथागोरस, हिराक्लाइटस और डेमाक्रिटस ही हैं।[2] इन दार्शनिकों में हमें किसी हद तक नीतिशास्त्र के उत्तरवर्ती क्रमशः तीन संप्रदायों का पूर्वाभास दिखाई देता है - ये हैं प्लेटोवाद, स्टोइकवाद और ऐपीक्यूरियसवाद।

पाइथागोरस (लगभग ५८०-५०० ई. पू.)

हमें पाइथागोरस के जीवन का कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक वृत्त उपलब्ध नहीं है। इतिहासकारों ने उसकी जीवनियां लिखी हैं - वे सभी अतिरंजनाओं से

पूर्ण हैं। इसलिए उसका जीवन किंवदन्तियों का विषय बन कर रह गया है जिसमें इतने अधिक आश्चर्य, दन्तकथाएँ, चमत्कार और अद्‌भुत कार्य जुड़ गए हैं कि ऐतिहासिक पाइथागोरस को उसमें से खोज निकालना एक दुरूह कार्य है। उसके बारे में सर्वाधिक विश्वसनीय बात यह है कि वह ऐसी व्यवस्था, जिसे पाइथागोरस संप्रदाय कहा जा सकता है, का प्रणेता था जो आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करती थी और जिसका प्रमुख रूप से नैतिक–धार्मिक उद्देश्य था। स्पष्ट ही उनका अपना कोई सच्चे अर्थ में नीति–दर्शन नहीं था किन्तु उसका कथन मात्र ही – इससे दीक्षित [3] – उसके शिष्यों के लिए नैतिक आदेश होता था।

पाइथागोरस की दिलचस्पी अपने अन्य सभी समकालीन दार्शनिकों की तरह निष्काम वैज्ञानिक खोज में इतनी नहीं थी जितनी कि आत्मोपलब्धि में थी। उसके लिए दर्शन एक ऐसी जीवन–पद्धति का आधार है जो आत्मा को मोक्ष की ओर ले जाता है। मनुष्य और उसका जीवन के अन्य रूपों के विश्व से संबंध ही स्थापित करना पाइथागोरस के दर्शन का केन्द्र–बिन्दु है। पाइथागोरस और उसके अनुयायी यूनानी देवता अपोलो की पूजा करते थे। अपोलो का आदर्श संयमन (अतिवादिता का त्याग) माना गया है। पाइथागोरस के अनुयायियों का विश्वास था कि पाइथागोरस स्वयं अपोलो का ही अवतार था।

पाइथागोरस का नैतिक दृष्टिकोण बहुत कट्टर और तपस्यामूलक था। वह अपने संप्रदाय के सभी सदस्यों से जीवन में अत्यधिक शुद्धता की अपेक्षा करता था। वह यह मानता था कि शरीर आत्मा का बंदीगृह है और इससे मुक्त होने के के लिए आत्मशुद्धि का जीवन नितांत आवश्यक है। यह शुद्धिकरण बाह्य और आंतरिक दो प्रकार का है। बाह्य में शरीर शुद्धि के लिए मिताहार और ब्रह्मचर्य पालन करने पर, और आंतरिक में ध्यान, समाधि एवं संगीत द्वारा आत्मशुद्धि पर पाइथागोरस ने बल दिया है। यहां यह जानना दिलचस्प होगा कि पाइथा• गोरस के आत्मशुद्धि के सिद्धान्त के मूल में चिकित्साशास्त्र है।

पाइथागोरस के युग में शरीर की शुद्धि के लिये औषधि और आत्मा को शुद्ध करने के लिए–मानसिक रोगों के निवारण हेतु–संगीत का प्रयोग किया जाता था। प्लेटो के फीडो नामक संवाद में, जिसमें पाइथागोरस के सिद्धान्तों का वर्णन है, दर्शन को 'सर्वोत्तम संगीत' कहा गया है, और यह निश्चित है कि 'फिलासफी' शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम पाइथागोरस ने ही किया था। जो भी हो, संगीत से आत्मिक–शुद्धि की बात और सर्वोच्च संगीत को दर्शन कहना–पाइथागोरस के गूढ नैतिक चिन्तन की ओर स्पष्ट संकेत हैं। [4]

पाइथागोरस के पुनर्जन्म के सिध्दान्त में एक स्पष्ट नैतिक आयाम भी है। इस सिध्दान्त के अनुसार मनुष्य को बार बार जन्म लेना और मरना पड़ता है।

उसे अपने कर्मों के अनुसार पशु–योनियों में भी जन्म लेना पड़ सकता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, पाइथागोरस शरीर को आत्मा का कारागार मात्र मानता था और उसकी यह दृढ़ आस्था थी कि इस कारागार से – विषयान्तर से पुनर्जन्म से--मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। पाइथागोरस ने इस मुक्ति को प्राप्त, करने के दो मार्ग बताए जिन्हें हम भारतीय दर्शन की शब्दावली में कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग कह सकते हैं। कर्म--मार्ग संयम, साधना, धार्मिक संस्कार और कर्मकांड का जीवन है तथा ज्ञान-मार्ग बौध्दिक चिंतन, विज्ञान और दर्शन के निरंतर अभ्यास का जीवन है।

पाइथागोरस की जीवन–पद्धति में सहानुभूति तथा बन्धुत्व के लिए प्रमुख आग्रह है। जीवन अंततः एक है और प्रत्येक जीव में एक अनिवार्य बान्धुत्व है। पाइथगोरस का यह विश्वास न केवल उसके पुनर्जन्म का आधार है बल्कि मांसाहार के विरुद्ध उसकी दलील भी है। वह सोचता था, हो मकता है भेड़ के रूप में यहीं कोई अपना पुरखा ही न हो !

पाइथागोरस के लिए न केवल समस्त जीव जगत्, बल्कि पूरा विश्व ही एक सजीव संचालित प्राणी है और इसीलिए हम सब एक बान्धुत्व की भावना से बन्धे हुए हैं। बेशक सारा विश्व एक, शाश्वत और दिव्य है किन्तु मनुष्य अनेक और मरणशील हैं। फिर भी वे सब सर्वव्यापी और दिव्य आत्मा के ही मार्ग हैं। मनुष्य को इसीलिए पवित्र और संस्कारित बनना चाहिए ताकि वह विश्वात्मा में, जिसका कि वह हिस्सा है वापस लौट सके। जब तक ऐसा नहीं होता मनुष्य पुनर्जन्म लेने के लिए, और कोई भी नया शरीर धारण करने के लिए बाध्य है।

पाइथगोरस की पुनर्जन्मवाद में दृढ़ आस्था थी। किन्तु उसके समकालीन जीनोफेनीज ने इस सिद्धान्त का उल्लेख कुछ परिहास के साथ किया है। उसके अनुसार पाइथागोरस ने एक बार किसी व्यक्ति को एक कुत्ते को मारते हुए देखा। उसे उन्होंने तुरंत मारने से रोका और कहा कि इस कुत्ते की आवाज से मैं यह बता सकता हूं यह मेरा मित्र है जिसने अशुभ जीवन यापन करने के कारण कुत्ते के रूप में जन्म लिया है। [५]

इस दृष्टांत को यदि हम पुनर्जन्म के उदाहरण के रूप में न भी लें तो भी इससे पाइथागोरस का जीव–प्रेम दृष्टिगोचर होता है। पाइथागोरस संप्रदाय में मांसाहार के निषेध पर भी बल दिया गया था जो शायद बाद में विकसित हुआ हो क्योंकि हम जानते हैं कि पाइथागोरस ने स्वयं अपने लिए मांसाहार को पूरी तरह से वर्जित नहीं माना था। अपने जीव–प्रेम के बावजूद। [६]

साधना और ज्ञान की दृष्टि से पाइथागोरस ने व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। (१) धन–प्रेमी (लवर्स आफ गेन), ये निकृष्ट हैं।

पाइथागोरस इन्हें विषयासक्त कहता है। (२) यश-प्रेमी (लवर्स ऑफ आनर); ये यश-लोलुप व्यक्ति हैं जो सम्मान के भूखे होते हैं। पाइथागोरस इन्हें मध्यम-श्रेणी का मानता है और (३) प्रज्ञान-प्रेमी (लवर्स ऑफ विज्डम), ये उत्तम श्रेणी के व्यक्ति होते हैं जो सतत साधना, बौद्धिक चिंतन, विज्ञान और दर्शन का जीवन व्यतीत करते हैं और परम शुध्दि द्वारा पुनर्जन्म से स्वयं को मुक्त कर लेते हैं।

यहां यह स्पष्ट कर देना भी उचित ही होगा कि व्यक्तियों के गुणगत विभाजन का पाइथागोरस का यह सिद्धान्त ही बाद में प्लेटो के आत्मा के विभाग-त्रय के मूल में रहा है।

पाइथागोरस ने न केवल आत्मशुद्धि और आत्म-परीक्षण पर बल्कि किन्हीं विशेष सद्गुणों पर भी बल दिया है। इस प्रसंग में संयमन, साहस, विश्वसनीय मित्रता और शासन और कानून के आज्ञापालन के उनके नैतिक निर्देश विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें हम उनके उस प्रयत्न को, जो मानव जीवन को ईश्वर के सदृश बनाता है, स्पष्ट देख सकते हैं। लेकिन सद्गुणों की उनकी ये शिक्षाएं स्पष्ट ही दार्शनिक शैली में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। वे धार्मिक रूप से मताग्रही बल्कि पीर-पैगम्बरी तक, समझी जा सकती हैं।[७] लेकिन कुछ सद्गुण, जिन्हें उन्होंने अपने 'संख्या-सिद्धान्त' से संबद्ध किया है; दार्शनिक रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।

आइओनिया के विचारकों ने दृश्य जगत् के समाधान के लिये प्रकृति की शरण ली थी। जल और वायु को क्रमशः थेलीज और अनैक्सिमिनीज ने जगत् का मूल कारण बताया था। इन्हें उन्होंने अंतिम सत्ताएं या प्रथम सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया था। जगत् की अंतिम व्याख्या के लिये पाइथागोरस जल और वायु जैसे तत्त्वों से संतुष्ट नहीं था। वह और अधिक गहराई में जाना चाहता था। सामान्यतः हम विविध वस्तुओं को उनके गुणों द्वारा पहचानते हैं। किन्तु प्रायः ये गुण सर्वव्यापी नहीं होते। किसी वस्तु में एक गुण पाया जाता है तो दूसरी में दूसरा। कुछ पत्तियां हरी होती हैं, किन्तु सभी पत्तियां हरी नहीं होती। यही बात अन्य वस्तुओं और गुणों पर भी लागू होती है। किन्तु संख्या एक ऐसी वस्तु है जो संसार की सभी भौतिक और अभौतिक वस्तुओं में पायी जाती है। हम किसी ऐसे संसार की कल्पना नहीं कर सकते जहां संख्या न हो। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि संख्या वस्तुओं का एक बहुत महत्त्वपूर्ण आयाम हैं और विश्व की संरचना का यह एक मूलभूत अंश है। पाइथागोरस ने वस्तुओं के इसी पक्ष पर विशेष बल दिया है।

पाइथागोरस के अनुसार विश्व में सर्वत्र अनुपात, व्यवस्था और संवाद

विद्यमान है। और इन सभी का संबंध संख्या से है। उदाहरण के लिए अनुपात बनाते समय हमें एक संख्या का दूसरी संख्या से अनिवार्यतः संबंध बताना पड़ता है। इसी प्रकार व्यवस्था भी संख्या द्वारा प्रदर्शित की जाती है। जब हम यह कहते हैं कि सेना की टुकड़ी में व्यवस्था है तो हमारा तात्पर्य होता है कि प्रत्येक सैनिक एक दूसरे से एक निश्चित दूरी पर खड़ा है और उनके बीच की दूरी गज, फुट, इंच की संख्याओं से नापी जा सकती है। इसी प्रकार वाद्य-यंत्र में स्वर-संवाद का अभिप्राय भी स्वरों के बीच एक निश्चित क्रम है। पाइथागोरस और उसके अनुयायी शायद पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह खोज की कि संगीत की समस्वरता संख्याओं पर आधारित है।

इन सब बातों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकालना तो स्वाभाविक है कि संख्या विश्व एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है और उसमें वह मूलभूत है। लेकिन पाइथा-गोरस इससे कहीं आगे बढ़ कर यह घोषणा करता है कि विश्व संख्याओं से ही निर्मित है। संख्या विश्व-आधार है, उसका उपादान कारण है।

पायथागोरस ने अपने इस सिद्धान्त का कि 'सत्ता संख्या है' लगभग सभी क्षेत्रों में प्रयोग किया। यह प्रयोग स्पष्ट ही पूर्णतः मनमाना और विचित्र है। इसके पीछे कोई ठोस तर्क नहीं है। उदाहरणार्थ, हमें यह बताया गया है कि विविध संख्याये विविध वस्तुओं/प्रत्ययों/सद्गुणों की प्रतीक हैं – १ का अर्थ बिंदु; २ का अर्थ रेखा, ३ का अर्थ समतल, ४ का अर्थ ठोस, ५ का अर्थ भौतिक गुण; ६ का अर्थ सजीवता और सात का अर्थ बुद्धि, स्वास्थ्य, प्रेम और प्रज्ञा है। संख्याओं को इस तरह का महत्त्व देना मनोरंजक अवश्य हो सकता है, किन्तु इसमें किसी गहरे दार्शनिक अर्थ को तलाश करना निरर्थक ही है।

तथापि न्याय जैसे सद्गुण की जो पाइथागोरस ने संख्या द्वारा व्याख्या की है वह केवल दिलचस्प ही नहीं, दार्शनिक रूप से अर्थवान् भी है। पाइथागोरस का यह कथन कि 'न्याय' (समान रूप से प्रतिकार के अर्थ में) का सारतत्त्व एक वर्ग-संख्या है निश्चय ही आचरण के क्षेत्र को विश्व के गणितीय दृष्टिकोण से समझने का एक गंभीर प्रयास है। न्याय यदि समान प्रतिफल प्रदान करने वाला सद्गुण है (अर्थात्, यदि किसी व्यक्ति को मैं घायल करूं तो न्याय कहता है कि मुझे भी ढंग से ओर उसी मात्रा में घायल किया जाए) तो उसका प्रतीक वही संख्या हो सकती है जो समान के लए समान प्रतिफल प्रदान करे। अब चूंकि यह कार्य वर्ग-संख्याएँ ही कर सकती हैं अतः ये ही न्याय की प्रतीक हैं। ४-दो और दो का गुणनफल है, अतः यह समान के लिये समान लौटाती है। इस प्रकार, ४ न्याय का प्रतीक है। ९ भी यही कार्य करता है जो तीन और तीन का गुणनफल है। अतः पाइथागोरस के कुछ अनुयायी ९ को न्याय का प्रतीक मानते हैं।

पाइथागोरस के इसी प्रकार अन्य कथन भी इस बात का संकेत देते हैं कि उसने विश्व को किस प्रकार संख्या और अनुपात की दृष्टि से देखा है। पाइथागोरस इस अर्थ में भी प्लेटो का पूर्वानुमान है। उसके लिए सद्गुण और स्वास्थ्य 'सुसंगतियां' (हार्मनीज) हैं, मित्रता, सुमेल – समानता (हारमोनिक ईक्वेलिटी) है। उसके द्वारा शुभ को इकाई, सीमा और ऋजुता इत्यादि के अन्तर्गत रखना तथा अशुभ को विपरीत गुणों में देखना हमें प्लेटो के उस दृष्टिकोण की याद दिलाता है जिसके अनुसार मानवी आचरण को हमें उसी अनुपात में शुभ मानना चाहिए जिस हद तक वह अति की वर्जना करता है–ठीक उसी तरह जैसे बाह्य प्रकृति और कलात्मक कृतियाँ अपने अच्छे परिणामों के लिए किन्हीं तत्त्वों की अेक निश्चित मात्रा पर निर्भर करती हैं।[७]

पाइथागोरस यूनान का प्रथम ऐसा विचारक है जिसके दर्शन का नीतिशास्त्रीय महत्त्व स्वीकार किए बिना नहीं रहा जा सकता। वह आधुनिक अर्थ में स्पष्ट ही एक नीतिशास्त्री नहीं है क्योंकि न तो उसने नैतिक पदों की विवेचना की है और न ही नैतिक मूल्यों की कोई दार्शनिक समीक्षा ही प्रस्तुत की है। किन्तु उसने एक सुस्पष्ट जीवन–पद्धति को स्वीकार किया है और उसकी सभी नैतिक शिक्षाअें उसी के अनुरूप हैं। वे अविचारित और असंबद्ध नहीं हैं। उनका ठोस आधार वह जीवन–पद्धति है जिसका अंतिम लक्ष्य मानव आत्मा को पुनर्जीवन से मुक्ति दिलाना है, ताकि वह विश्वात्मा में, जिसका वह भाग है, लौट सकें।

इसके अतिरिक्त, पाइथागोरस प्लेटो के नीतिशास्त्र के अनेक पक्षों का पूर्वानुमान है। और इसलिए भी उसका नीतिशास्त्रीय महत्त्व अनदेखा नहीं किया जा सकता। पाइथागोरस का पुनर्जन्मवाद प्लेटो में 'स्मृति सिद्धान्त' का आधार बना है जिसका मेनो और फीडो नामक संवादों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन वस्तुओं का हम इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार करते हैं वे उन वस्तुओं का स्मरण कराती हैं जिन्हें आत्मा ने इस जन्म के पूर्व अशरीरी अवस्था में देखा था। उदाहरण के लिए हमने सुन्दर फूल या अच्छा व्यक्ति भले ही देखा हो किन्तु सुन्दरता या अच्छाई नाम की कोई चीज कभी नहीं देखी; किन्तु हम जानते हैं कि सुन्दरता और अच्छाई क्या है। और इन इन्द्रिय–प्रदत्त वस्तुओं की सुन्दरता आदि की अपूर्णता का बोध हमें स्मृत–तत्त्वों से तुलना करके ही मिलता है।

इसी तरह पाइथागोरस का नैतिक आधार पर व्यक्तियों का तीन श्रेणियों में विभाजन भी प्लेटो द्वारा सुझाए गये आत्मा के तीन पक्षों में विभाजन का पूर्वाभास है। धन प्रेमी, यश–प्रेमी और प्रज्ञान–प्रेमी व्यक्तियों के ठीक अनुरूप

ही प्लेटो आत्मा को इच्छा, ओजस्विता और प्रज्ञान पक्षों में विभाजित करता है। और इन तीनों की ही सुसंगति को ही व्यक्तिगत स्तर पर सर्वोच्च नैतिकता (न्याय) समझता है।

इतना ही नहीं, पाइथागोरस की तरह ही, किन्तु कदाचित् अधिक मर्यादित और तर्कसंगत रूप में, प्लेटो ने भी विश्व के प्रति (और, इसलिए नीतिशास्त्र के प्रति भी) एक गणितीय दृष्टि अपनाई है। इस अर्थ में भी पाइथागोरस का दृष्टिकोण प्लेटो का पूर्व-संपादित रूप है। जिस तरह संख्याओं को आधार मान कर पाइथागोरस ने सद्गुणों को 'हारमनी' कहा है ठीक उसी तरह मानवीय नैतिक आचरण के लिए प्लेटो भी अतिवादिता से बचने के लिए आग्रह करता है।

हेराक्लाइटस (लगभग ५३०–४७० ई. पू.)

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है आरंभिक यूनानी दार्शनिकों ने प्रमुख रूप से भौतिक जगत् के स्वभाव को जानने पर बल दिया। वे विशेषकर इस प्रश्न से कि जगत् किस तत्त्व से निर्मित है, जूझते रहे। पाइथागोरस की खोज का भी प्रमुख विषय यही था और उसने जगत् को संख्या से निर्मित बताया। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं उसके इस सिद्धान्त का अर्थ-विस्तार नीतीशास्त्र के क्षेत्र में भी प्रवेश कर जाता है।

पाइथागोरस के अतिरिक्त दो अन्य दार्शनिक भी ऐसे हुए हैं जिनके बारे में हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ये भी—बाबजूद इसके कि ये प्रमुख रूप से भौतिक दार्शनिक हैं—नीतिशास्त्रीय समस्या को स्पर्श करते हैं। ये हैं-हेराक्लाइटस और डिमाक्रीटस, जिन्हें कभी कमी क्रमशः 'रोता हुआ' और 'हंसता हुआ' दार्शनिक कहा गया है। ये दोनों उन नीतिशास्त्रीय संप्रदायों के प्रणेता माने जा सकते हैं जिनका बाद में स्टोइकवाद और एपीक्यूरसवाद के नाम से विकास हुआ। जिस तरह पाइथागोरस के विचारों को कम से कम आंशिक रूप से प्लेटोवाद का पूर्वानुमान माना जा सकता है, उसी तरह हेराक्लाइटस और डिमाक्रीटस को क्रमशः स्टोइक और एपीक्यूरसवाद का पूर्व-संस्करण कह सकते हैं।

हेराक्लाइटस का समय ईलियाई दार्शनिकों [१] के समानान्तर है। उसने एफीसस के संभ्रांत कुल में जन्म लिया था और वहां के (एफीसस के) राजा होने की पदवी उसे मिली हुई थी। किन्तु वह राजा नाममात्र का था। उसने नाममात्र के पद को भी अपने भाई के पक्ष में त्याग दिया था।

हेराक्लाइटस स्वभाव से एकांतप्रिय था। इतना ही नहीं, दूसरों के प्रति तिरस्कारात्मक रवैया रखने के कारण वह एकाकी भी था। वह न केवल आम

आदमियों को नीची नजर से देखता था बल्कि महान् व्यक्तियों की भी वह निंदा करने से बाज नहीं आता था। अपने समय के विचारकों के संबंध में वह समझता था कि उनमें बुद्धि कम है और जो है उसे पुस्तकों के पाठ ने नाकाम बना दिया। जिनोफेनीज और पाइथागोरस का उसने अनादरपूर्वक जिक्र किया है। हेसिओड (Hesiod) को वह साधारणजन की भीड का शिक्षक मानता है जिसे रात और दिन की भी तमीज नहीं है।' उसके कुछ कथन और कहावतें हमें शोपेनहावर की याद दिलाती हैं। वे उसी की तरह तेज और कड़ली हैं। 'गधे सोने की बजाय घास खाना पसंद करते हैं' या 'कुत्ते हर अपरिचित पर भोंकते हैं' इत्यादि। लेकिन उसके कुछ सूत्र स्मरणीय हैं। व्यावहारिक बुध्दि से ओतप्रोत हैं; जैसे 'मनुष्य का चरित्र ही उसका भाग्य है' इत्यादि।

हेराक्लाइटस के दार्शनिक लेखन का जो थोड़ा सा अंश बच गया है, उसे समझ पाना बड़ा दुरूह है। शायद इसीलिए हेराक्लाइटस को 'अंधकारमय' और 'निरानंद' दार्शनिक कह कर पुकारा गया है। सुकरात ने उसकी कृतियों के लिए कहा है कि उनमें से वह जितना समझ पाया है, वह उत्कृष्ट है और जो नहीं समझा है, वह भी वैसा ही होगा। पुस्तक पार करने के लिए एक मजबूत तैराक चाहिए। इससे स्पष्ट है कि बावजूद अपनी दुरूहता के हेराक्लाइटस एक गहन-गंभीर दार्शनिक था [१०]।

हमारे पास ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है कि हेराक्लाइटस के अंधेरे दर्शन के नैतिक सूत्र नैतिक व्यवस्था जैसी कोई चीज प्रस्तुत करते हैं लेकिन भौतिक जगत् की उसकी मीमांसा, भौतिक स्तर का अतिक्रमण कर नैतिक क्षेत्र को स्पर्श अवश्य करती है।

थेलीज ने जल और एनेग्ज़िमेनीज ने वायु को जगत् का मूल द्रव्य माना था। इसी तरह हेराक्लाइटस अग्नि को समस्त विश्व का मूल मानते हैं। किन्तु हेराक्लाइटस की अग्नि, जल और वायु की भांति, एक, भौतिक द्रव्य मात्र नहीं है। यह अनेकार्थी है। भौतिक स्तर पर बेशक यह वस्तुओं का उपादान है। यह सुव्यवस्थित जगत् अग्नि का ही परिणाम है। द्योलोक तो अग्नि का प्रकट रूप है ही, पृथ्वी पर भी सारा जीवन अग्नि का चमत्कार है। किन्तु अग्नि इससे कहीं अधिक अर्थवान् है; वह सर्व प्रथम परिवर्तनशीलता और प्रवाह का प्रतीक है। परिवर्तित होते रहना ही अग्नि का स्वभाव है। वह सतत प्रवाह की स्थिति में होती है। यही बात हेराक्लाइटस के अनुसार समस्त सत्ता पर लागू होती है। सब कुछ प्रवाह है। स्थिर कुछ भी नहीं है। संसार में स्थायित्व के लिये कोई स्थान नहीं है। दूसरे शब्दों में यह अग्नि (सत्ता) सतत प्रवाहिनी सरिता के समान है। यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। हेराक्लाइटस का यह सिध्दांत हमें

बौद्ध दर्शन के क्षणभंगवाद का स्मरण दिलाता है—यत् सत् तत्क्षणिकम् ।

यहां यह ध्यातव्य है कि यह अग्नि जो विश्व-प्रपंच का निर्माण करती है और चिर-परिवर्तन की प्रतीक है, स्वयं अपने मूल रूप को छोड़ती नहीं । चूंकि परिवर्तन इसका स्वभाव है, परिवर्तन की प्रक्रिया में यह स्वतः परिवर्तित नहीं होती । वह स्वयं कूटस्थ है ।

पुनः हेराक्लाइटस अग्नि को संभवन का प्रतीक भी मानता प्रतीत होता है —जिसमें भाव और अभाव, दोनों ही अवधारणाओं का समावेश है । इलियाई संप्रदाय के चिंतकों ने सत्ता को भाव माना था जो एक, कूटस्थ और अपरिवर्तनीय है, तथा परिवर्तन और अनेकता को अभाव कह कर अस्वीकृत कर दिया था । हेराक्लाइटस सत्ता को न भाव मानता है न अभाव । वह उसे संभवन कहता है । संभवन भाव और अभाव दोनों का ही संमिश्रण है । वह एक अर्थ में भाव है और भाव नहीं भी है । साथ ही, अभाव है, अभाव नहीं भी है । भाव और अभाव का सतत संघर्ष ही सत्ता है; इसी को संभवन कहा गया है । अग्नि संभवन है ।

संभवन में भाव और अभाव का द्वन्द्व निहित है । वस्तुतः विश्व में प्रत्येक तत्त्व के साथ उसका विपरीत तत्त्व भी है और हर अस्तित्ववान् वस्तु ' विपरीत तनावों का समन्वय ' है । समन्वय के लिअे ऐसे दो विरोधी नियमों का होना जरूरी है जो अपने विरोध के बावजूद अन्तरनिहित अेकता प्रदर्शित करते हों । विरोधी नियमों के मध्य संघर्ष और विरोध में ही उनका जीवन, अस्तित्व और भाव है।

हेराक्लाइटस ने इस विचार को अनेक तरह से व्यक्त किया है । 'संघर्ष', वह कहता है, ' सभी वस्तुओं का जनक है । गज और सारंगी के मिलन और बिलगाव में ही स्वरसंगति पाई जाती है । ' हेराक्लाइटस ने इस प्रकार विरोध को सत्ता का तत्त्व बताया है । कवि होमर ने कामना की थी कि देवताओं और मनुष्यों में संघर्ष समाप्त हो जाए । इस संदर्भ में हेराक्लाइटस होमर की भर्त्सना करते हैं और कहते हैं कि यदि यह कामना पूर्ण हो गई होती तो अब तक जगत् का विनाश हो गया होता ।

हेराक्लाइटस की उपरोक्त तत्त्व-मीमांसा का नीतिशास्त्रीय निहितार्थ क्या है ? हेराक्लाइटस ने अग्नि को मूल भौतिक तत्त्व माना जो प्रकाशवान् और शुष्क है और यह कल्पना की कि इस तत्त्व का अंधकारमय और आर्द्र स्वरूप वाले विरोधी तत्त्व से निरंतर संघर्ष चलता रहता है । उसका यह भी विचार था कि इस संघर्ष को मनुष्य के जीवन में निरंतर चलते हुअे देखा जा सकता है, तथा नैतिक जीवन का महान् लक्ष्य प्रकाशवान् और शुष्क तत्त्व को विजय दिलाना है। उसका मूल नैतिक सिद्धान्त था, ' अपनी आत्मा को शुष्क रखो ।' ' शुष्क आत्मा

(अथवा शुष्क प्रकाश) सर्वोत्तम होती है'। – इस लोकोक्ति का स्त्रोत शायद यही है। यहां यह कहना प्रासंगिक होगा कि आर्द्र और शुष्क– 'रक्त और निर्णय' का यह विरोध एक लंबे समय तक दार्शनिक विचारधारा में बना रहा है –

धन्य हैं वे
जिनका रक्त और निर्णय सुमिश्रित है
क्योंकि वे भाग्य की उंगलियों में बांसुरी नहीं बने
जिस पर जितना चाहे वह अपना राग अलाप सके।[१२]

आर्द्र और शुष्क, रक्त और निर्णय, के संघर्ष का क्या आशय है ? यदि हम ध्यान से देखें तो पाएंगे कि शुष्क और प्रकाशमान्, जिसका प्रतीक अग्नि है, बुद्धितत्त्व है। ईलियाई दार्शनिकों की भाँति ही हेराक्लाइटस इन्द्रिय और तर्क-बुद्धि के भेद को स्वीकार करता है। परन्तु वह इसके आधार पर विपरीत अनुमान पर पहुँचता है। उसके अनुसार ज्ञानेन्द्रियां हमें स्थिरता का अनुभव कराती हैं; हमें प्रतीत होता है कि हमारा शरीर आदि स्थिर है। परन्तु ऐसा है नहीं। हम तर्कबुद्धि द्वारा ही संभवन के सिद्धान्त के ज्ञान तक पहुंच सकते हैं, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान द्वारा नहीं। इसी नियम के बोध में मनुष्य का कर्तव्य है और सुख का एक मात्र मार्ग है। इसे समझने के बाद मनुष्य परम संतोष और स्वीकार प्राप्त करता है। वह समझने लगता है कि शुभ और अशुभ, सुख और दुख एक ही सत्य के दो पहलू हैं। दोनों ही सांसारिक संवाद के लिए आवश्यक हैं। शुभ और अशुभ के परस्पर संघर्ष पर वस्तुओं का अस्तित्व निर्भर है। अशुभ भी अनिवार्य है और इसका भी जगत् में अपना स्थान है। इस सत्य का दर्शन करने के पश्चात् ही व्यक्ति विश्व के सर्वोच्च नियम के विरुद्ध अपने निरर्थक संघर्ष से बच पाता है।[१३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हेराक्लाइटस मनुष्यों को उस दैवी नियम का पालन करने के लिए, कि जिससे सारे मानवी नियम घटित होते हैं, आवाहन करते हैं। वे सभी लोगों को उनमें समान रूप से पाई जाने वाली तर्कबुध्दि पर डटे रहने लिए कहते हैं, हालांकि अधिकतर लोग अपने इन्द्रिजन्य ज्ञान से उत्पन्न भ्रम के समक्ष अपनी हार मान कर अपने सुख को मात्र क्षुधा–संतुष्टि तक सीमित कर देते हैं। परन्तु मनुष्य की बुध्दिमानी इसी में है कि वह समझदारी के साथ प्रकृति के अनुरूप चले।[१४]

यहां प्रकृति के अनुरूप चलने का क्या अर्थ है ? जैसा हम देख आए हैं, हेराक्लाइटस के अनुसार प्रकृति का नियम प्रवाह है, सतत परिवर्तन-शीलता है किन्तु यह प्रवाह आकस्मिक न होकर, बुध्दिमान् है। अग्नि इसी बुध्दिमान् प्रवाह का प्रतीक है। भौतिक जगत् में अग्नि प्रवाह है;

भौतिक जगत् से परे वह कूटस्थ नियम है जो प्रवाह संभव बनाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कूटस्थ नियम को हेराक्लाइटस ने 'लोगोन' कहा। यह पराक् है। यह विश्व में बुद्धि का तत्त्व है यह विश्व का नियमन और संचालन करनेवाली व्यवस्था है। इससे कोई पार नहीं पा सकता, कोई बच नहीं सकता हू शैल एक्केप इट ?।[१५] सूर्य तक अपनी मर्यादा का उल्लंघन इसी वजह से नहीं कर पाता।

जिस तरह प्रकृति जब तक 'लोगोस' से मर्यादित और संचालित है, वह व्यवस्थित रहती है, उसी तरह मनुष्य भी नैतिक रूप में तभी तक व्यवस्थित रह सकता है जब तक वह अपनी तर्कबुद्धि से नियमित और संचालित होता है। मनुष्य का बुद्धितत्त्व लोगोस का ही एक अंग है और इसी का अनुसरण करना सर्वोत्तम गुण है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य का आचरण जब तक सर्वव्यापी बुद्धि के अनुसार चलता है तभी तक वह नैतिक होता है। नैतिक होने के लिये बौद्धिक जीवन यापन करना और बुद्धि के आदेश को मानना अनिवार्य है। लोगोस की अधीनता स्वीकार करना ही नैतिक होना है।[१६]

हेराक्लाइटस की इस विषयनिष्ठ नियम के प्रति अटल श्रद्धा में हम निश्चित रूप से एक 'स्टोइक' गुण पाते हैं। हम कह सकते हैं कि इस दैवी और सर्वव्यापी 'नियम' (या कहें 'दृष्टि') के प्रति अपनी आत्मा के समर्पण में ही हेराक्लाइटस को 'आत्मसंतोष' (काम्प्लेसैंसी) उपलब्ध हो सका था; जिसे उसने सर्वोच्च गुण माना है। उत्तरवर्ती स्टोइकों ने भी, यह ध्यातव्य है, परमात्मा के आदेशों में आनन्दमयी शांति की समान वृत्ति को अभिव्यक्त करने के लिए, इसी शब्द–आत्मसंतोष–का प्रयोग किया है।[१७]

हेराक्लाइटस के अनुसार, इस प्रकार, नैतिकता का अर्थ आत्मसंयम है। वे विवेकपूर्ण जीवन पर बल देते हैं। उनके अनुसार संयम–हीनता, विलासिता; मद्यपान और वैभव का जीवन ही मृत्यु है। वासनाओं की तृप्ति आत्मा के मूल्य पर होती है। हमें ऐन्द्रिय सुखों से सावधान रहना चाहिए।

सामाजिक रूप से भी नैतिकता इसी में है कि हम कानून की रक्षा करें। स्वतन्त्रता तभी सच्चे अर्थ में परिलक्षित होती है जब हम लोगोस के नियम को बिना किसी हिचक स्वीकार करते हैं। इस नियम के अनुसार जहां भद्र है वहां उसका प्रतिरूप अभद्र भी मौजूद है, सुख के साथ दुख भी मिला है। परंतु यह विरोध तो न्याय का तत्त्व है। हमारा काम है कि हम इस नियम को स्वीकारें और संतुष्ट रहें। इस व्यापक नियम की उपस्थिति में, क्या हम कुछ और कर भी सकते हैं ?

हेराक्लाइटस के सिद्धान्तों का दर्शन जगत् पर बहुत दूरगामी प्रभाव

पड़ा। नीतिशास्त्रीय चिंतन भी अप्रभावित नहीं रहा। उनके बुद्धिवाद ने स्टोइक दर्शन के सृजन में अभूतपूर्व सहायता पहुंचाई–विशेषकर उनके कठोर नियतिवाद–विश्व के सर्वव्यापी नियम से कौन बच सकेगा–और 'लोगोस' (परावाक्य) ने स्टोइक दर्शन को बहुत प्रभावित किया। वस्तुतः 'लोगोस' स्टोइक दर्शन की जगत् में व्याप्त अंतर्यामी बुद्धि (इम्मनैंट रीजन) का ही पूर्ववर्ती सिद्धान्त है।

अंत में अब हम हेराक्लाइटस के नीतिशास्त्र के उच्चादर्शों की ओर पर्याप्त रूप से इंगित करने वाले कुछ सूत्रों को उद्धरित करते हैं।[१८]

१) लोगों को नियम के लिये वैसे ही संघर्ष करना चाहिए जैसे वे दीवालों के लिए करते है।

२) चरित्र मनुष्य का संरक्षक देवता है।

३) घर में आग लगी हो तो उसे बुझाने से भी अधिक तत्परता की आवश्यकता स्वेच्छाचारिता को शमन करने में है।

४) अपनी उत्कट वासना से संघर्ष करना कठिन है क्योंकि वह जो भी प्राप्त करना चाहती है आत्मा की कीमत पर करती हैं।

५) यदि वह एक (नैतिक व्यक्ति) सर्वोत्तम है तो वह मेरे लिए दस हजार के बराबर है।

डेमाक्रिटस (लगभग ४६०–३७० ई. पू.)

जैसे हेराक्लाइटस का नैतिक चिंतन स्टोइकवाद से संबंधित है, ठीक वैसे ही डेमाक्रिटस का नीति–दर्शन कुल मिलाकर एपीक्यूरस–वाद का पूर्वगामी है।

डेमाक्रिटस यूनानी दर्शन के इतिहास में 'हंसता हुआ' अथवा 'प्रसन्न' दार्शनिक के रूप जाना जाता है, जैसे, ठीक इसके विपरीत, हेराक्लाइटस को 'रोता हुआ' अथवा 'निरानंद' दार्शनिक कहा गया है। डेमाक्रिटस को 'प्रसन्न' दार्शनिक कहे जाने के पीछे कदाचित् यही कारण है कि वह अपने नैतिक–चिंतन में 'प्रसन्नता' को प्राप्त करना ही अंतिम लक्ष्य मानता है।

डेमाक्रिटस सुकरात–पूर्व भौतिक दार्शनिकों में कदाचित् सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक था। उसके जीवन के बारे में हम विश्वस्त रूप से बहुत कम जानते हैं किन्तु उसके संबंध में अनेक किंवदतिया हैं। वह सुकरात का अग्रज था और उसे विरासत में काफी संपत्ति मिली थी। ज्ञान की तलाश में इसलिए वह काफी सुदूर तक की यात्राऐं कर सका। कहते हैं इस उद्देश्य से वह बेबीलोन, ईजिप्त और शायद भारत तक घूमा और सभी स्थानों से वह जो भी ज्ञान अर्जित कर सका, उसने किया। उसने अनेक कृतियां लिखीं और इन कृतियों की गुणवत्ता की तुलना आसानी से अरस्तू और प्लेटो से की जा सकती है। कहा जाता है कि

वह पांचवी शताब्दी का अरस्तू था।

डेमाक्रिटस अपने भौतिक दर्शन में परमाणु सिद्धान्त के लिए विख्यात है। यह सिद्धान्त सर्वप्रथम ल्यूसियस ने प्रस्तुत किया था किन्तु इसे विकसित डमाक्रिटस ने ही किया। इस मत के अनुसार विश्व में परमाणुओं और शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परमाणु सतत गतिमान् हैं और उनके संघात से ही सभी पदार्थ निर्मित होते हैं, उनके विच्छेद से वे समाप्त हो जाते हैं।

किन्तु डेमाक्रिटस का नीति–दर्शन उसके परमाणुवाद से पूरी तरह स्वतंत्र है। उसे नैतिक क्षेत्र में परमाणुवाद का विस्तार नहीं कहा जा सकता। डेमाक्रिटस के आचार संबंधी विचारों को यदि हम पूर्णतः पुनः उपलब्ध कर सकें तो वे कदाचित् उसके परमाणुवाद से भी अधिक रोचक होंगे। किंतु उसके नाम पर पाए जाने वाले अनेक नैतिक उपदेशों में से, कौन से वस्तुतः मौलिक हैं, यह निर्धारित कर पाना अत्यन्त दुष्कर है परन्तु इसमें संदेह नहीं कि प्रसन्नता (चीयरफुलनेस) नामक कृति डेमाक्रिटस की ही रचना है तथा उसके कुछ अंश अब भी उपलब्ध हैं।[१९]

प्रसन्नता में जिस नैतिक सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है उसे संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है– 'आनंद की प्राप्ति न तो पशुसंपत्ति में है और न स्वर्ण में।(इसका) निवास स्थान आत्मा है।' मनुष्य का परम लक्ष्य यह होना चाहिए की वह अपने जीवन में अधिकतम प्रसन्नता और अल्पतम कष्ट की प्राप्ति करे।' अतः यह कहा जा सकता है कि 'सुख एवं दुख से ही आनंद निर्धारित होता है'।[२०]

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि डेमाक्रिटस 'प्रसन्नता' (हेपीनेस) को मानव जीवन का लक्ष्य मानते थे। उनके अनुसार सभी कार्य सुख की प्राप्ति और दुःख से निवृत्ति के लिए किए जाते हैं। यदि कोई वस्तु हमें सुख देने में सहायक है तो हम उसे उपयोगी मानते हैं और यदि सुख–प्राप्ति में बाधक है तो उसे अनुपयोगी। किन्तु इससे हमें यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि वे बेन्थम और मिल की भांति सुखवादी थे और ऐन्द्रिक सुख, भोग विलास, वासनाओं की तृप्ति और उपयोगिता को ही जीवन का लक्ष्य मानते थे। इसके विपरीत वे पूर्ण रूप से परंपरागत नैतिक दर्शन के अनुमोदक थे। वे गीता, बौद्ध दर्शन एवं ईसाई धर्म की भांति ऐंद्रिक सुख को क्षणिक, उत्तेजक और दुःख मानते थे और उससे निवृत्ति पर बल देते थे। उनके अनुसार सच्चा सुख आत्मिक शांति (जिसे उन्होंने 'कल्याण' (वेल बीइंग) और 'प्रसन्नता' (चीयरफुलनेस) ही नहीं बल्कि 'अशांति' (डिस्टर्बेंस) 'संत्रास' (एलाम) और 'विस्मय' (वण्डर) से मुक्ति भी कहा है) में है जिसकी प्राप्ति समृद्धि, ऐश्वर्य और पद–प्रतिष्ठा आदि बाह्य

परिस्थितियों और उपकरणों पर नहीं अपितु तितिक्षा, संयम और युक्ताहार-विहार के जीवन पर निर्भर है। किन्तु मानव को अपने जीवन के वास्तविक शुभ और प्रातिभासिक शुभ का अंतर कैसे ज्ञात हो ? इस समस्या के समाधान के लिये वे ज्ञान को ही एक मात्र शरण मानते थे और इस बात पर बल देते थे कि सम्यग्-ज्ञानार्जन ही मानव का परम कर्तव्य है।[२१]

स्पष्ट ही डेमाक्रिटस का यह नैतिक-सिद्धान्त असंस्कृत सुखवाद नहीं है। इन्द्रिय सुखों में वास्तविक सुख की मात्रा उतनी ही कम है कि जितनी संवेदनों में/उनमें सत्य ज्ञान का अंश कम होता है। 'शुभ तथा सत्य सभी लोगों के लिए समान हैं किंतु हरेक का प्रेय भिन्न होता है।' पुनः, इन्द्रियों के सुखों की अवधि इतनी कम होती है कि वे जीवन-पर्यन्त बने नहीं रहते तथा वे सरलता से विपरीत स्थितियों (दुखों) में बदल जाते हैं। यदि नैतिक कार्य में हम सुख प्राप्ति के प्रति निष्काम बने रहते हैं तो निश्चित ही उसमें दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक होगी। हमारा प्रयास यह होना चाहिए की हम अपने कर्म में 'कौशल' या 'प्रसन्नता' प्राप्त करें और यह आत्मा की एक स्थिति है।'[२२] इसे प्राप्त करने के लिए हमारे अंदर वह सामर्थ्य होना चाहिए कि हम विभिन्न सुखों के मूल्य की तुलना, निर्णय तथा भेद कर सकें।[२३]

डेमाक्रिटस के अनुसार हमें 'अति' से परहेज करना बहुत आवश्यक है। 'बहुत अधिक' और 'बहुत कम' दोनों ही समान रूप से बुराईयाँ हैं। लोग भाग्य को दोष देते हैं परन्तु वह तो एक कल्पना मात्र है जिसको मनुष्य ने अपने अज्ञान के दोष-मार्जन के लिए गढ़ा है। वस्तुतः जिस महान् सिद्धान्त को हमें अपने पथ-प्रदर्शन हेतु चुनना है, वह है-हारमनी अथवा सामंजस्य। यह निसंदेह पाइथागोरसीय सिध्दान्त है। यदि हम इस कसोटी को सुखों पर लागू करें तो हमें शांति प्राप्त होगी। शरीर की शांति स्वास्थ्य है और आत्मा की शांति प्रसन्नता है। वह आत्मिक विषयों में उपलब्ध होती है, न कि भौतिक।[२४]

नीतिशास्त्र में डेमाक्रिटस के एतिहासिक महत्त्व को हम कम कर के नहीं आंक सकते। हालांकि यह भी उतना ही सही है कि उसके नैतिक विचार संपूर्णतः कोई स्पष्ट नैतिक-सिध्दान्त का अनुसरण करते नहीं दिखाई देते। इस अर्थ में वह अन्य सभी सुकरात-पूर्व दार्शनिकों की तरह ही था। इन सभी का नैतिक चिंतन अव्यस्थित रहा है। डेमाक्रिटस की नैतिक शिक्षाओं के जो थोडे अंश हमें प्राप्त हो सके हैं उनमें भी कोई पध्दति ढूंढ पाना कठिन है। किन्तु उसके अनेक नैतिक कथन उसके इस मूल सिध्दान्त से अनिवार्यतः तार्किक रूप से जुडे हुए नहीं हैं। वे केवल एक उच्च नैतिक स्थाई भाव की सहज अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं, जैसे-'अन्याय करना उसे भोगने से बद्तर है।', अथवा 'केवल गलत

करना ही नहीं बल्कि अशुभ कामना करना भी बुरा और निंदनीय है।' इत्यादि ।[२५] ये सभी नैतिक सूत्र न तो उसकी नीतिशास्त्रीय सुखवादी दृष्टि के अनुरूप हैं और न ही परमाणु सिद्धान्त पर आधारित हैं। जिसे उसने अपनी तत्त्वमीमांसा में अपनाया है। अतः इन सिद्धान्तों का कोई वैज्ञानिक अधार नहीं, है। हेराक्लाइटस और डेमाक्रिटस, इन दोनों ही दार्शनिकों ने अपने नीतिशास्त्रीय विचारों को व्यवस्थित रूप देने का कोई प्रयत्न नहीं किया है। फिर भी, हम डेमाक्रिटस के नैतिक उपदेशों के संग्रह को शायद पहली बार एक नैतिक-पद्धति का नाम दे सकते हैं। उसमें कम-से-कम निःश्रेयस् का एक स्पष्ट विचार तो सामने आया ही है।

डेमाक्रिटस की सुखवादी दृष्टि को हम एपीक्यूरसीय सिध्दान्त का पूर्वगामी मान सकते हैं। और यही उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। किन्तु यहाँ भी यह कहना कठिन है कि डेमाक्रिटस एपीक्यूरस का भावात्मक रूप से पूर्ववर्ती दार्शनिक था। दोनों ही सुख को निःश्रेयस् जरूर मानते हैं, किन्तु, एपीक्यूरस के विपरीत डेमाक्रिटस के लिए सच्चा सुख इन्द्रिय-उपभोग में नहीं है, उसका संबंध आत्मा से है। डेमाक्रिटस के अनुसार सुख, धन अथवा पशु संपत्ति में न होकर शुभ-मनोदशा में है, आत्मा की निरंतर शांति और उचित विन्यास में है। इस अर्थ में डेमाक्रिटस का दृष्टिकोण एपीक्यूरस सिद्धान्त के नकारात्मक पक्ष से अधिक समान है।[२६] मन की साम्ययोगी, अविचलित वृत्ति से आनंद की अभिन्नता का उद्घोष, सर्वोच्च शुभ प्राप्त करने के लिए इच्छाओं के संयमन पर आग्रह, आरीरिक सुखों की बजाय आत्मानंद की वरीयता, मृत्यु अथवा मृत्योपरांत की आशंका से मुक्ति के लिए प्रज्ञान और अंतःप्रज्ञा के महत्त्व पर बल; आदि, डेमाक्रिटस के नीति-दर्शन के ऐसे विषय हैं जिनके प्रतिरूप हम एपीक्यूरसीय नीतिशास्त्र में पा सकते हैं।[२७]

– सुरेन्द्र वर्मा

प्राचार्य,
शासकीय महाविद्यालय,
नीमच – ४५२४४१
(म. प्रदेश)

टिप्पणियाँ

१. 'सेवन सेजेज' ये हैं – थेलीज, सोलन, चिलो, पिट्टाकस, बाइस; क्लियोबलस, और पैरी एन्डर ।
(Thales, Solon, Chilo, Pittacus, Bias, Cleobulus and Pereander)

२. देखें, सिजविक हेनरी, आउटलाइन्स आफ द हिस्ट्री आफ एथिक्स, मैक्मिलन, १९६७ । पृ १३ ।

३. लातिनी वाक्यांश, 'इप्से दीक्षित' (ipse dixit) मूलतः पाइथागोरस के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । इसका अर्थ है – उसने इसे स्वयं कहा है अथवा 'उसका शब्द मात्र' ।

४. देखिए, दयाकृष्ण (संपादक), पाश्चात्य दर्शन का इतिहास जयपुर, १९७६ पृष्ठ ३३–३४ ।

५. वहीं, पृष्ठ – ३२

६. देखिए, स्टेस, डबल्यू. टी; ए क्रिटिकल हिस्ट्री आफ ग्रीक फिलासाफी, मैक्मिलन, १९६०, पृ. ३२ ।

७. देखिए, सिजविक हेनरी, (उपरोक्त) पृ. १३

८. देखें, वहीं, पृ. १४.

९. ईलियाई दार्शनिकों में जीनोफेनीज, पार्मेनिडीस, जीनो प्रमुख हैं जो अंतिम सत्ता को एक और अपरिवर्तनीय मानते हैं ।

१०. देखिए, स्टेस, डबल्यू. टी. (उपरोक्त) ७२–७३

११. वहीं, पृ. ७७

१२. देखें मेकेंजी, जान्. एस. ए मेन्युअल ऑफ एथिक्स लंदन, १९२६ पृ. १२० ।

१३. स्टेस, डबल्यू टी. (उपरोक्त) पृ. ७९–८०

१४. देखें, सिजविक, हेनरी (उपरोक्त) पृ. १४

१५. देखें, दयाकृष्ण (संपादक) (उपरोक्त) पृ. ४७

१६. देखें, वहीं, पृ. ५७–५८

१७. देखें, सिजविक, हेनरी (उपरोक्त) पृ. १५

१८. बर्नेट, जान : अर्ली ग्रीक फिलासफी, उद्धरण – १००, १०३, १०५, १०७, और ११३

१९. देखें – दुबे, श्रीप्रकाश (अनुवाद), ग्रीक दर्शन (जॉन बर्नेट कृत), १९७३, पृ. २११.

२०. देखें – वही, पृष्ठ – २१२
२१. देखें – दयाकृष्ण (संपादक) (उपरोक्त) पृष्ठ – १२७.
२२. इस मत की गीता के नैतिक उपदेश से तुलना करें। गीता में 'निष्काम कर्म' की शिक्षा दी गई है और योग को 'कर्मसुकौशलम्' कहा गया है। यूनानी भाषा में 'कौशल और प्रसन्नता' को अभिन्न माना गया है।
२३. दुबे, श्रीप्रकाश (अनुवादक) (उपरोक्त) पृष्ठ – २१२
२४. वहीं – पृष्ठ – २१३
२५. देखें – सिजविक, हेन्री, (उपरोक्त) पृष्ठ – १६
२६. देखें – एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, खण्ड ७; पृष्ठ – १८८।
२७. देखें – सिजविक, हेनरी (उपरोक्त) पृ. – १५

ए. जे. एयर के 'ज्ञान' के प्रत्यय की विश्लेषणात्मक व्याख्या

दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में ज्ञान-मीमांसा के अध्ययन का सदा से ही अधिक महत्त्व रहा है। समकालीन युग में दार्शनिकों द्वारा ज्ञान का आधार अनुभव को माने जाने के कारण और तत्त्व-मीमांसा को निरर्थक बताये जाने के कारण दर्शन के क्षेत्र में ज्ञान-मीमांसा का अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है।

समकालीन पाश्चात्य दर्शन में तार्किक प्रत्यक्षवाद एक विचारधारा है। ए. जे. एयर तार्किक प्रत्यक्षवादियों में विश्लेषणात्मक ज्ञान-मीमांसा के समर्थकों में एक प्रमुख स्थान रखता है। प्रस्तुत पत्र में एयर के 'ज्ञान' के प्रत्यय की विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

"ज्ञान" शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है अतः यह संदिग्ध है और इसी कारण विभिन्न दार्शनिकों ने इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न तरीकें से की है। कुछ दार्शनिकों ने इसको "गलत न होने" (Not to be wrong) की स्थिति में समझा है, जब कि अन्य दार्शनिकों ने इसकी विभिन्न श्रेणियों को स्वीकार किया है। उनके अनुसार ज्ञान निम्नतम स्तर में केवल संभावना मात्र है। रसेल के अनुसार 'ज्ञान' की अवधारणा सुनिश्चित नहीं है; यह संभाव्य मत में विलीन (Merge) हो जाती है।[1] इस मत के अनुसार किंचित् संभावना भी 'ज्ञान' की श्रेणी में आती है। यह ज्ञान शब्द का बहुत ही विस्तृत अर्थ है। संकीर्ण अर्थ में इसका आशय "पूर्ण निश्चितता" से है। ये दोनों अतिरेकवादी दृष्टिकोण हैं। इनके बीच ज्ञान की अनेक श्रेणियां मानी गयी हैं। अतः 'ज्ञान' की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती है।

'ज्ञान' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थितियों में होता है। लेकिन उन विभिन्न स्थितियों में एक उभयनिष्ठ कारक होता है और वह कारक, 'सत्यता' का है। जिन स्थितियों या कथनों को हम 'ज्ञान' की शैली में लेते हैं वे सत्य होने चाहिए। इतना ही नहीं कुछ दार्शनिक ज्ञान की अवस्था में 'मनस् की एक विशेष स्थिति' के अस्तित्व को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार ऐसी ज्ञानात्मक स्थितियों या क्रियाओं का केवल अस्तित्व ही नहीं होता अपितु वे भ्रमातीत होती हैं। इस मत के अनुसार 'मानसिक स्थिति' को ज्ञान की आवश्यक एवं पर्याप्त शर्त माना गया है। ए जे. एयर इस मत से सहमत नहीं है। उसके 'जानने' को मनस् की एक विशिष्ट स्थिति कहना गलत है।[२] जो दार्शनिक 'जानने' को 'मनस् की भ्रमातीत स्थिति' मानते हैं उनके अनुसार केवल वे ही कथन जाने जा सकते हैं जो स्वयं भ्रमातींत हैं।

एयर का मानना है कि ज्ञान-प्राप्ति की स्थिति में हम यह नहीं कह सकते हैं कि इसमें किसी प्रकार की कोई भी मानसिक स्थिति घटित होती है। ऐसा हो सकता है कि कुछ स्थितियों में हमें दृढ़ विश्वास की अनुभूति होती है। लेकिन इस प्रकार की अनुभूति में कोई मानसिक स्थिति के घटित होने की बात नहीं की जा सकती है। यह निश्चित तौर से नहीं कहा जा सकता कि दृढ़ विश्वास की भावना निश्चित होने के लिये पर्याप्त शर्त है क्योंकि ऐसा हो सकता है कि किसी वस्तु के बारे में पूर्ण दृढ़ विश्वास की चेतना भावना के साथ-साथ उसके बारे मे संशय की अचेतन भावना का भी अस्तित्व हो सकता है। लेकिन यह पर्याप्त हो चाहे न हो, एयर की दृष्टि में यह किसी भी दृष्टि से आवश्यक नहीं हो सकती है। कोई व्यक्ति इस प्रकार की भावना के बिना भी निश्चित हो सकता है और ज्ञान की अभिव्यक्ति में भी इसके होने की आवश्यकता नहीं है।[३]

ऑस्टिन भी इस मत को स्वीकार करता है कि यह आवश्यक नहीं है कि किसी वस्तु को जानने में हम हमारी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हैं। उसके अनुसार 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग वर्णनात्मक न हो कर क्रियात्मक होता है।[४] किसी व्यक्ति के अमुक कथन का 'ज्ञान' होने का अर्थ उसकी मानसिक स्थिति का वर्णन करना नहीं, बल्कि उस कथन के सत्य होने का आश्वासन देना है। क्योंकि ऐसा कहना आत्म-विरोधी है कि कथन का हमें ज्ञान है लेकिन वह कथन असत्य है। लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि क्या ज्ञान में विश्वास होना आवश्यक है? कुछ दार्शनिक इसे अनुक्रम-बन्धन (Entailment) को आवश्यक मानते हैं; कुछ इसको इस आधार पर आवश्यक नहीं मानते है, कि किसी कथन की सत्यता में केवल विश्वास करने का अर्थ उसका ज्ञान न होना है। कुछ अन्य दार्शनिकों के

अनुसार ज्ञान में विश्वास की आवश्यकता नहीं होती है।[४] अेयर इस बात को स्वीकार करता है कि ज्ञान और विश्वास में सम्बन्ध अवश्य है, यद्यपि यह सम्बन्ध प्रकट नहीं है[६]।

किसी कथन की सत्यता विश्वास पर निर्भर नहीं होती है जो जानने में ज्ञान की अेक प्रमुख शर्त है। इसलिअे कुछ दार्शनिक 'ज्ञान' को 'सत्य विश्वास' के सन्दर्भ में पारिभाषित करते हैं। उनका मानना है कि 'सत्य विश्वास' इसलिये ज्ञान की श्रेणी में आते हैं क्योंकि वे हमें सही जानकारी प्रदान करते हैं, अर्थात् वे सत्य हैं। अतः वे ज्ञान हैं। परन्तु कुछ दार्शनिक इस मत से सहमत नहीं हैं। अेयर भी उन दार्शनिकों में से है जो सत्य विश्वास और ज्ञान को एक नहीं मानते हैं। ऐसा कहने में कोई आत्म–विरोध नहीं है कि एक सत्य कथन में हमारा दृढ़ विश्वास होते हुए भी हम उस कथन को नहीं जानते हैं। अतः 'ज्ञान' के लिए 'सत्य विश्वास' के साथ अेक और शर्त का पूर्ण होना आवश्यक है और वह है उस विश्वास की न्यायोचितता अर्थात् सत्य विश्वास को स्वीकार करने के लिये हमारे पास उचित प्रमाण होना चाहिअे। इस प्रकार ज्ञान की स्थिति होने में तीन शर्तों का होना आवश्यक अेवम् पर्याप्त माना गया है। प्रथम, जिस कथन को हम जानते हैं, वह सत्य होना चाहिये। द्वितीय, उस कथन में हमारा विश्वास होना चाहिअे। तृतीय, उस कथम में विश्वास होने का उचित प्रमाण होना चाहिये।

अेयर प्रथम शर्त को स्वीकार करता है। व्दितीय शर्त के सम्बन्ध में अेयर निश्चितता की बात करता है। उसका कहना है कि व्यक्ति को ज्ञेय कथन में केवल विश्वास ही नहीं होना चाहिये अपितु वह उसकी सत्यता के बारे में निश्चित होना चाहिये। तृतीय शर्त उचित प्रमाण संबंधी है। इस शर्त में 'उचित प्रमाण' के प्रति अनेक आपत्तियां उठायी गयी हैं। अेक आपत्ति यह है कि इसके अन्तर्गत उन कथनों के ज्ञान की संभावना समाप्त हो जाती है जिनके लिये प्रमाण की बात करना अनुपयुक्त है।

दूसरी आपत्ति यह है कि कुछ अैसे कथन हो सकते हैं जिनका ज्ञान व्यक्ति को है, लेकिन उसके पास इसका कोई प्रमाण नहीं है।

एक अन्य आपत्ति यह है कि अगर हम 'उचित प्रमाण' को ज्ञान की एक आवश्यक शर्त मानते हैं तो इसमें अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। एयर का मानना है कि यह आपत्ति तार्किक न होकर व्यावहारिक है। इसमें ज्ञान की परिभाषा चक्रक नहीं होती है। अगर हम शोध्य प्रतिज्ञप्तियों के प्रत्यय को स्वीकार करें तो अनवस्था क दोष स मुक्त हो सकते हैं क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञप्तियां स्वतः प्रमाण समझी जाती हैं।

उपरोक्त उठायी गयी आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए अेयर 'ज्ञान' की परिभाषा में 'उचित प्रमाण' की शर्त को संतोषजनक नहीं मानता है। वह उसके स्थान पर निश्चित होने का अधिकार (Right to be Sure) की शर्त को उचित समझता है।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि अेयर के अनुसार किसी वस्तु या कथन को जानने (ज्ञान होने) में तीन मुख्य शर्तों की पूर्ति होनी चाहिये :-

(१) प्रथम शर्त यह है कि यदि कोई व्यक्ति कहे कि वह जानता है तब वह जो कुछ भी जानता है वह सत्य होना चाहिअे।

(२) द्वितीय शर्त यह है कि जानने का दावाकर ने वाला व्यक्ति उसके बारे में निश्चित होना चाहिये।

(३) तृतीय शर्त यह है कि जो कुछ भी जाना जाता है उसके बारे में निश्चित होने का अधिकार होना चाहिये।[८]

इस प्रकार अेयर 'ज्ञान' के प्रत्यय के विश्लेषण में तीन शर्तों के होने की बात करता है।

कुछ दार्शनिकों ने 'ज्ञान' के विश्लेषण में 'न्यायोचित सत्य विश्वास' को एक आवश्यक शर्त बताया है। उसी को 'एयर निश्चित होने का अधिकार' की शर्त मानता है। लेकिन वह इस बात का स्पष्टीकरण नहीं करता है कि यह अधिकार किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। 'निश्चित होने के अधिकार' की अभिव्यक्ति शिशोम के मतानुसार संदिग्ध है। उसके दो भिन्न अर्थ हो सकते हैं। इसका एक अर्थ किसी जाँच को समाप्त करने का अधिकार (Right to terminate inquiry) हो सकता है। दूसरा अर्थ संभाव्यता के सिद्धान्त के प्रयोग से सम्बन्धित हो सकता है।[९] इस अभिव्यक्ति को प्रथम अर्थ में समझना उचित नहीं है क्योंकि उसमें विचाराधीन कथन के विरुद्ध किसी भी भावी प्रमाण की संभावना को नकार दिया जाता है। दूसरे अर्थ में यह अभिव्यक्ति स्वीकार की जा सकती है।

एयर के द्वारा किया गया 'ज्ञान' शब्द का विश्लेषण और इसी प्रकार अन्य दार्शनिकों के द्वारा न्यायोचित सत्य विश्वास को ज्ञान समझने के सन्दर्भ में एडमंड गेटियर कुछ ऐसे प्रतिकूल उदाहरण प्रस्तुत करता है जिससे वह यह बताना चाहता है कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें न्यायोचित सत्य विश्वास को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। उसने अपने लेख 'Is Justified True Belief Knowledge' में ज्ञान की परम्परागत परिभाषा के सम्बन्ध में एक समस्या प्रस्तुत की है जो 'गेटियर समस्या' के नाम से जानी जाती है।[१०]

उसका कहना है कि अगर न्यायोचित सत्य विश्वास किसी असत्य कथन पर आधारित हो तो वह 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता है। वह उदाहरण के व्दारा बताता है कि मान लीजिअे स्मिथ और जोन्स ने किसी नौकरी के लिअे आवेदन पत्र दिया है और यह भी मान लीजिअे कि स्मिथ के पास इस प्रतिज्ञप्ति का प्रबल प्रमाण है कि (अ) जोन्स वह व्यक्ति है जिसको नौकरी मिल जायेगी और जोन्स की जेब में दस सिक्के हैं। जोन्स को नौकरी मिल जायेगी यह बात स्मिथ के लिये प्रमाण इसलिये बनती हैं क्योंकि कम्पनी के अध्यक्ष ने उसको यह आश्वासन दिया है कि अन्त में जोन्स का चयन कर लिया जायेगा और स्मिथ ने दस मिनट पहले ही जोन्स की जेब में दस सिक्कों को देखा है। इस प्रकार प्रतिज्ञप्ति (अ) से यह निगमित होता है कि (ब) 'जिस व्यक्ति को नौकरी मिलेगी उसकी जेब में दस सिक्के हैं।' स्मिथ (अ) के आधार पर (ब) को स्वीकार करता है। इस मामले में स्मिथ का विश्वास कि (ब) सत्य है स्पष्टतया न्यायोचित है। लेकिन गेटियर यह कहता है कि मान लीजिअे स्मिथ इस बात से अनभिज्ञ है कि जोन्स को नौकरी नहीं मिल कर उसको स्वयं को मिल जायेगी। स्मिथ इस बात से अनभिज्ञ है कि उसकी जेब में भी दस सिक्के हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रतिज्ञप्ति (ब) सत्य है यद्यपि जिससे स्मिथ ने प्रतिज्ञप्ति (ब) निगमित की है वह प्रतिज्ञप्ति (अ) असत्य है। दूसरी बात, स्मिथ (ब) को सत्य मानता है। तीसरी बात स्मिथ का (ब) में विश्वास न्यायोचित है। लेकिन यहाँ यह कहा जा सकता है कि स्मिथ यह नहीं जानता है कि (ब) सत्य है क्योंकि (ब) की सत्यता स्मिथ की जेब में सिक्कों की संख्या के कारण है जिसको वह नहीं जानता है और (ब) में अपना विश्वास जोन्स की जेब में पडे सिक्कों के आधार पर करता है। इस प्रकार गेटियर यह बताना चाहता है कि ऐसे मामलों में न्यायोचित सत्य कथनों को ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

इस सम्बन्ध में कीथ लेरर द्वारा ज्ञान के विश्लेषण में होनी चाहिए ऐसी चौथी शर्त यह बतायी गयी है कि अगर कोई व्यक्ति किसी प्रतिज्ञप्ति को जानता है तो उसमें उसका होने वाला विश्वास किसी भी कथन की सत्यता में होने वाले न्यायोचित विश्वास के मुताबिक तभी कहा जा सकता है जब कि वह किसी असत्य अभिकथन पर आधारित नहीं होता है।[११] ज्ञान शब्द के एयर द्वारा किए गए विश्लेषण में गेटियर द्वारा प्रस्तुत गई समस्या उत्पन्न होती है और इस समस्या के समाधान में कीथ लेरर द्वारा जो चौथी शर्त दी गयी है वह उचित लगती है। एयर द्वारा किए गए 'ज्ञान के विश्लेषण को हम संशोधित रूप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है।[१२] कोई व्यक्ति किसी कथन 'प' को तभी जानता है यदि (१) 'प' सत्य है (२) 'प' के बारे में उसका विश्वास निश्चित है

(३) उक्त व्यक्ति 'प' के बारे में निश्चित होने का अधिकार रखता है और (४) 'प' के बारे में उस व्यक्ति का विश्वास न्यायोचित विश्वास है, माने, वह किसी असत्य कथन पर निर्भर नहीं करता है।

– निर्मला जैन

१५, भट्ट की बाडी
उदयपुर
(राजस्थान)

टिप्पणियाँ

1. B. Russell — **The Problems of Knowledge**, Home University, Library, London, 1912; p. 78.
2. A. J. Ayer — **Metaphysics & Common Sense**, McMillan, 1969, p. 115.
3. A. J. Ayer — **The Problems of Knowledge**, McMillan, 1956, p. 13.
4. J. L. Austin — 'Other Minds' **Proceedings of the Aristotelian Society**, Vol. XX, 1945.
5. For instance, see — Black Carolyn 'Knowledge without Belief' **Analysis** Vol. XXXI, 1970–1.
6. A. J. Ayer — **Metaphysics & Common Sense**, p 117
7. **Ibid**,–p. 121.
8. A. J. Ayer — **The Problems of Knowledge**, p. 34.
9. R. M. Chisholm — **Theory of Knowledge**, Prentice Hall, 1977 (Second Edition) p. 117.
10. Edmund L. Gettier — **'Is Justified True Belief Knowledge?' Analysis** 23, 1963, pp. 121–3.
11. Keith Lehrer — **Knowledge, Clarendon Press**, Oxford, 1974, p. 121.
12. निर्मला जैन — **ए. जे. एयर की ज्ञान मीमांसा**, पीएच्.डी. की डिग्री के लिए सुखाड़िया विश्वविद्यालय को प्रस्तत, उदयपुर, 1985, पृ. 209–12.

इतिहास और मिथक

आज मानवीय ज्ञान के क्षितिज व्यापक हो रहे हैं। हर क्षेत्र में नयी धारणायें विकसित हो रही हैं, नयी सम्भावनायें तलाशी जा रहीं हैं। इतिहास, धर्म, दर्शन, साहित्य, नीतिशास्त्र, नेतृत्वशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और विज्ञान एक दूसरे के निकट आ रहे हैं। हर क्षेत्र में ज्ञान के नये आयाम तलाशे जा रहे हैं और ज्ञान की समग्रता पर विश्वास किया जाने लगा है। इस समय इतिहास के सम्बन्ध में बनायी गयीं परम्परागत धारणायें भी बदल रहीं हैं। अब उसके सम्बन्ध में नयीं सूक्तियां और परिभाषायें जन्म लेने लगीं है। मसलन कहा जाने लगा है कि "इतिहास तथ्यों का संकलन नहीं अपितु तथ्यों की व्याख्या" है। यह व्याख्या इतिहासकार की मानसिकता से प्रभावित होती है। अब यह भी कहा जाने लगा है कि इतिहासकार अतीत में नहीं वर्तमान में जीता है और यह भी कहा जाने लगा है कि इतिहासकार से तटस्थता की मांग करना नितान्त निरर्थक है। इस बदलती हुई अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय मनीषियों की इतिहास सम्बन्धी धारणा अधिक युक्ति-संगत, युगानुकूल और सार्थक लगती है। उन्होंने पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ काम और मोक्ष) से सम्बन्धित पूर्व-वृत्त-कथा को इतिहास कहा है (धर्मार्थ काममोक्षाणां-समुपदेश समन्वितम् पूर्ववृत्त कथा मुक्तमितिहासं प्रचक्षते) ज्ञान के इस नये विकास ने प्राचीन भारतीय मनीषियों के इतिहास-सम्बन्धी अज्ञान की धारणा का उन्मूलन कर दिया है। यों भी संस्कृत के आर्ष-ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर 'इतिहास' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] इस तथ्य से इस पूर्वग्रह-युक्त भ्रामक धारणा का खण्डन हो ही जाता है। यह सत्य है कि उन्होंने तिथि-परक ऐतिहासिकता को अधिक महत्त्व नहीं दिया, या कि उनके द्वारा

प्रस्तुत तिथि-परक ऐतिहासिकता आज की तिथि-परकत से मेल न खाती हो, या कि उस पुरातन तिथि-परकता की अर्थवत्ता इतने सबल ढंग से नहीं सिद्ध हो पा रही हो। फिर भी भारतीय ऋषियों का इतिहास-ज्ञान असंदिग्ध है। परन्तु आज हमें विचार करना है कि क्या इतिहास को तथ्यों और अतीत से पूर्ण रूपेण विच्छिन्न किया जा सकता है ? मुझे लगता है यह सर्वांशतः सम्भव नहीं है आज इतिहासज्ञ यह कहने लगे हैं कि " हम जो इतिहास पढ़ते हैं, हालांकि वह तथ्यों पर आधारित है, ठीक ठीक कहा जाय तो एकदम यथातथ्य नहीं है, बल्कि स्वीकृत फैसलों का एक सिलसिला है।[२] और यह भी कि " इतिहासकार का काम न तो अतीत को प्यार करना है और न खुद को अतीत से मुक्त करना, बल्कि वर्तमान को समझने के लिए उसे अतीत के अध्ययन में दक्षता प्राप्त करनी चाहिए और अपनी समझ को वर्तमान की कुंजी के रूप में इस्तेमाल करना चाहिए।"[३] तब हम निर्विवाद रूप से यह कह सकते हैं कि अपनी तमाम परिवर्तनप्रियता और गतिशील आधुनिक अवधारणाओं के बावजूद इतिहास आज भी अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ की परिधि से बहुत दूर नहीं गया। विद्यमानता के अर्थवाली "अस्" धातु में " इति " प्रत्यय जोड़ कर इतिहास शब्द बनता है, जिसका अर्थ है " ऐसा जो विद्यमान था"। इतिहास के शब्द-कोशीय अर्थ हैं – परम्परा से प्राप्त उपाख्यान; समूह, वीरगाथा, ऐतिहासक साक्ष्य परम्परा, पूर्व-वृतान्त, बीती हुई प्रसिद्ध घटनाओं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषों, स्थानों, आदि का काल क्रम से वर्णन, पुरावृत्त; प्राचीन कथा, अतीत कालीन घटनाओं का वर्णन[४]। इस तरह अतीत से सम्बन्ध; क्रमबद्ध वर्णन, सत्य ते सम्बद्धता और अतिरंजना व अलौकिकता से बचने की प्रवृत्ति इतिहास के प्रमुख तत्त्व हैं। जिस प्रकार इतिहास का सम्बन्ध अतीत के सत्य से है उसी प्रकार मिथक का सम्बन्ध अतीत की अतिरंजना से है। मिथक अलौकिकता का कथात्मक अवतरण है। ये विश्व-मानव की मूल्य-निष्ठा, परम्परा; प्रेम, सत् और असत् के संघर्ष में सत् की विजय के प्रति आस्था, सौन्दर्य-बोध, कलात्मक अभिरुचि, और शिल्प-चिन्तन को अभिव्यक्त करते हैं। ये न केवल परम्परा की गहरी समझ हैं अपितु उसकी पुनर्व्याख्या और पुनर्रचना भी हैं। ये जातीय अतीत का सबसे बड़ा खजाना होते हैं। अंग्रेजी मिथ (Myth) को हिन्दी में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने " मिथक " शब्द का प्रचलन किया था। मिथ के शाब्दिक अर्थ हैं – पुराणकथा, पौराणिक उपाख्यान, दन्त-कथा, देव-कथा, पुराण, पुरावृत्त-कथा, प्रतीक कथा, , कल्पित कथा, काल्पनिक कथा, कल्पित व्यक्तिकथा, काल्पनिक व्यक्ति या वस्तु – कथा, गप्पें।[५] इस शब्द का मूल स्रोत ग्रीक " मुथोस " और लैटिन का ' मिथास ' है जिसका अर्थ होता है शब्द, कहानी या कथा। साहित्यिक आलोचना के अन्तर्गत इसे " कथानक " के अर्थ में

ग्रहण किया गया। पाश्चात्य विचारकों ने मिथ का प्रयोग दर्शन के क्षेत्र में भी किया है। यों तो दार्शनिक विवेचन मुख्य रूप से बौद्धिक समीक्षा, तर्क और अनुमान पर आधारित होता है। इसलिए कल्पित घटनाओं या पौराणिक कथाओं की सहायता उसमें नहीं ली जाती। "लेकिन कभी कभी नैतिक आदर्शों को अधिक प्रभावशाली और रोचक रूप से समझने के लिए दर्शन में कल्पित कथाओं का सहारा लिया गया है"[६]। कुछ भारतीय मनीषियों ने मिथक को संस्कृत के "मिथ" से सम्बद्ध माना है जिसका अर्थ मैथुन करना या जोड़ा बनाना है। स्पष्टतः ये सारे अर्थ मिथक के ये तत्त्व निर्धारित करते हैं; पौराणिकता, अतीत से सम्बन्ध, प्रतीकात्मकता, अलौकिकता, अतिरंजना पूर्ण कल्पना तथा रहस्यमयता।

आधुनिकता के प्रभाव और औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप आये जन-जागरण ने इतिहास को वैश्विक दृष्टि दे दी है। अब विद्वान् मानने लगे हैं कि इतिहासकार की दृष्टि समग्र विश्व-परक होनी चाहिए। इसलिए हमें सारे ही देशों का इतिहास जानना चाहिए। पं. जवाहरलाल नेहरू ने उस विषय में अपना मत दिया है "जो फल इस समय हमारे सामने हैं, उन सब की जड़ पुराने जमाने में है। इसलिए इतिहास जानता हमारे लिए जरूरी हो जाता है और इतिहास भी केवल एक या दो देशों का नहीं, बल्कि सारी दुनियां का"[७]। एक दूसरी धारणा यह विकसित हुई कि किसी देश का इतिहास उसके राजाओं, सामन्तों वीरों और उनकी जयों पराजयों की कथा भर नहीं है, अपितु वह समूची जाति का सांस्कृतिक इतिहास होता है। संस्कृति एक सतत गतिशील परम्परा है, उसका निर्माण और विकास कुछ गिने चुने लोगों के हाथों नहीं होता। सांस्कृतिक परम्पराओं की प्रगति का ज्ञान जातीय मिथकों से होता है, बल्कि यह कहना अधिक समीचीन होगा कि इतिहास की अपेक्षा जातीय मिथक सांस्कृतिक जीवन्तता के अधिक सच्चे, विश्वसनीय और प्रभावशाली प्रतीक और साधन होते हैं; क्योंकि वे जनाकांक्षाओं और बदलती मानवीय प्रवृत्तियों के अधिक सच्चे प्रतिबिम्ब होते हैं। इतिहास अपनी संरचनात्मक प्रवृत्ति में विज्ञान है, और मिथक रागात्मक अभिव्यंजना। इसलिए जहां इतिहास की गति अवरुद्ध हो जाती है; वहां मिथक का आश्रय लेकर इतिहास को दिशा में बढ़ा जा सकता है। घटनायें रुक सकतीं हैं, रुक जाती हैं; परन्तु मानवीय भावधारा तो अखण्ड है। वह तो निर्बाध रूप से चलती है और मिथक उसी मानवीय भावधारसे हमें परिचित कराते हैं।

नृतत्त्व-विज्ञान, पुरा-अभिलेख, पुराने सिक्के, मुहरें पुरातत्त्व-विज्ञान; प्राचीन साहित्य आदि इतिहास के अनेक स्त्रोत हैं। हाँलांकि यह सच है कि इतिहास लिखित प्रमाणों और अभिलेखों को अधिक विश्वसनीय स्त्रोत मानता है,

परन्तु शेष की भी न तो वह उपेक्षा करता है न कर सकता है। सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से मिथक इतिहास का अतिविश्वसनीय और प्रबल स्रोत एवं शक्ति प्रमाणित होते हैं। इसीलिए मिथकों के इतिहासीकरण की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। हिन्दी साहित्य के द्विवेदीकाल में मिथकों के इतिहासीकरण की यह प्रक्रिया बहुत तीव्र गति से चली थी। उस समय राम, कृष्ण, शिव, देव, दैत्य और इन सबसे सम्बन्धित तमाम मिथकों को इतिहास बनाने का प्रबल प्रयास किया गया था। आज पुनः सांस्कृतिक दृष्टि से मिथकों की पुनर्व्याख्या की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी है। इतिहास की वैज्ञानिकता के साथ इनका पुनरावलोकन प्रारम्भ हो गया। "रामकथा", "कृष्ण कथा" और महाभारत के मिथकों पर वैज्ञानिक दृष्टि से बोध के साथ लिखीं गयी औपन्यासिक श्रृंखलायें इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण हैं।[८]

वस्तुतः इतिहास मानव के सामाजिक विकास को समझने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। विकास की इस प्रक्रिया के आदि छोर का तलाश करते–करते हम जहां पहुंच जाते हैं और जहां से प्रागैतिहास की तमसावृत्त गुहा का प्रवेशद्वार प्रारम्भ हो जाता है, वहां आगे बढ़ने के लिए इतिहासकार को मिथक की जरूरत पड़ती है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास वयंरक्षामः में देवों, दैत्यों, नागों, यक्षों आदित्यों, गन्धर्वों, गरुडों, दानवों, पौलोमों, कालिकेयों और मानवों आदि पुरातन मानव जातियों से सम्बन्धित तमाम मिथकों को इतिहास बनाने की सफल चेष्टा की है। उन्होंने भाषा–वैज्ञानिक, पुरातात्त्विक, नृतत्त्वशास्त्रीय और पुरैतिहासिक प्रमाणों से संगति बिठा कर मिथकों के इतिहासीकरण का यह कार्य बहुत प्रामाणिक ढंग से सम्पन्न किया है। पुरातन मानव जातियों के सम्बन्ध में उनका कहना है कि कश्यप प्रजापति समूचे नृवंश के पिता थे। उन्हें प्रजापति यक्ष ने तेरह कन्यायें दीं। उनमें दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से नाग, और विनता से गरुड़ वंश चले। दिति की दो कन्यायें भी थी – पुलोमा और काकिका। इनसे पृथक् वंश पौलोम और कालिकेय चले। कश्यप का निवास स्थान कैस्पियन सागर तट पर था। पुराणों का कच्छप अवतार भी यही कश्यप थे। पारसी पैगेम्बर जरदस्त का जन्म दैत्य नदी के किनारे हुआ था जो कैस्पियन सागर में गिरती थी। वास्तव में यह पुराण–वर्णित दैत्य नदी और हिरण्य कशिपु की राजधानी हिरण्यपुरी थी। दैत्यों की सभ्यता को ही पुरातत्त्वविद् "हीलियोलिथिक" सभ्यता कहते हैं। इसी की एक शाखा अमेरिका में भय सभ्यता के रूप में विकसित हुई। दूसरी मिश्र में मैसोपोटामिया नाम से, तीसरी बैबीलोन में असुरों के नाम से। दैत्यों का वंश-वृक्षः यों है : कश्यप + दिति = हिरण्यकशिपु (हिरण्याक्ष, वज्रांग व अन्धक

भाई) – प्रल्हाद–विरोचन–बलि–बाण । " हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष बड़े प्रतापी थे । इन्होंने अनेक देवों को पदच्युत किया । सम्भवत: बलि और हिरण्यकशिपु उत्तर पश्चिम फारस और अफगानिस्तान के शासक थे । प्रल्हाद को सुरत्व की प्राप्ति हुई थी । हिरण्यकशिपु नृसिंह व्दारा मारा गया । प्रल्हाद ने विष्णु से सुलहकी थी । इस पर पिता पुत्र में विरोध हुआ । दैत्यों में प्रल्हाद और उसके पुत्र विरोचन की किसी महत्ता का कोई वर्णन नहीं है, परन्तु विरोचन–पुत्र बलि बड़ा पुरुषार्थी और दानी प्रसिद्ध हुआ । उसने दैत्य वंश का एक नया समर्थ राज्य खड़ा कर लिया था । उसकी राजनीति से दैत्यों तथा दानवों का बहुत बल बढ़ा । बलि–पुत्र बाण प्रबल युद्ध – कर्ता था, तथा उसकी उपाधि महातेज थी । स्वयं राजा बलि राजनीतिज्ञता, पुरुषार्थ, न्यायप्रियता, धर्म, दान आदि गुणों में अप्रतिम था । हिरण्य कशिपु के वध के बाद से बलि के समय तक शायद देव काफी संगठित हो चुके थे । उन्होंने नागों से भी संधि कर ली थी । नाग अच्छे नाविक थे । उनकी सहायता से देवों ने समुद्र पार आना–जाना आरम्भ किया, जिसमें दैत्यों ने भी उत्साह प्रकट किया । इसे ही समुद्र–मथन कहा गया है "[१] । इस प्रकार के ऐतिहासिक वर्णन **वयंरक्षाम**: में भरे पडे हैं । आचार्य जी ने **पुराणों**, **उपनिषदों**, **ब्राह्मण** ग्रन्थों, **वेदों**, **रामायण** और **महाभारत** में वर्णित अन्य अनेक मिथकों को भी इसी प्रकार की ऐतिहासिकता प्रदान की है । पाश्चात्य मनीषियों में एवं बेरीडेल कीथ एवं पार्जीटर आदि ने भी इसी प्रकार भारतीय मिथकों को इतिहास बनाने का सफल प्रयास किया है ।

जिस प्रकार मिथक के इतिहासीकरण की प्रक्रिया सतत गतिमान रहती है; उसी प्रकार इतिहास के मिथकीकरण की प्रक्रिया भी सतत गतिशील रहती है । महापुरुषों और महाप्राण मानवों के जीवन–काल में ही उनको मिथकीकृत करने की प्रक्रिया चलने लगती है । कबीर की मृत्यु के उपरान्त उनके अन्तिम संस्कार के लिए उनका शव प्राप्त करने के लिए उनके हिन्दू और मुस्लिम अनुयाइयों में हुए संघर्ष और फिर चादर उठाने पर उसके स्थान पर कुछ फूलों का मिलना– जिन्हें दोनों समुदायों द्वारा बराबर बांट लिया गया–एक ऐसा मिथक है जो बाद में प्रथम सिख गुरु नानकदेव के साथ भी जोड़ा गया । सूरदास के द्वारा चर्म–चक्षुओं से कृष्ण का दर्शन, तुलसी के द्वारा राम लक्ष्मण और हनुमान का दर्शन और पं. जवाहरलाल नेहरू के कपडों का पेरिस से धुल कर आना तो उनके जीवन में ही प्रचलित हो गया था, जिसका खण्डन उन्होंने स्वयं ही किया । स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध भगवान, महावीर, यहाँ तक कि मूलतः मिथकीय परिकल्पनाओं के प्रबल विरोधी और बुद्धिवाद के कट्टर समर्थक स्वामी दयानंद एवं दशमगुरु गोबिन्द सिंह जी के साथ

भी अनेक मिथकीय कल्पनायें जोड लीं गयीं। यद्यपि यह सच है कि 'मिथक-सत्य तथा इतिहास-सत्य में मौलिक अन्तर है, मिथक-सत्य श्रद्धा पर आश्रित है; जबकि इतिहास-सत्य विज्ञान पर। और मिथक-सत्य कर्मकाण्ड से गुंथा है और इतिहास-सत्य तथ्यों से। तथ्यों को संकलित करने के उपरान्त उनकी व्याख्या करने पर ऐतिहासिक सत्य मिलता है'[१०]। फिर भी इतिहास के मिथकीकरण एवं मिथक के इतिहासीकरण की प्रक्रिया निरन्तर निर्बाध चलती है।

मिथकों के इतिहासीकरण की प्रक्रिया विद्वानों, मनीषियों, चिन्तकों, दार्शनिकों, साहित्यकारों, पुरातत्व-वेत्ताओं और विज्ञान-वेत्ताओं के द्वारा सम्पन्न होती है और इतिहास के मिथकीकरण की प्रक्रिया लोक-गाथाकारों, लोक-गायकों, और सामान्य जनों के द्वारा सम्पन्न होती है। कभी-कभी तो (सामान्यतः सदैव ही) इतिहास को मिथक में परिवर्तित करने वाले कर्ता अज्ञात ही रहते हैं। मिथक के इतिहास बनाने की प्रक्रिया बहुत धीमी होती है, जबकि इतिहास के मिथक बनने की प्रक्रिया अपेक्षाकृत तीव्र होती है, मिथक को इतिहास बनाने का कार्य सामान्यतः लिखित रूप में होता है। जबकि इतिहास के मिथक बनने का कार्य सामान्यतः मौखिक रूप में ही होता है और अफवाहों की तीव्रता से समाज में संक्रमित होता है।

स्पष्ट है कि इतिहास मिथक में और मिथक इतिहास में रूपान्तरित होता रहता है। परन्तु इस रूपान्तरण के बाद भी न तो इतिहास अपने मूल रूप का पूरी तरह परित्याग करता है और न मिथक इतिहास बन कर अपने मूल रूप का पूर्णतः परित्याग करता है, फिर भी इतिहास और मिथक परस्पर गहराई तक सम्बद्ध हैं। मिथक के निर्माण में प्राग् इतिहास और इतिहास दोनों का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। आज के वैज्ञानिक युग में भी मानव के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में मिथक अपने घटनात्मक अर्थ में नहीं बल्कि व्यापक सांस्कृतिक अर्थ में सम्मिलित हैं। भारतीय इतिहास के सत्युग, त्रेता और द्वापर प्राग् इतिहास के अन्तर्गत आते हैं। भारत की आधुनिक ऐतिहासिकता बौद्ध युग से प्रारम्भ होती है। परन्तु मध्य काल में एक बार पुनः मिथकीय प्रवृत्ति ने भारतीय जनमानस पर बहुत तीव्र प्रभाव डाला। इतिहास को मिथक बनाना मध्यकाल की सर्व-स्वीकृत प्रवृत्ति थी। मध्यकाल की धर्म-चेतना उसकी रीढ़ थी। बौध्द और महावीर के जीवन के साथ भी अनेक मिथक जोडे गये। जातक कथायें भी मिथक ही हैं। परन्तु उनके माध्यम से बौध्द काल के समाज-धर्म, राजनीति, इतिहास, अर्थ-व्यवस्था और दर्शन को समझने में सहायता मिलती है। वस्तुतः इतिहास और मिथक के गहरे सम्बन्ध को डॉ. शंभुनाथ के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है - "इतिहास मिथक का विज्ञान है। मिथक इतिहास की संवेदना है।

वह वस्तुतः जनता का भोगा हुआ ऐतिहासिक यथार्थ है। निश्चय ही मिथकीय भाषा अथवा कथन बहुत बिखरा, टूटा और क्रमहीन होता है; पर वह अर्थवान् होता है। इतिहास का काम है इस अर्थ को ढूंढ़ना और उसे एक व्यवस्थित क्रम में रखना।"[११]

– राम सनेही लाल शर्मा

हिन्दी विभाग
एस्. आर. के. स्नातकोत्तर
महाविद्यालय
फिरोज़ाबाद – २८३२०३
आगरा
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१) 'इतिहास' शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग 'अथर्ववेद' में मिलता है। वहां कहा गया है।

"स बृहतीं दिशमनुथंचलत्। तमितिइास पुराणंच गाथाश्च नाराशंसीश्चा नु व्यचलन्। इतिहास्य च वै स पुराणस्यच गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति एवं वेद।"

अथर्ववेद – १५/।६/१०–१२

(अर्थात् महत्त्वाभिलाषी पुरुष जब (बृहतीम्) महत्त्व की ओर चलता है तब इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी उसके अनुगामी बन जाते हैं। इस बात को जो पुरुष जानता है, वह पुराण, गाथा और नाराशंसी का प्रियधाम बन जाता है।)

इसके अतिरिक्त परवर्ती ग्रन्थों, गृह्यसूत्र, छान्दोग्योपनिषद्, व्याकरण महाभाष्य और महाभारत आदि में भी इतिहास शब्द का प्रयोग हुआ है। हां; विशेष बात यह है कि इस शब्द का प्रयोग सर्वत्र गाथा, पुराण, नाराशंसी आदि शब्दों के साथ ही हुआ है।

२) जी. बैरेकली – हिस्ट्री इन ए चेंजिग वर्ल्ड (१९५५) पृ. १४

३) ई. एच. कार – इतिहास क्या है (व्हाट इज हिस्ट्री का अनुवाद) (– अनुवादक अशोक चक्रधर) पृ २२–२३ – १९७६. दि मैक्मिलन कम्पनी ऑव इंण्डिया लिमिटेड

४) **संस्कृत हिन्दी कोश**, वामन शिवराम आपटे – पृ. १७४
तृ. सं. १९७३ मोतीलाल बनारसीदास – वाराणसी
भाषा शब्द कोष – डॉ. रमाशंकर शुक्ल " रसाल " पृ. २६१
तृतीय संस्करण १९५१ – रामनारायणलाल वेनीमाधव, इलाहाबाद ।

५) **बृहत् अंग्रेजी हिन्दी कोश** – भाग २ सम्पादक डॉ. हरदेव बाहरी पृ. ११९३ तृतीय संस्करण १९६९ ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी

६) **मानविकी पारिभाषिक कोश (दर्शनखण्ड)** – सम्पादक डा. नगेंद्र एवं डॉ. वी. एस्. नरवणे – पृ. १२५ दि. सं. १९६६.
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली ।

७) पं. जवाहरलाल नेहरू – **राजनीति से दूर** – पृ. ११७–११८
१९५०, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

८) इधर ऐसे उपन्यासों और उपन्यास–श्रंखलाओं की बाढ़ आयी है जैसे
(क) रामकथापर – नरेन्द्र कोहली, गुरुदत्त वैद्य और आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने उपन्यास श्रृंखला लिखीं ।
(ख) कृष्णकथा तथा महाभारत पर – रामकुमार भ्रमर, गुरुदत्त वैद्य और डॉ. मनु शर्मा ने उपन्यास श्रृखलायें लिखी हैं ।

९) आचार्य चतुरसेन शास्त्री, **वयंरक्षामः (भाष्यम्)** पृ. ४९–५१– प्र. सं. १९५५, शारदा प्रकाशन, भागलपुर ।

१०) डॉ. रमेश कुंतल मेघ – **मिथक और स्वप्न** पृ. २१० प्र. सं. १९६७ ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर

११) डॉ. शम्भुनाथ – **मिथक और आधुनिक कविता** पृ. ३३ प्र. सं. १९८५, नैशनल पब्लिशिग हाऊस, दिल्ली ।

तम का द्रव्यत्व : एक विश्लेषण

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में 'तम' के द्रव्यत्व के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यतायें प्रचलित हैं। सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य ने तम के सम्बन्ध में प्राप्त होने वालीं चार विप्रतिपत्तियों का निर्देश किया है, जो इस प्रकार हैं —

(अ) **भाट्ट मीमांसकों एवं वेदान्तियों का मत :-**

'तम द्रव्य है' अैसा भाट्ट मीमांसक अेवं वेदान्ती दार्शनिक मानते हैं।

(आ) **श्रीधराचार्य का मत :-**

न्यायकन्दलीकार के अनुसार, 'तम आरोपित नीलरूप' है।

(इ) **प्राभाकर मीमांसकों का मत :-**

प्राभाकर मीमांसकों के मत से 'तम आलोक के ज्ञान का अभाव' है।

(ई) **नैयायिकों का मत :-**

न्याय-वैशेषिक दर्शन में तम को 'आलोक का अभाव' कहा गया है।[१]

प्रस्तुत प्रपत्र में इन्हीं चारों विप्रतिपत्तियों का विश्लेषण अभीष्ट है। वास्तव में 'तम द्रव्य है या नहीं' यह विवाद मीमांसकों-वेदान्तियों तथा नैयायिकों-वैशेषिकों के मध्य ही विकट रूप से उपस्थित रहा है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में संसार के समस्त द्रव्यों का नवधा विभाजन कर यह प्रतिपादित किया गया है कि द्रव्य संख्या में नौ ही हैं, न उससे कम, न अधिक।[२] इसके विपरीत भाट्ट-मीमांसा दर्शन में 'तम' को भी दशम द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसीलिए न्याय-वैशेषिक के प्रायः सभी ग्रन्थों में

'तम' सम्बन्धी मीमांसक मत का प्रबल खण्डन किया गया है। अत: यहाँ सर्वप्रथम इन्हीं दो मतों का पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्तपक्ष के रूप में विवेचन उपयुक्त रहेगा –

पूर्वपक्ष :– भाट्ट मीमासको एवं वेदान्तियों का मत–'तम द्रव्य है'–

कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायी मीमांसकों तथा चित्सुखाचार्य आदि वेदान्तियों का विचार है कि 'तम' को भी अतिरिक्त भावरूप द्रव्य मानना चाहिए, क्योंकि उसमें गुण (श्यामवर्ण) और क्रिया (गति) दोनों ही पाये जाते हैं। अत: 'गुणक्रियावत् द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण तम पर पूर्णतः घटित हो जाता है।[३]

'तम भावरूप द्रव्य है'–यह सिद्ध कर लेने पर पूर्वपक्षी दार्शनिकों ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि तम को न्याय–वैशेषिकाभिमत नौ द्रव्यों में से किसी में भी अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। अत: उसे दसवाँ द्रव्य मानना ही पडेगा। तद्यथा–तम को आकाशादि अन्तिम पाँचों द्रव्यों (आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन) में से किसी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि ये पाँचों रूप॰ रहित होते हैं और तम में नीलरूप होता है। तम को वायु भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो इसमें स्पर्श (वायु का विशेष गुण) है और न ही वायु की भाँति इसमें सतत गति होती है। तम का अन्तर्भाव तेज में भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि न तो उसमें उष्णस्पर्श होता है और न ही भास्वर रूप। तम जल भी नहीं है क्योंकि न तो उसमें शीतस्पर्श है और न ही श्वेतवर्ण। तम को पृथिवी भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न तो उसमें गन्ध है और न ही स्पर्श।

अत: तम को उक्त नों द्रव्यों से पृथक् दसवाँ द्रव्य मानना ही पड़ता है,[४] ऐसा भाट्ट मीमांसकों एवं चित्सुख आदि वेदान्तियों का मत है।

सिद्धान्तपक्ष– नैयायिकों का मत–'तेज का अभाव ही तम है'–

पूर्वपक्षी मीमांसक की उक्त युक्तियों का न्याय वैशेषिक दर्शन में निराकरण किया गया है और यही प्रतिपादित किया गया है कि तम कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। वह तेज का अभाव मात्र है।[५] तेज को मानने पर तेज का अभाव तो मानना ही पडेगा और जब अन्धकार को तेज का अभाव मानने से ही काम चल जाता है, तो एक नये द्रव्य की कल्पना क्यों की जाये ?[६]

तर्कदीपिकाकार अन्नम्भट्ट ने तम के द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि तम को दशम द्रव्य मान भी लिया जाये, तो वह या तो रूपवान् द्रव्य होगा या रूपरहित। वह रूपरहित हो ही नहीं सकता, क्योंकि स्वयं मीमांसक उसमें श्यामवर्ण (रूप) की स्थिति स्वीकार करता है, जब कि सिद्धान्तमतानुसार तम को रूपवान् द्रव्य नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रत्येक रूपिद्रव्य को चाक्षुष

प्रत्यक्ष के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है, जबकि अन्धकार तो तभी देखने में आता है, जब प्रकाश नहीं होता। अतः अन्धकार या तम को न्याय-वैशेषिक दर्शन में रूपवान् द्रव्य नहीं, अपितु प्रौढ प्रकाश या प्रकाशक तेज का अभाव कहा गया है।[७] श्रीकृष्ण धूर्जटि ने तम के इस लक्षण में प्रत्येक पद की अर्थवत्ता व्यक्त करते हुए कहा है कि यहाँ 'सामान्य' पद का अभिप्राय यह है कि तम या अन्धकार सभी प्रकार के तेज या प्रकाश का अभाव है, किसी विशेष प्रकार के तेज का नहीं। 'प्रकाशक' पद का प्रयोजन यह सूचित करता है कि कहीं सुवर्ण के अभाव को भी तम न समझ लिया जाये, चूंकि वैशेषिक दर्शन में तो सुवर्ण को भी तेज माना गया है। 'प्रौढ' का तात्पर्य यह है कि प्रकाश के सूक्ष्म कण अन्धकार का निषेध नहीं कर सकते।[८] इन दोनों मतों का सारांश यही है कि तम या अन्धकार कोई नया द्रव्य नहीं, तेज या प्रकाश का अभाव मात्र है।

'तम' में नील-प्रतीति भ्रामक है—यहाँ शंका हो सकती है कि यदि तम अभावरूप है तो उसमें कृष्णवर्ण या नीलरूप की प्रतीति क्योंकर होती है? अतः 'नीलंतमः' यह प्रतीति ही प्रमाणित करती है कि तम द्रव्य है, क्योंकि रूप एक ऐसा गुण है जो केवल द्रव्य में रहता है। नीलिमा भी एक रूपविशेष है. अतः उसका आधार कोई द्रव्य ही होना चाहिए। वही तम है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार यह शंका सर्वथा निराधार है, क्योंकि उनके विचार से तम में नील-प्रतीति होती ही नहीं, केवल उसका भ्रम होता है। जैसे 'नीला आकाश है' यह प्रतीति भ्रम है क्योंकि आकाश का कोई रूप नहीं, वैसे ही 'नीला अन्धकार है' यह प्रतीति भ्रम है।[९] अन्य शब्दों में, तम में नीलरूप-प्रतीति तो भ्रान्ति ही है, क्योंकि वहाँ दीपक के हटाने की क्रिया से ही नीलरूपत्व का आभास होता है, वस्तुतः नहीं।[१०] अथवा अन्धकार वह अभाव है, जिसपर नील रूप का आरोप होता है।[११] इस प्रकार, तम तेज का अभाव है तथा उसमें नीलरूप की प्रतीति भ्रान्ति है, यही सिद्ध होता है।

तम में गति या क्रिया भी भ्रांति ही है—पुनरपि यहाँ प्रश्न उठता है कि तम को तेज का अभाव मान लेने पर तथा उसमें नील-प्रतीति को भी औपाधिक मान लेने पर 'अन्धकार चलता है' इस अनुभव की व्याख्या कैसे की जा सकेगी क्योंकि क्रिया भी द्रव्य में ही सम्भव होती है।

न्याय-वैशेषिक मतानुसार अन्धकार में होनेवाली गमन-प्रतीति भी भ्रामक ही है, वास्तविक नहीं। क्योंकि 'अन्धकार चलता है' या 'अन्धकार में गति है' यह प्रतीति भी प्रकाश के हटने से होती है, वस्तुतः नहीं। अर्थात् जब प्रकाश एक जगह से दूसरी जगह जाता है तो प्रकाश के चलने के कारण अन्धकार भी चलता सा प्रतीत होता है।[१२]

इस प्रकार, गुणतत्व की भाँति तम में कर्मवत्ता प्रतीति भी औपाधिक ही है, वास्तविक नहीं। क्योंकि वह प्रकाश के हटने से होने वाली भ्रांति ही है, तथा 'नीला तम चलता है' यह ज्ञान भी भ्रम ही सिद्ध होता है।[१३] इसलिए, यह भी सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य नौ ही हैं, तम को दसवाँ द्रव्य नहीं माना जा सकता।

अत: 'तम' के विषय में **सर्वदर्शनसंग्रह** में निरूपित चार मतों में से उपर्युक्त दो विरोधी मतों (पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसक, वेदान्ती एवं सिद्धान्तपक्ष के रूप में न्याय-वैशेषिक) का विवेचन कर लेने के उपरान्त अब शेष दो मतों पर विचार करना ही प्रासंगिक है।

(इ) श्रीधराचार्य का मत–'तेज का अभाव तम नहीं।'

न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य का विचार है कि केवल तेज की अप्रतीति ही तम नहीं है, अपितु बाहर की तरफ 'यह अन्धकार है, यह छाया है,' इत्यादि नीलाकार की प्रतीतियाँ होती हैं। अत: यह तम 'रूपविशेष' है जो तेज का अत्यन्ताभाव रहने पर समारोपित होकर तम कहा जाता है।[१४]

इस प्रकार, श्रीधराचार्य के अनुसार अन्धकार कोई नया द्रव्य तो नहीं है, किन्तु वह केवल तेज का अभाव भी नहीं है। क्योंकि तम को अभावरूप मान लने से तो नीलरूप का आरोप कठिन होगा, क्योंकि रूप भाव का धर्म है और अभाव में उसका आरोप असम्भव है। अत: किसी अन्य वस्तु पर आरोपित श्यामवर्ण ही अन्धकार है। अन्य शब्दों में, अन्धकार एक भावधर्म या गुण है। अपने इस मत के समर्थन में श्रीधराचार्य ने एक प्रमाण-श्लोक भी उद्धृत किया है तथा यही सिद्ध किया है कि अन्धकार या छाया की भी छोटी, बडी, लम्बी आदि रूप में प्रतीतियाँ होने से उसको अभावरूप नहीं माना जा सकता।[१५]

टिप्पणी–

जैसा कि स्पष्ट ही है, न्याय-वैशेषिक परम्परा में भी तम के सम्बन्ध में दो मत प्राप्त होते हैं – एक तो कणाद आदि प्राचीन आचार्यों का मत (तेज का अभाव ही तम है) तथा दूसरा श्रीधराचार्य का मत (आरोपित नीलरूप ही तम है)। इन दोनों मतों का पृथक्-पृथक् निर्देश **सर्वदर्शनसंग्रह** में ही किया गया है। वास्तव में यह मतभेद भी भारतीय दर्शन की व्यापक दृष्टि एवं प्रगतिवादिता का परिचायक है। यद्यपि स्वयं श्रीधराचार्य ने अपने मत को सूत्रकारानुसारी ही सिद्ध किया है,[१६] और प्राचीन परम्परा का विरोध उन्हें अभीष्ट प्रतीत नहीं होता, तथापि दोनों मतों में वैशिष्ट्य यही है कि सूत्रकार के अनुसार तो आलोक का अभाव ही तम है, जब कि कन्दलीकार के अनुसार तेज के अत्यन्ताभाव

में आरोपित नीलरूपविशेष ही तम है। यह तो सुतरां सिद्द है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में तम को द्रव्य नहीं माना गया।

(ई) प्राभाकर **मीमांसक मत–' तेज के ज्ञान का अभाव तम है '**–प्रभाकर मिश्र के अनुयायी मीमांसकों का विचार है कि तेज का अभाव तम नहीं है अपितु तेज के ज्ञान का अभाव ही तम है। **मानमेयोदय** में यह मत इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है–' आलोक का प्रत्यक्ष न होने पर ग्रहण करनेवाली आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि होने से सामान्यत: नीलद्रव्य का स्मरण होने पर स्मृति को ग्रहण न करता हुआ उन दोनों के भेद पर ही बल देने वाला तम की नीलता का व्यवहार है – ऐसा गुरु (प्रभाकर) का मत है। [१७]

(उ) **एक अन्य शंका – ' तम का अभाव ही तेज है।'** माधवाचार्य द्वारा निर्दिष्ट उक्त चार मतों के अतिरिक्त **तर्कसंग्रह** की **न्यायबोधिनी** टीका और **वैशेषिक सूत्रों** के **रसायनभाष्य** में ' तम ' के सम्बन्ध में अेक अन्य शंका यह भी उठाई गई है कि तम को तेज का अभाव मानने की अपेक्षा तेज को ही तम का अभाव क्यों न मान लिया जाये ? [१८] इस दृष्टि से विचार करने पर तेज की बजाय तम का ही द्रव्य सिद्ध ही जाता है। अत: **तम द्रव्य है।**

किन्तु सूक्ष्म अन्वेषण के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मत सर्वथा निर्मूल ऐवं अमान्य है क्योंकि तेज को अभावरूप मान लेने पर तो सर्वजनसिद्द उष्णस्पर्श के आश्रय का ही अभाव हो जायेगा, जबकि भास्वर शुक्ल रूप एवं उष्णस्पर्श के आश्रय–रूप में तेज का द्रव्यत्व तो पूर्णत: अबाधित ही है। अत: तम का द्रव्यत्व सिद्द करने के लिये दी गई यह युक्ति भी अन्तत: अप्रामाणिक अेवं निराधार ही सिद्द होती है।

निष्कर्ष –

इस प्रकार, तम के द्रव्यत्व के विषय में उक्त सभी वादों का विश्लेषण कर लेने पर सारांश रूप में कहा जा सकता है कि तम के द्रव्यत्व सम्बन्धी पांचों विप्रतिपत्तियों में से न्याय वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता ही हमारे अनुभव के अनुकूल प्रतीत होती है कि तम तेज का अभाव मात्र है, कोई नया द्रव्य नहीं। इसी से यह भी सिद्द हो जाता है कि द्रव्य नौ ही हैं, उससे अधिक नहीं। अन्त में, तम की द्रव्यत्वबाधक युक्ति को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है –

' तम:शब्दो द्रव्यबाचको न भवति
आलोकशब्दान्यत्वे सति आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यवाचित्वात्
आलोकाभावशब्दवत् ' [१९]

अथवा

' तमःपदम् आलोकाभाववाचकम्
आलोकानपेक्षचक्षुर्ग्राह्यवाचकत्वात्
आलोकवत् ।[२०]

संस्कृत विभाग — शशिप्रभा 'कुमार'
मैत्रेयी महाविद्यालय
दिल्ली

टिप्पणियाँ

१. 'तथाहि—द्रव्यं तम इति भाट्टा वेदान्तिनश्च भणन्ति । आरोपितं नीलरूपमिति श्रीधराचार्याः । आलोकज्ञानाभाव इति प्राभाकरैकदेशिनः । आलोकाभाव इति नैयायिकादयः ।

— स. द. सं. पृ. ४३५

२. 'तेन नवैव द्रव्याणि नाधिकानि, न न्यूनानि वेत्यर्थः ।'

— उपस्कार, पृ. ३२

३ (क) गुणकर्मादिसद्भावादस्तीति प्रतिभासतः ।
प्रतियोग्यस्मृतेश्चैव भावरूपं ध्रुवं तमः ॥ —

मानमेयोदय, पृ. १६२

(ख) तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे ।
द्रव्यान्तरं तमः कस्तादकस्मादपलप्यते ॥
— अस्ति हि तमस्तमालश्यामलमिति प्रतीतिः ।
— चित्सुखी, पृ. ४९–५०

४. तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत् ।
प्रसिध्दधर्मवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति ॥ पादटिप्पणी में उद्धृत

— तर्कसंग्रह, पृ. ३ पर

५. द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तमः ।

— वै. सू. ५–२–१९

६. आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनायाम् अन्याय्यत्वात् । — न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. ५१

७. 'तमो हि न रूपवद्द्रव्यमालोकासहकृत चक्षुर्ग्राह्यत्वादालोकवत् । रूपिद्रव्यचाक्षुषप्रमायामालोकस्य कारणत्वात्, तस्मात् प्रौढ–प्रकाशकतेजः सामान्याभावस्तमः ।

— त. दी. पृ. ५

८. सिद्धान्तचन्द्रोदय (तर्कसंग्रह, पृ. ७४ पर उद्धृत)

९ 'रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा'। – न्या. सि. मु. पृ ५२

१० तमसि नीलरूपप्रतीतिस्तु भ्रान्तिरेव, दीपापसरणक्रियाया एव तत्र भानात्। – न्यायबोधिनी, त. सं. पृ. ५

११. आरोपितनीलरूपो अभावो अन्धकारः। – सप्तपदार्थी, पृ. १३३

१२. तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च – वै. सू. ५.२.२० तथा तस्मादावरकद्रव्ये गच्छति यत्र यत्र तेजसोऽसान्निधिस्तत्र तत्र छायाग्रहणादन्यदेशतानिबन्धनो गतिभ्रम इति। – किरणावली, पृ. १९

१३. तत्सिद्धं–तमसि कर्मप्रतीतेः सर्वथा भ्रान्तिरूपतया तत्कारणविमर्शो व्यर्थ इति। – वै. द. रसायनभाष्यम्, पृ. १४५

१४. तस्मान्नाभावोऽयम्। न चालोकादर्शनमात्रमेवैतत्, बहिर्मुखतया तम इति, छायेति च कृष्णाकारप्रतिभासनात्। तस्माद्रूपविशेषोऽयमत्यन्तं तेजोऽभावे सति सर्वतः समारोपिततम इति प्रतीयते। – न्या. क. पृ. २५

१५. अतएव दीर्घा, ह्रस्वा, महती, अल्पीयसी छायेत्यभिमानः, तद्देशव्यापिनो नीलिम्नः प्रतीतेः, अभावपक्षे च भावधर्माध्यारोपोऽपि दुरुपपादः। तदुक्तम्।

न च भासामभावस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम्।
छायायाः कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः॥ न्या. क. पृ २५.

१६. नन्वेवं तर्हि सूत्रविरोधः द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तमः इति? न विरोधः, भाभावे सति तमसः प्रतीतेर्भाभावस्तम इत्युक्तम्। वही, पृ. २६

१७. आलोकादर्शने सति ग्राहकभूतात्मस्वरूपोपलम्भात् सामान्यतो नीलद्रव्यस्मरणे सति स्मृतित्वमनुग्रहणतस्तयोर्भेदाग्रहनिबन्धन स्तमोनैल्यव्यवहारः इति गुरुमतम्।' – मा. मे. पृ. १६३

१८. न च विनिगमनाविरहात्तेज एवान्धकाराभावस्वरूपमिति वाच्यम्। तेजसोऽभावस्वरूपत्वे सर्वानुभूतोष्णस्पर्शस्याश्रयबाधाद् द्रव्यान्तरकल्पने गौरवात्। न्या. बो. (त. सं. पृ. ५ पर उद्धृत) तथा – अस्तु च तमोऽभावस्तेज इति वाच्यम्। औष्ण्याश्रयत्वादिना तेजसोऽवश्याभ्युपेयत्वात्। वै. द. रसायनभाष्य, पृ. १८२

१९. लक्षणावली, पृ. ३

२०. मानमनोहर पृ. ५३

सर्वोदय और लोकतन्त्र : एक समीक्षा

आज के युग की जो आकांक्षा है, उससे सर्वोदय के लिए अनुकूल वातावरण पैदा हुआ है। 'सर्वोदय' मुख्यत: रस्किन की पुस्तक अनटू दि लास्ट का स्वतन्त्र भागवत अनुवाद है जिसके प्रभाव से गाँधी जी की जीवन–रीति ही बदल गयी। उनका मानना है कि सर्वोदय का दर्शन समग्र जीवन के लिए होना चाहिए; निरपेक्ष होना चाहिए।

सर्वोदय का अर्थ है– सबका जीवन साथ–साथ सम्पन्न हो। जीवन का अर्थ है–विकास, अभ्युदय या उन्नति। सबका सहविकास हो। इसलिए एक साथ समान रूप से सब का उदय हो, यही सर्वोदय का उद्देश्य है। गाँधीजी ने सर्वोदय के सिद्धान्तों को बताते हुए कहा है कि :–

१. व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में ही निहित है।

२. वकील का काम हो या नाई का; दोनों का मूल्य एकसा होना चाहिए। कारण कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

३. मजदूर, किसान अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

गाँधीजी के अनुरूप इनमें से पहली बात तो वे जानते थे, दूसरी बात धुंधले रूप में उनके सामने थी, पर तीसरी बात का तो उन्होंने विचार ही नहीं किया था। अनटू दि लास्ट पुस्तक ने सूर्य की भाँति उनके समक्ष यह बात स्पष्ट कर दी कि पहली बात में ही दूसरी और तीसरी बातें समाविष्ट हैं।[1]

गाँधीजी ने सर्वोदय–दर्शन की भूमिका में आज की प्रचलित समस्त पद्धतियों

के गुणात्मक स्वरूप को मानवीय मूल्यों के आधार पर प्रस्तुत किया है। गाँधी जी ने कहा है, 'समाजवाद या साम्यवाद आदि पश्चिम के सिद्धान्त जिन विचारों पर आधारित हैं, वे हमारे तत्संबंधी विचारों से बुनियादी तौर पर भिन्न हैं। इसी-लिए हमारे समाजवाद या साम्यवाद की रचना अहिंसा के आधार पर और मजदूरों तथा पूंजीपतियों या जमीदारों तथा किसानों के मीठे सहयोग के आधार पर होनी चाहिए।' [२] गाँधीजी कहते हैं कि-'मेरा दृढ विश्वास है कि हिंसा की नींव पर किसी स्थायी रचना का निर्माण नहीं हो सकता।' [३] 'सर्वोदय कोई प्रतिक्रिया वादी-विचार नहीं है जो पूंजीवादी पद्धति की प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न हुआ हो, [जैसा कि समाजवाद के बारे में कहा जाता है], बल्कि सर्वोदय भारतीय संस्कृति की अपनी मौलिक देन है और गाँधी जी के जीवन में यह मूल विचार प्रस्फुटित हुआ है।' [४]

गाँधी जी के सर्वोदय समाज में परिश्रम मनुष्य की सांस्कृतिक आवश्यकता है। श्रम संस्कृति और सभ्यता का स्रोत है।

सर्वोदय आखिर है क्या ? सबका उदय, सबका उत्कर्ष, सबका विकास। भारत का तो यह परम पुरातन आदर्श ठहरा।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुखमाप्नुयात् ॥

जैनाचार्य समन्त भद्र के अनुसार 'सर्वोदय का आदर्श अद्वैत है और उसकी नीति समन्वय। मानवकृत विषमता का निराकरण और प्राकृतिक विषमता को घटाना, यह सर्वोदय का प्रयत्न साध्य है।'

प्राणीमात्र के लिये समादर, प्रत्येक के प्रति सहानुभूति ही सर्वोदय का मार्ग है। जीव-मात्र के लिए सहानुभूति का यह अमृत जब जीवन में प्रवाहित होता है, तो सर्वोदय की लता में सुरभिपूर्ण सुमन खिल उठते हैं।

Darwin, Survival of the fittest की बात कह कर रुक गया। Huxley एक कदम आगे बढ़ा। वह कहता है।-Live and let live. परन्तु सर्वोदय कहता है, 'तुम मुझे जिलाने के लिये जिओ, मैं तुम्हें जिलाने के लिए जिऊँ, तभी और केवल तभी सब का जीवन सम्पन्न होगा, सब का उदय होगा, सर्वोदय होगा।'

सर्वोदय की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। नैतिकता इसकी आत्मा है। पर प्रश्न है कि यह सर्वोच्च सामाजिक व्यवस्था में कहाँतक उपयोगी है ? आज तीन प्रकार की सत्तायें चल रही हैं-शस्त्र सत्ता, धन सत्ता और राज्य सत्ता। परन्तु जागतिक स्थिति ऐसी हो गयी है कि इन तीनों सत्ताओं पर से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। आज सभी लोग किसी अन्य मानवीय शक्ति की खोज में हैं और वह मानवीय शक्ति सर्वोदय के माध्यम से ही विकसित हो सकती है।

आज की वर्तमान राज्य सत्ता पुलिस और सेना के सहारे जीती है, कानून की छत्रछाया में बढती है। एक ओर तो वह अल्पसंख्यों के प्रति अन्याय न होने देने का दावा करती है, दूसरी ओर बहुसंख्यों के हितों की रक्षा का ढिंढोरा पीटती है। पर अल्प-संख्यक भी उनकी शिकायत करते हैं, बहुसंख्यक भी। हमारी आज की राजनीति इन्हीं आदर्शों पर पल रही है। जब तक हमारा कोई सामाजिक लक्ष्य नहीं होगा तब तक हमें सही दिशा नहीं मिल सकती। राजनीतिक भाषणबाजी लक्ष्य का आधार नहीं हो सकती। पूर्ण विवेक से योजना का निर्धारण करना होगा।

लोकतन्त्र के आधार-भूत सिद्धान्त समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व को ही सिर्फ सर्वोदय का मूल मानना उस महान् उद्दिष्ट के प्रति पूर्णतः अन्याय है। यही कारण है कि भारतीय लोकतन्त्र अपने उद्देश्यों को नहीं हासिल कर सका है और ना ही हम पूरी तरह इसे आत्मसात् ही कर सके हैं। यूरोपीय देश और भारतीय व्दीप की परिस्थिति में मूलभूत अन्तर है। हमारे देश की अधिकतम आबादी अभी भी ग्रामीण अंचलों में रहती है, जिनका मूल आधार कृषि है।

हमारे देश के नेता और राजनीति का इतना ही दोष है कि वे अपने दिमाग का इस्तेमाल सही दिशा में नहीं करते। मनुष्य जाति के लिए वे कम नुकसानदेह होते, अगर नये विचार से वे मौजूदा हालत में दुःख और गरीबी से उबारने की कोशिश करते। लेकिन वे पश्चिमी देशों के तरीकों का नकल करके धन पैदा करना चाहते हैं। वे पूर्णतः धन पैदा करने में भी सफल नहीं हुये, किन्तु उन्होंने धनी और गरीब के बीच की खाई और चौड़ी ही की है। एयर कंडीशन और खुली नालियों या बिना नाली की गन्दी हालत, दोनों यहाँ हैं। मालिकों के नमूने पर स्कूल बना कर वे गुण उपजाने की कोशिश करते हैं। गुण सच और कर्म की आत्मा नहीं रह जाती है और यह बोलचाल और वेष तक सीमित रह जाती है। यह एक खतरनाक हालत है, जिसमें मनुष्य जाति के तीन चौथाई हिस्से का गौरव गरीबी और दुर्गुण के कारण नष्ट हो चुका है और शेष एक चौथाई भी सच को लगातार दबाए रखने में नष्ट होने जा रहा है।

किसी राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों का चरित्र या गुणों का बहुत बड़ा भौतिक और अध्यात्मिक महत्त्व होता है। सांस्कृतिक परम्परा और वर्तमान संस्कृति दोनों किसी कौम के निश्चय ही बड़े तत्त्व हैं। वर्तमान इच्छित सांस्कृतिक पोषण के लिए पहले यह आवश्यक है कि गलत धारणाओं को दूर किया जाय। मिसाल के लिए यह विश्वास आम तौर पर फैला हुआ है कि सच तो भरे पेट की सजावट है। (यहाँ सच का तात्पर्य अन्तिम दार्शनिक सत्य से नहीं बल्कि सामाजिक सच से है) यह विश्वास अपने में सही है, पर पूरा नहीं। यह कहना करीब-करीब

उतना ही सही होगा कि सच के कारण पेट भरता है। डॉ. राम मनोहर लोहिया ने बताया है कि–'वातावरण व संस्कृति और परिस्थिति व इच्छा के बीच की परस्पर क्रिया को कभी एक की दूसरे के ऊपर क्रिया के विकृत रूप में नहीं देखना चाहिए। विकृत रूप के कारण ही आदमी का बहुत सा शारीरिक और बौद्धिक प्रयास बेकार हो रहा है। सच और भरे पेट का एक दूसरे से सम्बन्ध है। सजग सांस्कृतिक कर्म स्वयं ऐसी आर्थिक हालत पैदा करेगा, जिसमें उचित पोषण सम्भव है। और साथ ही उचित मनःस्थिति और भावनाएँ ऐसी ढलें कि आदमी की आदतों का सच एक हिस्सा बन जाय। सरकार, फैक्ट्री, राजनीतिक दल, स्कूल, परिवार या हर आधुनिक संगठन में सच्चाई की निर्णायक अहमियत से इन्कार नहीं किया जा सकता। सभी चीजें सच की धूरी पर घूमती हैं।' [५]

आज सफलता करीब–करीब पूरी तरह संगठन पर निर्भर है। संगठन का मतलब तरह–तरह के हूनरवालों को एक जगह इकट्ठा करना है, जो सच्चाई और लगन से सौंपी गयी जिम्मेदारी निभायें और जो अपनी भूल सूधारें और नित्यचर्या के काम से अकार्य–कुशलता और फिजूल खर्ची दूर करने में सजग रहें। सच्चाई आनेपर हूनर और तबियत से काम करना लाजिमी है, क्योंकि कोई भी उस पद को नहीं चाहेगा जिसके लायक वह नहीं है, या उस पद पर नहीं बना रहेगा, जब तक इच्छा और निष्ठा से काम में न लगे। सही कसौटी कड़े परिश्रम की नहीं है, बल्कि ईमानदारी से काम करने की है।

हमारे यहां दैनिक जीवन और आपसी रिश्तों में सच्चाई का अपेक्षाकृत अभाव है। ऐसी हालत में सामूहिक काम मुश्किल हो जाता है। बहुत हद तक योजनाएँ कागज पर रह जाती हैं। हमारे यहाँ इतना आलसीपन भरा पड़ा है कि लोग योजना के शुरू के हिस्से में अत्यधिक आत्मविश्वास भरे रहते हैं। तय–शुदा कार्यक्रम पुरा नहीं करते और ऊंघते रहते हैं। सोचते हैं कि काफी समय पड़ा है। नियमित, भरोसे लायक, ठीक समय से, परिपक्व और ठोस तरीके से आखिर काम क्यों नहीं हो पाता? इसकी जड़ में बेशक ढ़िलाई और परानुमा ढुलमुल दिमाग है।

ढिलाई, उचित खुराक की कमी, राजनीतिक गुलामी, अपेक्षाकृत तृष्णाहीन संस्कृति और भौतिक सभ्यता जैसी चीजों के ही दलदल में पड कर हिदुस्तान का अधःपतन हुआ है। सच और काम के मौजूदा गुणों को नये सांचे में ढालना होगा ताकि वे पूरी दुनियाँ को मान्य हो सकें। इन गुणों की जरूरत के बारे में कोई शक की गुँजाइश नहीं। आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में, राजनीतिक शासन और सांस्कृतिक धारा में – जिसके विस्तृत परिवेश में परिवार चलता है – क्रान्तिकारी परिवर्तन करना होगा। सच और काम की केवल नसीहत मूल्य नहीं

रखती । कानून और रिश्तों की विस्तृत पृष्ठभूमि में इस सच और काम को ठोस मतलब देना होगा । अच्छे गुण और शील को उपजाने के लिए स्कूल वाकई एक शक्तिशाली माध्यम है, लेकिन तभी, जब समाज उसको स्पष्ट उद्देश्य दे।

डॉ. लोहिया ने हिंदुस्तान के बारे में बहुत ही गहरा चिन्तन किया है। उनका स्पष्ट मत है कि – 'भाषा, जाति, धर्म और क्षेत्र, ये चार चीजें हिन्दुस्तान की सबसे बडी चीजे हैं । उनका यह निजी अनुभव था कि जहाँ पेट बहुत ही प्रमुख चीज है वहाँ, कम से कम हिन्दुस्तान में, मन भी उतना ही प्रमुख है। जो व्यक्ति यह कहता है कि मन को ठीक किये बिना पेट को अलग से ठीक करो, वह नादान है, बेचारा अभी कुछ जानता नहीं । जो आदमी यह कहता है कि कारखानों की तादात बढा दो, उद्योगीकरण कर दो, उसके बाद जाति के, भाषा के, क्षेत्र के और धर्म के सवाल अपने आप हल हो जायेंगे, वह न तो दुनिया जानता है, न आदमी जानता है, न हिन्दुस्तान जानता हे । यह अद्भुत देश है । इसको या तो खुद चोट लगे, तब तो अपनी चोट को आदमी खुद ही समझ सकता है या फिर, उसका दिल गाँधी जी के जैसा चौडा होना चाहिए; वरना ये नकली लोग जब इधर–उधर के उधार औजारों से इस देश को बदलने की कोशिश करते हैं तो बड़ा गुस्सा आता है । '[६] वर्तमान व्यवस्था में यही नकली पन स्पष्ट दर्शनीय है । सही विकास की प्राथमिक आवश्यकता यह है कि खेती-कारखाने में पैदावार के जो कोई साधन है, सम्पत्ति है उसको राष्ट्र की सम्पत्ति बनाना होगा, समाज की सम्पत्ति बनाना होगा । तभी संसार के दुःख – दर्द दूर होंगे ।

एक बात साफ तौर पर बतानी है कि लगभग पाँच हजार बरसों से लगातार चिल्लाते रहने के कि सम्पत्ति का मोह छोडो, सम्पत्ति के मोह ने हिन्दुस्तानियों को और ज्यादा ग्रस्त रखा है और उसी तरह से, अगर यह सम्पत्ति के राष्ट्रीयीकरण वाली बात चल पडी तो हजार दो हजार बरस के बाद शायद इसका भी वही नतीजा निकले । इसलिए जब तक सम्पत्ति की असलियत रहेगी तब तक सम्पत्ति के मोह के खातमे की बात सोचना धोखेबाजी है । व्यक्तिगत सम्पत्ति से हट कर हम सामूहिक सम्पत्ति को बढाने की बात सोचें । सामूहिक सम्पत्ति को बढाते–बढाते हम व्यक्तिगत सम्पत्ति के मोह का नाश करें ।

गाँधीजी को आदर्शवाद का प्रतीक मानना गलत है । हिन्दुस्तान को शायद गाँधी से अच्छा कोई पहचान नहीं सका है । सर्वोदय का मूल व्यक्ति का चरित्र-निर्माण रहा है । वास्तव में मन, दिमाग और चरित्र बदले बिना कोई बडी चीज हो सकती है तो यह सम्भव नहीं । मुख्य बात है चरित्र का पुनर्निर्माण । और

इसका आधार है सत्य और अपरिग्रह। आधुनिक परिवेश में यह भी आवश्यक है कि गाँधी के जीव मात्र के प्रति समादर की भावना को लक्ष्यित किया जाय और अद्वैत एवं समन्वय की नीति से आधुनिक समस्याओं का निराकरण किया जाय।

महात्मा बुद्ध और महावीर के अध्यात्म प्रधान उपदेशों में भी ऐसी ही भावना आयी है। बुद्ध और रोगी भिक्षु की कथा प्रासंगिक है। विनयपीटक में वर्णित है कि 'बन्धुओं, तुम्हारी देखभाल करने के लिए माता या पिता नहीं है। यदि तुम एक दूसरे की देखभाल नहीं करोगे तो और कौन करेगा। बन्धुओं, जो मेरी देखभाल करे उसे रोगियों की देखभाल करनी चाहिए।' जैन धर्म में भी सेवाभाव को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। महावीर ने स्पष्ट कहा है – 'जैसे जीवित रहने का हमें अधिकार है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी है। जीवन का विकास संघर्ष पर नहीं सहयोग पर आधारित है। आदमी जितना उन्नत होता है उसी अनुपात में सहयोग और त्यागवृत्ति का विकास देखा जाता है। लोक-कल्याण के लिए अपनी सम्पति विसर्जित कर देना एक बात है और स्वयं सक्रिय रूप में घटक बन कर सेवा कार्यों में जुट जाना दूसरी बात है। यही सेवा का सकारात्मक रूप है।'[८]

इसी सेवा-भाव को गांधी जी ने उच्चतर स्थिति प्रदान की। शरीर-श्रम ही सेवा का सर्वोत्कृष्ट रूप है। यही कारण है कि गाँधीजी ने हाथ से काम करने वालों का-जैसे-मजदूर, किसान और कारीगर का-जीवन ही सच्चा सर्वोत्कृष्ट जीवन माना है। आज के परिवेश में यह सही भी है। राम मनोहर लोहिया ने लिखा है कि माध्यमिक तालीम पाने के बाद लडके-लडकी हाथ के काम से कुछ विमुख हो जाते हैं और लिखावट का काम पसन्द करते हैं। यह सम्भव नहीं है कि हिन्दुस्तान की जो जात-पात बनी है केवल इसी के कारण बनी, लेकिन उसके बनने में यह भी एक आधार रहा है कि जहां आदमी का रूतबा बढता है, शिक्षा बढती है, वह कुछ हाथ के काम से- नाईगिरी, मिट्टी खोदने वगैरह से-विमुख हो जाता है।'[९]

गाँधीजी पूंजी और श्रम में किसी प्रकार के संघर्ष की आवश्यकता नहीं ऐसा मानते थे। ये एक दूसरे के पूरक हैं। इनके बीच उत्पन्न संघर्ष को खत्म करने के लिए 'ट्रस्ट्रीशिप का सिद्धान्त' सामाजिक चिन्तन के इतिहास को उन्होंने प्रदान किया। लोकतन्त्र की आर्थिक पृष्ठभूमि पर गाँधी जी का पूंजी और श्रम के सामंजस्य को यह प्रयास आर्थिक क्षेत्र में बहुत बडी उपलब्धता है।

इस प्रकार लोकतन्त्र को पूर्ण कारग बना कर सुख–समृद्धि को बढाने के लिए गाँधी जी के सर्वोदय को पूर्ण प्राथमिकता देनी होगी और आज के मूल उद्देश्य भौतिकता को आध्यामिकता की मूल भित्ती पर प्रतिष्ठापित करना होगा।

– अजयकुमार राय

द्वारा, श्री. जयनाथ राय
अंग्रेजी दफ्तर
कलेक्टोरेट
जिला – बलिया
उ. प्रदेश – २७७००१

टिप्पणियाँ

१) सर्वोदय – (उद्धृत) (संक्षिप्त) आत्मकथा – महात्मा गाँधी पृ. ७७
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन – १९८५.

२. अमृत बाजार पत्रिका (अंग्रेजी दैनिक – कलकत्ता) २ अगस्त, १९३४,

३. यंग इंडिया (पत्रिका) १५ नवम्बर, १९२८.

४. तुलनात्मक आर्थिक प्रणालियाँ : डॉ. डी. एन्. चतुर्वेदी, पृ. – ४५९; (द्वितीय भाग) उ. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, काशी विद्यापीठ मुद्रणालय, वाराणसी – २.

५. सच, कर्म, प्रतिकार और चरित्र निर्माण : आवाहन – डॉ. राम मनोहर लोहिया, पृ. १२–१३. लोहिया साहित्य – २०.

६. भारत में समाजवाद – डॉ. राम मनोहर लोहिया, पृ. १२–१३. लोहिया साहित्य – २०.

७. (उद्धृत) अद्भुत भारत – मूल लेखक – ए. एल्. बाशम – अनुवादक वेंकटेशचन्द्र पाण्डेय, पृ – २४५.

८. जैनदर्शन में जनतान्त्रिक सामाजिक चेतना के तत्त्व, डॉ. नरेन्द्र भानावत; (द्वारा थर्ड इण्टरनेशनल जैन कानफरेन्स,), पृ. ५४.

९. भारत में समाजवाद – डॉ. राम मनोहर लोहिया, पृ. – २१, लोहिया साहित्य – २०.

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१५)
विषयता

नव्य–न्याय में प्रतियोगिता और अवच्छेदकता के समान अत्यधिक प्रयुक्त होनेवाला पारिभाषिक शब्द है विषयता। न्याय सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि, इच्छा, कृति और द्वेष ये आत्मा (व्यक्ति) के गुण हैं। ये गुण सर्वदा सविषयक होते हैं।[१] विषय के बिना इनका कोई अस्तित्व नहीं है। जब भी ज्ञान होता है तो वह किसी न किसी वस्तु का या किसी घटना का होता है। जिस वस्तु या घटना का जब जो ज्ञान होता है वह वस्तु या घटना उस ज्ञान का विषय होता है, तथा स्वयं ज्ञान विषयी होता है। (लेकिन ऐसा स्वीकार करते समय ज्ञान को ज्ञाता के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिये।) बिना किसी विषय के हम कभी नहीं कह सकते कि 'हम जानते हैं'। जब भी ज्ञान के बारे में हम कुछ कहते हैं तो यही कहते हैं कि 'मैं अमुक वस्तु को जानता हूँ', मैं अमुक शास्त्र को जानता हूँ' आदि। किसी भी विषय से विरहित 'मैं जानता हूँ' ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं होती। अतः बुद्धि (ज्ञान) सर्वदा विषय को ले कर ही होती है।[२]

उसी प्रकार इच्छा भी किसी विषय की होती है। बिना किसी विषय के कोई इच्छा नहीं होती। हम कभी इतना मात्र नहीं कह सकते कि 'मेरी इच्छा है' या 'मैं इच्छा करता हूँ'। हम जब भी इच्छा को प्रकट करते हैं तो कहते हैं 'मैं अमुक वस्तु की इच्छा करता हूँ' या 'मेरी अमुक इच्छा है'। उसी प्रकार कृति भी बिना विषय की नहीं होती है। कोई भी मात्र यह नहीं कहता कि 'मैं प्रयत्न कर रहा हूँ'। सभी कहते हैं कि 'मैं अमुक विषय में प्रयत्न कर रहा हूँ'। उसी प्रकार द्वेष भी बिना विषय के नहीं होता। द्वेष का विषय भी कोई व्यक्ति, वस्तु या घटना होती है। बिना विषय के द्वेष भी उत्पन्न नहीं होता। कोई भी

व्यक्ति कभी भी मात्र यह नहीं कहता कि 'मैं द्वेष करता हूँ'। सर्वदा हर कोई यही कहा करता है कि 'मैं अमुक अमुक का द्वेष करता हूँ'। इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न तथा द्वेष सर्वदा किसी न किसी विषय को लेकर उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें सविषयक अर्थात् विषय से सम्बन्धित कहा जाता है।

इस प्रकार जिस का ज्ञान होता है उसमें विषयता नामक पदार्थ (धर्म) रहता है और ज्ञान में विषयिता नामक पदार्थ (धर्म) रहता है। विषयता यह ज्ञान, इच्छा, कृति, द्वेष इन में से किसी न किसी के द्वारा प्रदर्शित होनेवाला एक स्वतन्त्र पदार्थ या स्वरूप सम्बन्ध का ही एक प्रकार है। "मैं अमुक को जानता हूँ" या "मैं अमुक वस्तु की इच्छा करता हूँ" इस प्रकार की प्रतीति से ही विषयता नामक पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है। बुद्धि, इच्छा आदि पदार्थ वस्तुविषयक हो कर ही जन्म लेते हैं। बिना विषय के उनका न तो जन्म ही होता है और न ही वे प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार अभाव की विलक्षणता प्रतियोगिता की विलक्षता पर आधारित होती है उसी प्रकार विभिन्न ज्ञानों का भेद उनकी विषयता की भिन्नता के आधार पर ही ज्ञात होता है। विषयता पदार्थ स्वीकार न करने पर संशय; निश्चय, समूह-लम्बज्ञान, समुच्चय-सम्भावना आदि में भेद करना असम्भव है। विषयताओं की भिन्नता ही बुद्धियों की भिन्नता को प्रकाशित करती है।

विषयता में रहनेवाला विषयतात्व धर्म अखण्डोपाधि है। न्याय-सिद्धान्त के अनुसार जो कहीं पर रहता है वह धर्म है। "ध्रियते, तिष्ठति, वर्तते यः स धर्मः"। आकाश, काल, दिशा आदि को छोड़ कर सभी पदार्थ कहीं न कहीं रहते हैं। अतः वे सब धर्म कहे जाते हैं। जो पदार्थ जिस में (पर) रहता है वह उसका धर्म कहलाता है। जैसे, मनुष्यत्व मनुष्य मात्र में रहता है, और वह (मनुष्यत्व) उसका (मनुष्य का) धर्म है। उसी तरह पशुत्व पशु का धर्म है। पुस्तक मेज़ का धर्म बनता है। तन्तुओं पर वस्त्र रहता है (याने तन्तुओं का वस्त्र बनता है) तो वस्त्र तन्तुओं का धर्म है, पात्र में जल रहता है तो जल पात्र का धर्म है। आकाश इत्यादि पदार्थ कहीं नहीं रहते हैं, इसलिये आकाश किसी भी पदार्थ का धर्म नहीं है।

धर्म दो प्रकार का होता है – जाति और उपाधि। जिसके कारण विभिन्न आकृति, रंग, रूप वाले पदार्थ एक श्रेणी या वर्ग में समाविष्ट होते हैं ऐसा समवाय नामक सम्बन्ध से रहनेवाला अविनाशी पदार्थ जाति कहलाता है। जाति, पदार्थ के एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग करने का भी काम करती है। जैसे, विभिन्न देशों में रहनेवाले मनुष्य आकृति, रूप और रंग में भिन्न होने पर भी एक मनुष्य जाति

के कारण एक समुदाय के रूप में जाने जाते हैं और दूसरे पशुओं के समुदाय से भिन्न किये जाते हैं।

जो पदार्थ जाति न हो कर भी अपने आश्रय को दूसरे पदार्थों से अलग रूप में प्रस्तु करता है उपाधि कहलाता है।

उपाधि के दो प्रकार हैं – सखण्डोपाधि और अखण्डोपाधि । खण्ड या भागश: जो रहती है वह सखण्डोपाधि कहलाती है। याने जिसका खण्डश: विश्लेषण किया जा सकता है वह धर्म सखण्डोपाधि होता है। जैसे, पशुत्व धर्म। पशुत्व धर्म का अंशत: विश्लेषण सम्भव है क्यों कि पशु का अर्थ है " रोम और पूंछ से युक्त होना "। याने कि रोम, पूंछ ये पशु के धर्म हैं। रोम और पूंछ ये अंश अनेक हैं तथा इनका विश्लेषण रोमत्व युक्त तथा पूंछत्व युक्त के रूप में किया जा सकता है। अत: पशुत्व यह सखण्डोपाधि है। उसी प्रकार 'जलयुक्त पात्र' का धर्म जल भी सखण्ड है क्योंकि उसको जलत्व जातियुक्त के रूप में जल और जलान्य के द्वारा अंशत: विभाजित कर सकते हैं, क्योंकि यहाँ जल के दो अंश प्रकट होते हैं – जल तथा जलत्व जाति।

जिसका कोई अंशत: विश्लेषण नहीं हो सकता है वह पदार्थ, याने जो कि मनुष्यत्व, द्रव्यत्व आदि के समान अंशत: व्याख्यात नहीं होता है वह अखण्डोपाधि कहलाता है – जैसे, आकाशत्व भावत्व आदि । विषयतात्व भी किसी प्रकार से अंशत: विश्लेषण द्वारा व्याख्यात नहीं है । इसलिये वह अखण्डोपाधि कहलाता है। जाति और अखण्डोपाधि में यही भेद है कि जाति समवाय सम्बन्ध से अपने आश्रय के साथ सम्बन्धित होती है जब कि अखण्डोपाधि स्वरूप सम्बन्ध से अपने आश्रय से सम्बन्धित होती है।

विषयता, ज्ञान आदि से निरूपित (प्रदर्शित) होती है। वह उनकी निरूपक (प्रदर्शक) नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि विषयता और ज्ञान में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव नहीं है, जैसा कि अन्य पदार्थों में होता है। उनकी चर्चा पूर्व लेखों में की जा चुकी है।

विषमता के कई भेद होते हैं, जिन्हें प्रकारता, विशेष्यता आदि के रूप में जाना जाता है। प्रकारता और विशेष्यता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। जैसे प्रकारता से निरूपित विशेष्यता होती है उसी प्रकार विशेष्यता से निरूपित प्रकारता भी होती है। इनके विषय में आगे विवेचन किया जायगा।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि घट आदि पदार्थों में रहने वाली ज्ञान; इच्छा आदि की विषयता यह कौनसा पदार्थ है ? कुछ नैयायिकों का कथन है कि घट आदि पदार्थ में रहने वाली विषमता विषयाकार प्रतीति को साक्षी में रख कर प्रतीत होने वाला स्वरूप सम्बन्ध का ही एक प्रकार है।[1] विषयता का

ज्ञान प्रातियोगिक सम्बन्ध–विशेष है और वह प्रतियोगिता आदि के समान ही स्वरूप (याने यहाँ प्रतियोगि) से भिन्न नहीं है। इसे (विषयता को) स्वीकृत स्वरूप–सम्बन्ध के रूप में मानने से ही प्रश्न का समाधान हो सकता है और इसलिये अतिरिक्त पदार्थ के रूप में इसकी कल्पना करने के लिये कोई स्थान नहीं है।

परन्तु स्वरूप–सम्बन्ध के रूप में विषयता को स्वीकार करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता कि वह ज्ञान–स्वरूप है या विषय स्वरूप ? और उसे केवल ज्ञान-स्वरूप या केवल विषय स्वरूप मानने में कोई युक्ति न होने से उसे दोनों के ही रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। लेकिन उसे दोनों के रूप में स्वीकार करने में गौरव दोष होने से उसे अलग अलग सम्बन्ध के रूप में याने एक यिषयता के रूप में स्वीकार करना उचित है।[६]

तथापि इसका भी औचित्य कहाँ तक स्वीकार किया जा सकता है ? जब कि विषयता को विषय–रूप मानने पर विषय के साथ उसका आधाराधेय–भाव सम्भव नहीं है, विषयता का हमें होने वाला प्रत्यय आधेय के रूप में तथा विषय का हमें होने वाला प्रत्यय आधार के रूप में होता है। जैसे ज्ञानविषयतावान् घटः। अतः उसे ज्ञान-स्वरूप मानने में कोई बाधा नहीं है। विषयता को विषय–स्वरूप मानने पर भी विषय और विषयता के बीच आधार–आधेय–भाव मानने पर ज्ञानविषयतावान् घटः के समान घटः घटवान् यह भी प्रत्यय होना चाहिये। क्योंकि यहाँ विषयता और घट एक होने पर यदि विषयतावान् घटः यह प्रतीति होती है तो घट घटवान् है इस प्रतीति के होने में क्या बाधा हो सकती है ?[५]

विषयता = घट
| |
घट घट

यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि यद्यपि विषयतात्व से नियमित (अव-च्छिन्न) अधिकरणता घट में प्रतीत होती है, परन्तु घटत्व से नियमित अधिक-रणता नहीं प्रतीत होती। इसलिये 'विषयतावान् घटः। यह प्रतीति होती है, जब कि 'घटवान् घटः' यह प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार नियामक धर्मों की भिन्नता के कारण प्रतीतियों में भेद हो जाता है और उसके फलस्वरूप 'विषय-तावान् घटः' यह प्रतीति नहीं होती है। तथापि एक प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। वह यह कि क्या उस धर्म से नियमित होने वाला निरूपितत्व उस धर्म के आश्रय से विलक्षण है या निरूपितत्व से विलक्षण है ? गदाधर कहते हैं कि तदवच्छिन्न निरूपितत्व को तदाश्रय निरूपितत्व से भिन्न रूप में परिभाषित करना कठिन है। इसका तात्पर्य यह है कि विषयतात्व से नियमित निरूपिता

और विषयतात्वाश्रय (विषयता = घट) निरूपिता में कोई अन्तर नहीं है। [६] अतः जिस प्रकार 'विषयतावान् घटः' यह प्रत्यय होता है उसी प्रकार विषयता विषय-स्वरूप अर्थात् यहाँ घट स्वरूप होने से 'घटो घटवान्' यह प्रत्यय भी होना चाहिये। इसलिये विषयता को विषय-स्वरूप मानना सम्भव नहीं है।

गदाधर का विचार यह है कि विषयता को एक-रूप (विषय-रूप या ज्ञान-रूप) मानने में कोई प्रबल आधार न होने से उसको दोनों (याने विषय एवं ज्ञान) रूप मानने पर भी उनमें से उभय पूर्व-सिद्ध होने से एक अलग विषयता और उसे ज्ञान के सम्बन्ध के रूप में कल्पना करने की अपेक्षा उस पूर्व-सिद्ध स्वरूप (विषय एवं ज्ञान) को ज्ञान, इच्छा आदि के सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करने पर गौरव दोष के लिये स्थान न होने से विषयता का उक्त युगल रूप में स्वीकार करने में कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होती है। [७]

नवीन नैयायिकों के मत में विषयता यह एक अलग पदार्थ ही है। वह स्वरूप-सम्बन्ध का एक प्रकार नहीं है। इसका कारण यह है कि विषयता को ज्ञान-स्वरूप मानने पर कई आपत्तियाँ आती हैं। पहली आपत्ति यह है कि यदि विषयता को ज्ञान-रूप मानें तो ज्ञान का आश्रय काल (क्योंकि कोई भी ज्ञान किसी को भी किसी-न-किसी काल में ही होता है।) भी ज्ञान का विषय हो जायगा। क्योंकि काल में होने वाला ज्ञान का सम्बन्ध भी ज्ञान-स्वरूप है। घट-ज्ञान की विषयता तथा काल के साथ घट-ज्ञान का जो कालिक सम्बन्ध है वे दोनों ही ज्ञान-स्वरूप होने से एक हैं। अतः जैसे 'घट विषतावान् घट है' यह प्रत्यय होता है वैसे ही 'घटज्ञानविषयतावान् कालः' यह भी प्रत्यय होना चाहिये। और यदि काल के साथ होने वाले ज्ञान के सम्बन्ध को अलग किस्म का मानने पर उनमें से एक को (याने विषयता को) अतिरिक्त और दूसरे को (याने काल को) ज्ञान-रूप मानने में कोई युक्ति न होने से काल में रहने वाले ज्ञान के सम्बन्ध के समान विषय में रहने वाले ज्ञान के विषयता नामक सम्बन्ध को अलग मानना ही उचित है। [७]

दूसरी आपत्ति यह है कि विषयता ज्ञान-स्वरूप होने से 'घट एवं पट' अथवा 'गौ एवं अश्व' इस प्रकार के अनेक आलम्बन रहने वाले ज्ञान में रहने वाली तथा घट और पट इन दोनों विषयों में रहनेवाली विषयता एक ही होने से उस प्रकार के अनेक आलम्बनों वाले ज्ञानों को भ्रम मानना पडेगा। क्योंकि ज्ञान एक होने से उसकी विषयता भी एक है। अतः उक्त ज्ञान में घट-विषयता भी पटत्वावाच्छिन्न है और पट-विषयता भी घटत्वावच्छिन्न है। इसके फलस्वरूप घट में न रहने वाले पटत्व धर्म से नियमित विषयता वाला वह ज्ञान होने से शुक्ति में होनेवाले रजत ज्ञान के समान इसे भी भ्रम मानना पडेगा। और

परिणामतः उक्त अनेक आलम्बनों वाले ज्ञान के बाद ' मैं घटत्व धर्म से पट को जानता हूँ ' इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक प्रत्यय होना चाहिये ऐसा स्वीकार करना पडेगा। क्योंकि घटत्व धर्म से नियमित पट में रहनेवाली विषयता वाला ज्ञान ही उक्त अनुव्यवसाय का विषय होता है।

यदि उपर्युक्त दोषों के कारण जिस प्रकार विषयता को ज्ञान-स्वरूप नहीं मान सकते उसी प्रकार उसे विषय-स्वरूप भी नहीं मान सकते। क्योंकि विषयता को विषय (घट) – स्वरूप मानने पर प्रमात्मक ज्ञान भी भ्रम हो जायगा। जैसे, रजत के विषय में जो ' इदं रजतं ' यह ज्ञान होता है उस ज्ञान की विषयता रजतत्व प्रकारक प्रमात्मक ज्ञान की है। वही विषयता रजत में शुक्ति का भ्रम होने पर शुक्तित्व प्रकारक भ्रम की विषयता है, और विषयता विषय-स्वरूप होने से दोनों की विषयताएँ रजत-स्वरूप ही हैं। अतः रजत का प्रमात्मक ज्ञान भी भ्रम मानना पडेगा।[८]

उसी प्रकार विषयता को विषय-स्वरूप मानने पर " घटवद्भूतलम् " और "घटभूतलसंयोगः" इन दोनों में कोई भेद नहीं किया जा सकेगा।[९] क्योंकि दोनों ही ज्ञानों में विषय समान है। अतः विषय-रूप होनेवाली उनकी विषताएँ भी समान हैं। ' घटवद् भूतलम् ' इस ज्ञान के विषय घट, भूतल और उनका संयोग ये तीन हैं। उसी प्रकार ' घटभूतलसंयोगः ' इस ज्ञान के विषय भी वे ही तीन पदार्थ हैं – घट, भूतल और संयोग। अतः विषयाएँ भी वे ही तीन हैं जो पूर्व ज्ञान में है। अतः इन ज्ञानों में भेद करने के लिये कोई आधार नहीं है, और विषयता-भेद के बिना ज्ञानों में भेद नहीं किया जा सकता यह पहले ही कहा जा चुका है।

इस विषय में यज्ञपति उपाध्याय[१०] का विचार यह है कि पहले वाले ज्ञान में घट और भूतल के सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होनेवाले संयोग का भी सम्बन्ध अधिक होता है, जबकि दूसरे ज्ञान में, जो कि समूह विषय का ज्ञान है, उसमें संयोग का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। उसमें केवल तीन वस्तुएँ–घट, भूतल और संयोग-ही प्रतीत होती हैं, जब कि पूर्व ज्ञान मे संयोग का सम्बन्ध लेकर चार वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। अतः दोनों ज्ञान में भेद है। परन्तु गदाधर के अनुसार उपाध्याय का यह मत समीचिन नहीं है क्योंकि सम्बन्ध के सम्बन्ध को ले कर भी समूहा-लम्बन-ज्ञान हो सकता है। जैसे, ' घटभूतलसंयोगप्रतियोगित्व अनियोगित्व ' इसमें और ' घटवद्भूतलम् ' इस ज्ञान में कोई भेद नहीं हो सकेगा। अतः गदाधर के विचार से विषयता एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यह न तो विषय-स्वरूप है और न ही ज्ञान-स्वरूप।

विषयता को विषय-रूप मानने पर दूसरी आपत्ति यह है कि द्रव्य के रूप होने वाले घट-ज्ञान तथा घट के रूप में होने वाले घट-ज्ञान में कोई भेद नहीं

होगा, क्योंकि दोनों ही ज्ञानों में विषयता घट-स्वरूप ही है।[११]

जो लोग विषयता को ज्ञान और विषय-रूप एक साथ मान कर 'घटवद् भूतलम्' और 'घटभूतलसंयोगः' इस समूहालम्बन ज्ञान के एकीकरण की आपत्ति का निराकरण करते हैं उनका यह मत है कि उक्त समूहालम्बनज्ञान 'घटवद् भूतलम्' इस ज्ञान से अभिव्यक्त होने वाली ज्ञान और घट उभयात्मक प्रकारता को अभिव्यक्ति देने वाला न होने से उक्त दोनों ज्ञानों में विषयता की विलक्षणता अति स्पष्ट है। तथापि उन लोगों का यह मत सही नहीं है। क्योंकि ज्ञान और विषय दोनों रूप विषयता के मानने पर 'जातिमान् घटः' इस ज्ञान में भासित होने वाली घटत्व-रूप विषयता में द्वैविध्य नहीं होगा। इस ज्ञान में घटत्व-विषयता दो प्रकार की है – एक घटत्व विषयता है और दूसरी जाति-विषयता है। ये दोनों ही विषयताएँ भिन्न हैं। जाति में रहनेवाली विषयता जातित्व से नियमित है तथा घटत्व में रहने वाली विषयता किसी अन्य धर्म से नियमित नहीं है। परन्तु विषयता विषय-स्वरूप तथा ज्ञान-स्वरूप मानने पर ज्ञान एक और विषय भी एक ही है तो विषयताएँ दो कैसे होंगी। इसके फलस्वरूप 'जातिमान्' और जातिमान् घटः' इन दो ज्ञानों में कोई भेद नहीं होगा। 'जातिमान् घटः' इस ज्ञान में प्रतीत होनेवाली विषयता 'जातिमान्' इस ज्ञान में प्रतीत होनेवाली विषयता से भिन्न न होने से उनके स्वरूप में कोई विलक्षणता नहीं होगी। अतः विषयता को अलग पदार्थ मानना ही उचित है।[१२]

अब प्रश्न यह है कि यदि विषयता स्वरूपसम्बन्ध नहीं है तो वह कम-से-कम सम्बन्ध तो है या नहीं? इस का विचार और विषयता के भेदों का विचार अग्रिम लेख में किया जायगा।

बलिराम शुक्ल

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

टिप्पणियाँ

१. गदाधर; बुद्धिर्नाम कश्चिदात्मविशेषगुण......सा च सविषयिका। गादाधर्यां, विषयितावादे
२. घटमहं जानमीत्याकारकाऽऽपामरसाधारणानुभवबलादेव बहीं
३. जानकीनाथ भट्टाचार्य; विषयता च विषयाकारप्रतीतिसाक्षिकः स्वरूसम्बन्धविशेषः। न्यायसिद्धान्तमञ्जर्यां प्रत्यक्ष प्रकरणे

४. गदाधर; न च तादृशसम्बन्धस्य ज्ञानस्वरूपता वा स्वीक्रियते इत्यत्र विनिगमनाविरहादुभयस्यैव सम्बन्धता कल्प्या इति तदपेक्षयालाघवात् सम्बन्धत्वेनातिरिक्त्यैकविषयता कल्पनमेवोचितमिति वाच्यम्। गादाधर्यां, विषयतावादे

५. घटो ज्ञानविषयतावान् इतिवत् घटो घटवानित्यादि प्रतीत्यापत्तेः। वहीं

६. अस्तु वा विनिगमनाविरहादुभयमेव विषयत्वं तथापि तादृशोभयस्य क्लृप्तत्वात्, अतिरिक्तविषयतास्तत्र ज्ञानाधिम्बन्धतायाश्च कल्पना उपेक्षणीया तदुभयस्य ज्ञानादिसम्बन्धत्वकल्पने गौरवानवकाश इति। वहीं

७. नव्यास्तु विषयत्वं पदार्थान्तरमेव। वहीं

८. विषयताया विषयस्वरूपत्वे च घटत्वकारकप्रमानिरूपितायाः घटत्वप्रकारक भ्रमनिरूपिताश्च घटनिष्ठविषयताया ऐक्यप्रसङ्गेन घटत्वप्रकार प्रमाया अपि भ्रमत्वापत्तिः। वहीं

९. एवं घटवद्भूतलं घटभूतलसंयोगादिति ज्ञानयोरविशेषप्रङ्गश्च विषयाणां तदात्मक विषयवानाञ्च अविलक्षणत्वात्। वहीं

१०. न च प्रथमज्ञाने सम्बन्धविधया भासमानस्य संयोगस्य संबंधोऽपि अधिको भासते। वहीं

११. गदाधर; विषयताया विषयरूपत्वे द्रव्यत्वावावच्छिन्न घटादिविषयाकार ज्ञानाद् घटत्वावच्छिन्न तद्विषयकज्ञानस्य विषयतावैलक्षण्यविरहात् वैलक्षण्यापत्तिः। गादाधर्यां, सिद्धान्तलक्षणे

१२. ज्ञानविषयोभयस्वरूपत्वे च जातिमान् घट इत्यादिज्ञानीय घटत्वादिविषयताया द्वैविध्यानुपपत्तिः, ज्ञानविषययोतथात्वात्। वहीं

प्रतिक्रिया

परामर्श (हिंदी) के मार्च, १९९० के अंक में अभी अभी श्री. वसंत चक्रवर्ती का लेख 'बँधी महावट से' पढ़ गया। लेखक ने बताया है 'संस्कृत में 'वट' का अर्थ वर्षा है।' मेरे पास आपटे का कोश है; उसमें वट का अर्थ वर्षा नहीं है।

भोजपुरी में 'महावट' माघ में होनेवाली वृष्टि है। उसकी व्युत्पति 'माघवृष्टि' से है। ब्रज में यही 'माहौट' है। 'मघवट' तथा 'मघौटी' भी बोलियों में हैं। बिहार में 'महावट' उस खेत को कहा जाता है, जिसकी जोताई माघ में कर के परती छोड़ दिया जाता है। मेरी कृति 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली' (राजकमल प्रकाशन) में 'मघौटल खेत' माघ में 'खना हुआ खेत' है।

संस्कृत वट = बड़, बरगद का प्रयोग महाभारत में है। वैदिक युग में 'वट' का प्रयोग कहीं है। इसकी जानकारी करनी चाहिए। कामायनी की कथा आदि मानव मनु की कथा है। प्रसाद को प्राचीन वाङ्मय का ज्ञान था। वट अतः बड़ के अर्थ में ऐतिहासिक भूल है। 'वट, वृक्ष का समानार्थी नहीं है। अतः 'महावट' का अर्थ महावृक्ष संभव नहीं है।

संस्कृत वट रस्सी के आशय में भी है। 'बँधी महावट से नौका थी' का अर्थ 'मजबूत बरहे से नौका बँधी थी' संभव है। मेरे पास कामायनी की त्रयोदश आवृत्ति (संवत् २०२४) है–उसमें पाठ है 'बँधी महा–बट से नौका थी'। यहाँ 'वट' की जगह 'बट' है–संभव है जिस विद्वान् भाषाविद् ने 'महा' और 'वट' के मध्य में–(हायफन) चिन्ह लगाया हो उसीने 'वट' को 'बट' कर दिया अथवा यह प्रिंट की भूल हो।

प्रसाद की भाषाशैली तथा संरचना के अनुकूल 'महावट' (माघ की वर्षा) ठेठ प्रयोग नहीं है, पूरा वर्णन तत्सम शब्दों से भरापूरा है। तथा 'महावट में' प्रयोग औचित्य की पूर्ति नहीं करता है। 'कँपी महावट में नौका थी' पाठ में कहीं भूल है–'नौका काँपना' प्रयोग नहीं मिलता है।

शतपथ ब्राह्मण में 'वृक्षे ना प्रतिबघ्नीष्व' के आधार पर 'वट' का अर्थ वृक्ष किया जाता है। यों 'वट' विशिष्ट वृक्ष है।

अन्य प्राचीन ग्रंथों में मनु की नौका मत्स्य-सींग में बाँधी जा कर उसी के सहारे हिमालय पर पहुँचती है।

अस्तु। 'बंधी महावट से नौका थी' का संमत अर्थ है (i) नौका महावट वृक्ष से बँधी थी अथवा (ii) नौका विशाल बरहे (रस्सी) से बँधी थी।

भाषा-साहित्य संस्थान,
१५५, त्रिवेणी रोड
(उत्तम सिनेमा के पास)
इलाहाबाद - २११००३
(उ. प्रदेश)

— हरिप्रसाद गुप्त

अलख को लख, अगम को गम बनाने वाला रामानन्दी कबीर

अलख

अलख– गुजराती, मराठी, हिंदी तीनों में, मध्यकालीन संत साहित्य में अलख का प्रयोग मिलता है। अलक्ष्य **महाभारत** में 'जो दिखाई न पडे' के आशय में है। **मराठी व्युत्पत्ति कोश** में अलख की व्युत्पत्ति 'अलक्ष्य' से स्वीकारने में संदेह किया गया है, किन्तु **महाभारत** के आधार पर अलख की परंपरा 'अलक्ष्य' से सिध्द है। अलख संत साहित्य में ब्रह्म का पर्याय है, अतः यह पारिभाषिक शब्द के रूप में विकसित हुआ।

अलेख भी अलख के आशय में है– 'लेख समाना अलेख मैं, यों आप महँ आप।' तथा 'भरमकरम सब हरि करि, सबही माँहि अलेख।' (कबीर) 'अलेख' इस संदर्भ में 'लिख' धातु से विकसित नहीं है यह लक्ष् (लक्ष्य) = निशाना से ही संबंधित है।

अलख का प्रयोग जायसी कृत **पद्मावत** में है। 'अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सो सब ओहिं सो बरता।' ६

चाँदायन – (राऊद कृत) में 'अलख' – और 'निरंजन' का संयुक्त प्रयोग है।

'अलख निरंजन जाहि जियावइ।' ३१२

कबीर ने भी अलख निरंजन का एक–साथ प्रयोग किया है।

अलख निरंजन लखै न कोई, जेहि बंधे बंधा सब कोई।।

निरंजन (निर्+अंजन) अरूप के आशय में है। अंज् धातु आँजने, मलहम या लेप या नेत्रों में काजल लगाने के आशय में है। निरंजन अर्थात् जो सजाया

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ११, अंक ४, सितम्बर, १९९०

न गया हो–निर्लेप अथवा अरूप अवर्ण। आपटे ने **निरंजन** का प्रयोग परब्रह्म के आशय में दिया है पर यह प्रयोग किस ग्रंथ में है यह संकेत नहीं दिया है।[1]

प्राकृत में **णिरंजण** प्रयुक्त है।

अलख का प्रयोग **रामचरितमानस** में भी है – 'की अज अगुन अलख गति सोई।' १.१०८.४; 'व्यापक ब्रह्मु अलख अविनासी।' १.३४१.३.

समूचे भारतीय वाङ्मय में ब्रह्म के प्रति आस्था है। तुलसीदास भले ही अवतारी राम के उपासक हों पर निर्गुण, अगुण, अरूप को रूप में वे भी स्वीकारते हैं। **हिंदी साहित्य का इतिहास** (रामचंद्र शुक्ल) के कारण पाठक को यह भ्रम होता है कि कबीर शुद्ध निर्गुणवादी थे और तुलसी शुद्ध सगुणवादी। सत्य यह है कि कबीर भी राम के भक्तवत्सल, दयालु, शरणागत उद्धारक रूप के प्रति तुलसी से कम सश्रद्ध नहीं हैं (द्रष्टव्य, लेखक की कृति **वैष्णव कबीर**)। जो दृष्टि से परे है ऐसे परतत्त्व को सांसारिक अथवा इंन्द्रिय संबंधी ज्ञात से परे बताने के लिए विशेषणों के पूर्व 'अ', नकारदर्शक अव्यय, का प्रयोग रूढ़ हो गया था। यथा, अगम, अगोचर, अदृष्ट, अव्यय आदि।

अगोचर

यह मराठी–हिंदी में अदृष्ट, अदृश्य के आशय में परब्रह्म के लिए ही है। सूर का प्रयोग है 'मन बानी कौं **अगम अगोचर** जो जानै सो पावै/' १।२ तथा 'निगमनि हूँ मन–बचन अगोचर।' ८/३ (संस्कृत में यही इस प्रकार कहा गया है – 'वाचामगोचरांहर्षावस्थामस्पृशत्।') कबीर का प्रयोग है – 'अँधियारे दीपक चहिए, तब वस्तु अगोचर लहिए।' तथा '**अगम अगोचर** गमि नहीं, जहां जगमगै जोति।' **मानस में है**: 'मन बुध्दि बर बानी अगोचर प्रगट कवि कैसे करे।' १.३२३ संस्कृत 'गो' इंन्द्रियवाचक है।

अगम–

यह संस्कृत 'अगम्य' से विकसित है। अदृश्य, अदर्शनीय, अगोचर समानार्थी हैं। भक्ति-साहित्य में **अगम** का प्रचुर प्रयोग है – सूर कहते हैं 'हरि-अगम–अगोचर लीलाधारी।' सूर के कृष्ण अगम्य भी हैं और लीलाधारी भी हैं। यह विरोधाभास भक्ति-साहित्य की देन है। सगुणोपासक सूर यहाँ कबीर के निकट हैं। कबीर कहते हैं 'कहै कबीर गुंनी अरु पंडित मिलि लीला जस गावे।' ३३ (रामकली (कबीर ग्रन्थावली, डॉ. माता प्रसाद गुप्त)।) कबीर राम-कृष्ण के लीला-यश के गायन की महिमा पर बल देते हैं – जो अगम्य है उसकी लीला ही भक्त को सुलभ है। लीला के माध्यम से वह उसे जान पाता है। दृश्य से अदृश्य की ओर जाना मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक है। भक्ति साहित्य इस दृष्टि से अद्भुत है। कबीर कहते हैं–'एक नाम है अगम गंभीरा, तहवां स्थिर दास

कबीरा।' तथा 'अगम-दुर्गम गढ़ रचिऔ बास, जामहि जोति करै परगास।' कबीर ने अपनी भक्ति से अगम्य को गम्य बना लिया—'कहै कबीर अगम किया गम, राम रंग रँगी।' अथवा 'अगम काटि गम कियहु हो रमैया राम।' अगम–अगोचर को गम्य और दृश्य बताने वाला दार्शनिक वैष्णव कबीर संपूर्ण भक्ति-वाङ्मय में अद्वितीय है। 'सेस गनेस गिरा गमु नाहीं।' (मानस २.३२५) को प्राप्त कर लिया कबीर मनस्वी ने। ऐसे ही ज्ञानी-योगी को लक्ष्य कर के संभवत: मानसकार ने कहा है 'योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारं।' सचाई तो यह है कि 'योगिनामप्यगम्यम्' को गम्य–सुगम बनाने वाला साधक कबीर असाधारण है। अनुभूति में कितनी सचाई और प्रभविष्णुता है। कबीर का अनुभव परोक्ष नहीं प्रत्यक्ष है–आत्माराम की सतत अनुभूति है, यह तर्कगम्य नहीं। कबीर ने अगम्य को गम्य किया न मुसलमानों की पद्धति से और न शास्त्रज्ञ पंडितों की पद्धति से। उनका पंथ समता—समदृष्टि का था जिसकी उस समय अत्यंत अपेक्षा थी। कबीर किसी भी संप्रदाय अथवा लोक-रीति में बंधे नहीं। वे 'लोक-वेद' से अमर थे। सामाजिक समानता उस समय की प्रबल समस्या थी–उसी के लिए कबीर का अवतार हुआ था। कबीर की भाषा का चमत्कार उनकी संवेदना और प्रत्यक्ष अनुभूति में है—जो गुरु भी लोगों को अगम्य–दुर्गम–असंभव था उसे कबीर की वाणी ने संभव बना दिया। इसीलिए उनके विरोधी भी उनके अनुयायी हो गए। कबीर की भाषा-शैली मात्र 'सधुक्कडी' से व्यंजित नहीं हो सकती। वह ऊटपटांग नहीं, वह किसी 'लापरवाह' की भी भाषा नहीं। वह एक दार्शनिक भक्त की आत्मानुभूति है। कबीर न 'देहरा' के भक्त थे और न 'मसीद' के पाबंद। वे नामदेव के पथ के अनुगामी थे :–

हिंदू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।
नामा सोई–सेविया जहँ देहरा न मसीद॥

कबीर के अनुगामी 'दादू' का भी यही समता– पंथ था—

'भाई रे ऐसा पंथ हमारा
दोइ पथ रहित पंथ गहि पूरा अवरन एक अधारा ॥ टेक ॥
वाद विवाद काहू सौं नाहीं माहि जगत थैं न्यारा।
सम दृष्टि सुभाइ सहज मैं, आपही आप बिचारा॥ १ ॥
मैं तो मेरी यहु मत नाहीं, त्रिबेरी त्रिकारा।
पूरण सवै देषि आपा पर निरालंब निरधारा॥ २ ॥'[२]

'पूरन ब्रह्म' के पुजारी ये संत बाह्य भेद को मिटाने में सहायक हुए-मन्दिर–मसजिद की उपासना की अस्वीकृति से ही यह संभव था। उन्होंने अगम्य को गम्य बनाया–मर्यादा से ऊपर उठ कर, कुल की परंपरा तोड़ कर।

भाषा साहित्य संस्थान
१४७, त्रिवेणी रोड हरिहर प्रसाद गुप्त
उत्तम सिनेमा के पास
इलाहाबाद–२११००३.
(उ. प्रदेश)

टिप्पणियाँ

१) यद्यपि लेखक महोदय ने इस प्रकार के सन्दर्भ नहीं दिये हैं तथापि पाठकों की सुविधा के लिये एक–दो उचित सन्दर्भ दिये जा रहे हैं। आशा है पाठक उनसे लाभान्वित होंगे–

(अ) तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनं परमं
साम्यमुपैति। मुण्डक उपनिषद्, ३.१.३

(ब) द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते......निष्कलं,
निष्क्रियं, शान्तं, निरवद्यं, निरञ्जनम्।......
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, १.१.१२ आनन्दमयाधिकरणस्य उपोद्घाते।

—सम्पादक

२) दादू दयाल, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. २०२३, पृ. ३३०, पद ६३.

यूनानी नीतिशास्त्र (२)
सोफिस्ट और सुकरात

पिछले लेख में हमने सुकरात–पूर्व दर्शानिकों के नीति–चिंतन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। पाइथागोरस, हेराक्लाइटस और डेमोक्रिटस – इन तीनों ही दार्शनिकों की नीतिशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिकाएँ हैं क्योंकि ये तीनों उत्तर–सुकरात काल में विकसित हुए तीन नीतिशास्त्रीय सिध्दान्तों के पूर्वगामी कहे जा सकते हैं – ये सिध्दान्त क्रमश: प्लेटोवाद, स्टोइक-वाद और एपीक्यूरसवाद हैं। किन्तु सुकरात–पूर्व दार्शनिकों को नीतिशास्त्रीयों के वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि (१) उनके नीतिकथन अधिक से अधिक किन्हीं उच्च नतिक स्थायी भावों की सहज अभिव्यक्तियां मात्र हैं। वे तर्कसंगत नैतिक पध्दतियां नही हैं। और (२) उनकी मुख्य अभिरुचि तत्त्वमीमांसा में है, न कि नीतिशास्त्र में। उन्होंने मानव–आचरण के संबंध में सुसंगत रूप से विचार नहीं किया है और उनके दर्शन का केन्द्र 'मनुष्य' है भी नहीं।

किसी भी नैतिक पध्दति का सफलतापूर्वक निर्माण करने के लिए मनुष्य मात्र के सामान्य नैतिक मतों के संदर्भ में उनकी अस्पष्टता और असंगतता पर विचार करना आवश्यक है। जब तक हम ऐसा नहीं करते, दार्शनिकों की नैतिक शिक्षाऐं – जन साधारण के नैतिक आचरण की वे फिर कितनी ही चिंता क्यों न करती हों – हमें कोई नैतिक–दर्शन नहीं दे सकती। इसके लिए यह आवश्यक है कि कोई प्रतिभा–संपन्न चिंतक व्यावहारिक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करे। सुकरात में हम प्रथम बार एक दार्शनिक के दर्शन करते हैं जिसकी अभिरुचि न केवल मानव–आचरण की समीक्षा में थी बल्कि जो ज्ञान–पिपासु भी था। अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के भौतिक और तत्त्वमीमांसक सिध्दान्तों ने उसे

पूरी तरह निराश किया था क्योंकि ये सिध्दान्त इतने अतिशयोक्तिपूर्ण और एक दूसरे के विरोधी थे कि सुकरात को ऐसा प्रतीत होता था कि मानों वे 'पागलों की तरह बिवाद कर रहे हों।' [१]

किन्तु अच्छे आचरण के लिये एक विवेकयुक्त सिध्दान्त की मांग मूलत: केवल सुकरात ने ही उठाई हो, ऐसा नहीं था – हालांकि इस संबंध में उसका चिंतन सर्वोच्च कहा जा सकता है। सुकरात की ही तरह अपने समय की सत्ता-मीमांसा पर नकारात्मक दृष्टि अपनाने के साथ जिस एक संप्रदाय ने सुकरात से पहले ही मानव-आचरण का अध्ययन करना आरंभ कर दिया था, वह सोफिस्टों का समूह था। इसीलिए सुकरात से पहले सोफिस्ट दार्शनिकों की विवेचना करना सुकरात के दर्शन को समझने के लिए, साथ ऐतिहासिक निरंतरता की दृष्टि से भी, अत्यन्त आवश्यक है।

सोफिस्ट-युग (लगभग ४५० से ४०० ई. पू.)

सोफिस्ट यूनानी दार्शनिकों का पहला ऐसा समूह था जिसका उद्देश्य काफी हद तक व्यावहारिक था। इससे पहले के सभी दार्शनिक विशुध्द रूप से सैद्धान्तिक रहे हैं, [२] किन्तु सोफिस्टों का ध्येय ऐथिंस के युवकों को कुशल नागरिकों की तरह प्रशिक्षित करना था। नागरिकता के कर्तव्यों में प्रशिक्षित करने के लिए उन्हें यह आवश्यक लगा कि राजनैतिक उत्तरदायित्व और सामान्यत: सामाजिक नैतिकता की समीक्षा करें। यह काम उन्होंने, ऐसा प्रतीत होता है, बहुत गंभीरता से और खुले दिल से किया। इस दार्शनिक अन्वेषण से, स्वाभाविक ही, पुराने नैतिक मापदंड कमजोर पड़ते गए और साथ ही समकालीन रूढ़िवादी शक्तियां काफी संकट में पड़ गईं।

इस संकट की अभिव्यक्ति एरिस्टोफ़नीज [३] के व्यंग्यात्मक नाटकों में बहुत स्पष्ट रूप से हुई। सोफिस्टों के शिक्षण के प्रतिकूल इस तरह एक वातावरण बन गया। प्लेटो भी इससे अछूता नहीं रहा। और इसी कारण सोफिस्टों की काफी बदनामी हो गई। शायद यह बदनामी बहुत न्यायसंगत नहीं थी। सोफिस्ट एक व्यापक अर्थ में अपने समय के बहुत जागरूक चिंतक रहे हैं। उन्होंने अपने नगर के बौद्धिक-जीवन में नव जागृति पैदा की। [४]

यूनानी दर्शन के प्रथम काल की दार्शनिक समस्या यदि विश्व के मूल की व्याख्या और भाव और संभवन के स्वरूप को जानना था तो उसका अगला खंड सोफिस्टों से आरंभ होता है, जिनकी समस्या विश्व में मनुष्य के स्थान को समझना था। पूर्व दार्शनिकों की शिक्षा मुख्यत: विश्वविज्ञान संबंधी थी, जबकि सोफिस्ट अनन्य रूप से मानववादी थे। [५] सोफिस्ट-युग सर्वोपरि विज्ञान के विरुद्ध प्रतिक्रिया का युग है। [६] सुकरात-पूर्व दार्शनिकों ने (सोफिस्टों को

छोड़ कर) जिस प्रकार प्रकृति–मीमांसा की, उससे सोफिस्ट बिल्कुल संतुष्ट नहीं थे, क्योंकि उस विवेचना में मनुष्य और उसकी अस्मिता पूरी तरह नष्ट हो गई थी। सोफिस्टों का विचार–केंद्र इसलिए 'भौतिक जगत्' न होकर 'मनुष्य' हुआ। और उनका समस्त दर्शन इस प्रकार मानव–केन्द्रित हो गया।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सोफिस्टों का कोई व्यक्त उद्देश्य धर्म या नैतिकता को बचाना था। सोफिस्टों के आने तक यूनान के प्रत्येक राज्य में प्रजातंत्र अपनी धाक जमा चुका था। हर जगह जनता और कुलीन वर्ग के संघर्ष में प्रजातंत्र विजयी हुआ था। किन्तु यह ध्यातव्य है कि यूनानी प्रजातंत्र का अर्थ आज के हमारे प्रजातंत्र से बहुत भिन्न था। वह प्रतिनिधानात्मक प्रजातंत्र नहीं था, जिसमें जनता के चुने हुए प्रतिनिधि राजनैतिक निर्णय लेते हों। यूनान के सभी नगर स्वतंत्र "राज्य" थे और वे इतने छोटे थे कि वहां सभी 'नागरिक' एक ही स्थान पर इकट्ठे हो कर जन समस्याओं को निबटा देते थे। फलस्वरूप इस पद्धति ने सभी "नागरिकों" को प्रत्यक्षतः विधायक ही बना दिया था। ऐसी स्थिति में लोगों की पक्षपाती भावनाएँ; लालच, उच्चाकांक्षाएँ, उनके असंयमित अहम् टकराते थे। लोग नागरिकों के रूप में सिर्फ स्वार्थ–सिद्धि में लगे रहते थे और जनता राज्य का हित भूल गई थी।

दूसरी ओर दार्शनिक क्षेत्र में सभी चीजों का 'प्राकृतिक कारण' ढूंढा जाने लगा था। किन्हीं दैवी शक्तियों से प्राकृतिक घटनाओं को व्याख्यायित किया जाना दार्शनिक रूप से पिछड़ेपन की निशानी हो गई थी। सभी दार्शनिक अंदर ही अदर, और अक्सर खुले रूप से भी, जनसाधारण की धार्मिक आस्थाओं के विरोधी थे। विरोध का यह शंखनाद जीनोफेनीज ने किया था। हेराक्लाइटस ने इसको आगे बढ़ाया और अंत में डेमाक्रिटस ने तो यहां तक कह डाला कि आम लोगों में देवताओं से भय खाने का कारण भयंकर प्राकृतिक घटनाएँ ही होती हैं। ऐसे में हर शिक्षित व्यक्ति दैवी शक्तियों और चमत्कारों आदि में अविश्वास करने लगा। तर्कबुद्धिवाद और संदेहवाद की लहरों में सभी यूनानवासी बह गए। पूरा का पूरा युग नकारात्मक, आलोचनात्मक और विध्वंसकारी विचारों से ओतप्रोत हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ प्रजातंत्र ने प्रतिष्ठित अभिजात्य संस्थानों के महत्त्व को बिल्कुल नजर–अंदाज कर दिया, वहीं समकालीन विज्ञान (प्रकृति–दर्शन) ने धार्मिक रूढ़िवादिता पर अपना प्रहार किया। फलस्वरूप इन दो प्रतिष्ठित स्तंभों के धराशायी हो जाने से शेष सब कुछ भी नष्ट हो गया। सभी नैतिकता, रीतिरिवाज, प्रभुत्व और परंपरा आलोचना की वस्तु हो गई और इन्हें अस्वीकृत कर दिया गया। जिन चीजों को अभी तक सम्मान और भय से देखा जाता था वे हास्य और व्यंग्य की वस्तुएं बन गई।

अपने समय की इन सभी वृत्तियों को सोफिस्टों ने केवल सैद्धान्तिक जामा पहनाया। सोफिस्ट अपने युग की संतान थे और अपने समय के व्याख्याकार थे। उन्होंने समयानुसार ही अपने चिंतन को ढाला।

सोफिस्ट सद्गुणों के, मानवी उत्कृष्टता के शिक्षक थे। और ये सभी व्यावसायिक रूप से शिक्षक थे। इनका मौलिक विचार था कि सद्गुणों की व्याख्यानों द्वारा शिक्षा दी जा सकती है। फिर भी सोफिस्टों की शिक्षा किसी दार्शनिक पद्धति पर आधारित नहीं थी। वस्तुतः वह गुणात्मक रूप से इतनी लोक-प्रचलित थी कि उससे हम अधिक दार्शनिक महत्त्व की अपेक्षा भी नहीं कर सकते।

जैसा हम बता ही चुके हैं कि सोफिस्टों का प्रादुर्भाव एक ऐसे सामाजिक परिवेश में हुआ था जिसमें एक सफल सामाजिक जीविका के लिए नगर (राज्य) के सार्वजनिक मंचों पर, अदालतों और सभाओं में सफल होना पूर्वमान्यता थी। ऐसी जन-सभाओं में सफल होने के लिए यह जरूरी था कि लोगों को प्रसन्न किया जाए और उन्हें अपनी बात का यकीन दिलाया जाए। लेकिन जो बात एक 'नगर' में लोगों को प्रसन्न करती थी, दूसरी जगह वह असफल हो सकती थी। इस समस्या से जूझने के लिए सभी सोफिस्टों के-प्रोटागोरस और गोर्जियस जैसे शिक्षकों और उनके शिष्यों के-अपने अपने सिद्धान्त थे। फिर भी इन सिद्धान्तों का समान आशय कुछ इस प्रकार था।

मनुष्य का सद्गुण मनुष्य की तरह उसके काम करने में है। एक यूनानी 'नगर-राज्य' में मनुष्य की तरह ठीक से काम किया जा सके इसके लिए जरूरी था कि मनुष्य एक सफल 'नागरिक' हो और एक सफल नागरिक होने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायालयों और सभाओं में वह अपना प्रभाव जमा सके। इसके लिए जरूरी यह है कि नगर के न्याय और औचित्य संबंधी मान्य रीतिरिवाजों का वह अनुसरण करे। न्याय और औचित्य संबंधी हर राज्य के अपने-अपने रीति-रिवाज थे। अतः जरूरत इस बात की थी कि इन प्रचलित रीतियों का अध्ययन किया जाए और उनसे समायोजन करना सीखा जाए। तभी अपने श्रोताओं को सफलतापूर्वक प्रभावित किया जा सकता था। यही कौशल और शिल्प सद्गुणों के रूप में सोफिस्टों ने सिखाना चाहा।

उनकी शिक्षा की यह पूर्व-मान्यता थी कि सफलता के अतिरिक्त सद्गुणों का अपने आप में कोई मापदंड नहीं होता। इसी तरह न्याय का भी, प्रत्येक नगर में प्रमुख रूप से प्रचलित उसकी अपनी रीति के अतिरिक्त, अन्य कोई मापदंड नहीं होता। इस तरह हम कह सकते हैं कि न्याय के संबंध में हर राज्य का अपना अपना मापदंड है। एक राज्य में जो भी न्यायपूर्ण और प्रशंसनीय

समझा जाता है, वही न्यायपूर्ण और प्रशंसनीय है, जब तक कि उसे ऐसा समझा जाता है।[९]

सोफिस्ट दर्शन का यही नैतिक सापेक्षवाद है। इसका यह अर्थ नहीं है कि विभिन्न राज्यों के न्याय के मापदंड एक दूसरे से अनिवार्यतः भिन्न होने ही चाहिए। बल्कि प्रोटागोरस नामक संवाद में प्लेटो प्रोटागोरस के मुंह से यह तक कहलाता है कि 'नगर' के सामाजिक जीवन की निरंतरता के लिए कुछ गुण तो अनिवार्य होते हैं। इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। यह मत नैतिक सापेक्षवाद के विरुद्ध नहीं जाता कि नगर के रीतिरिवाजों से स्वतंत्र न्याय और अन्याय के कोई आत्मनिर्भर मापदंड नहीं होते।[१०]

सोफिस्टों ने इस प्रकार जो भी विभिन्न राज्यों में न्यायपूर्ण माना गया; उसी की शिक्षा दी। यहां आप यह प्रश्न नहीं पूछ सकते कि न्याय क्या है? आप सिर्फ यह पूछ सकते हैं कि एथिंस में न्याय किसे कहते हैं, कोरिंथ में न्याय क्या है। इसका परिणाम दूरगामी पड़ा। क्योंकि इस दृष्टिकोण ने समय से चले आ रहे 'रीति' (कन्वेन्शन) और 'प्रकृति' के दार्शनिक अंतर विवाद को पुष्ट किया।

यदि किसी व्यक्ति को केवल विभिन्न राज्यों के न्याय संबंधी मापदंडों को बता दिया जाए तो स्पष्ट ही उसके समक्ष न्याय का कोई (एक) मापदंड प्रस्तुत नहीं किया गया है। वह ऐसी दशा में यह नहीं समझ सकता कि वह क्या करे; कैसे और कहां अपना जीवन-यापन करे। उसे ऐसी स्थिति में विभिन्न राज्यों के विभिन्न मापदंडों में से किसी एक को चुनना होगा। लेकिन यह चुनाव किस मापदंड के हिसाब से किया जाए?

यह प्रश्न सोफिस्टों के नैतिक-सापेक्षवाद के बाहर है। उनके लिए यह प्रश्न 'नैतिक' रहेगा ही नहीं, यह एक निर्नैतिक प्रश्न बन जायगा और यही वह बिंदु है जहां 'रीति' और 'प्रकृति' के अंतर को सोफिस्ट-दर्शन में पुनर्बल मिला है।

एक मनुष्य, जो एक खास राज्य में रहता है, और उसके निर्धारित मापदंडों के अनुरूप आचरण को अपनाता है वह रीति-सम्मत व्यक्ति है तथा वह मनुष्य जो अपने निजी और व्यक्तिगत उद्देश्यों के अनुरूप हर राज्य में रह सकता है, या, किसी राज्य में नहीं रह सकता, प्रकृति-सम्मत व्यक्ति है। अतः नैतिक दृष्टिकोण से रीति और प्रकृति का आशय यह हुआ कि नैतिकता नीति में है और प्रकृति निर्नैतिक है।

प्राकृतिक मनुष्य नगर की रीति से बंधा नहीं होता। वह स्वार्थी और आक्रमणशील होता है। उसका मनोविज्ञान सहज है। वह जिसकी इच्छा करता

है उसे प्राप्त करना चाहता है। शक्ति और सुख-प्राप्ति उसके ऐकांतिक प्रयोजन होते हैं। लेकिन इन्हें प्राप्त करने के लिए उसे प्रचलित रीति और नैतिकता का चोगा पहनना पड़ता है। उसे स्वयं को रीति-सम्मत बताना पड़ता है।

हर रीति-सम्मत व्यक्ति में इस प्रकार एक प्रकृति-सम्मत (मन) भी छिपा हुआ है। अतः ऐसे व्यक्ति का सद्गुण यही है कि वह लोगों को प्रमाणित करने और अपने हक में उन्हें मोड़ने के लिए वाग्मिता का कौशल प्राप्त करे। यही कौशल सिखाने का काम सोफिस्टों ने व्यावसायिक रूप से अपनाया था और इसी अर्थ में वे सद्गुणों के व्यापारी थे।[११]

सोफिस्ट समुदाय द्वारा स्वीकृत नैतिक-सापेक्षवाद (या कहें, सांस्कृतिक सापेक्षवाद) और रीति-प्रकृति द्वैत, दोनों ही सिद्धान्तों की अपनी सीमाएं हैं; यद्यपि दोनों के ही ऐतिहासिक महत्त्व से मना नहीं किया जा सकता। नैतिक सापेक्षवाद को यदि हम उसके तार्किक निष्कर्ष तक पहुंचाएं तो सहज ही हम नैतिक संदेहवाद की स्थिति पर पहुंच जाएंगे। विभिन्न राज्यों की रीति नीति की विविधता और भिन्नता नैतिक आचरण के लिए किसी एक निरपेक्ष वस्तुः निष्ठ मापदंड के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ती और हमें नैतिक-संदेह करने के लिए विवश करती है, क्योंकि स्पष्ट ही एक-दूसरे को काटती हुई सभी रीति-नीतियों को तो नैतिक माना नहीं जा सकता।

इसी प्रकार सोफिस्ट दार्शनिकों द्वारा खड़ा किया गया रीति-प्रकृति का द्वैत भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, जिसमें रीति को नैतिकता और प्रकृति को निर्नैतिक या आदि-नैतिक (non-moral or pre-moral) तत्त्वों से अभिन्न मान लिया गया है। यहां सोफिस्ट दार्शनिक यह देख पाने में पूर्णतः असफल रहे कि वह व्यक्ति जो एक विशेष सामाजिक व्यवस्था (नगर-राज्य) से बाहर है, वह अनिवार्यतः सामाजिक जीवन से बाहर नहीं होता। वह पूरी तरह "प्राकृतिक" नहीं है। वस्तुतः तथाकथित 'प्राकृतिक' मनुष्य को 'स्वार्थी' या 'आक्रमणकारी' आदि कहना भी तभी संभव हो पाता है जब हम उसे किसी एक विशेष नैतिक-मापदंड से देख रहे हों। तथाकथित पूर्णतः प्राकृतिक (या प्रकृति-सम्मत) मनुष्य की कल्पना मात्र कोरी कल्पना ही है।[१२]

सोफिस्ट संप्रदाय में दो नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं-प्रोटागोरस और गोर्जियस। अब्डेरा के निवासी प्रोटागोरस सोफिस्ट-दर्शन के मानात्मक और रचनात्मक पक्ष का तथा लियोण्टिनी के गोर्जियस उसके निषेधात्मक और समीक्षात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। गोर्जियस की अभिरुचि नीतिशास्त्र में नहीं थी। उन्होंने सद्गुणों की शिक्षा देने का कभी भी दावा नहीं किया। बल्कि जो सोफिस्ट सद्गुण के शिक्षक होने का दावा करते थे उनकी वे हंसी उड़ाते थे।

किन्तु प्रोटागोरस के सिद्धान्तों का नीतिशास्त्र से गहरा संबंध है। अतः अब हम प्रोटागोरस के मानव–केन्द्रित दर्शन की विवेचना करेंगे।

प्रोटागोरस (लगभग ४२९ ई. पू.–४६०) सोफिस्ट संप्रदाय के सर्वाधिक प्रसिध्द और प्रारंभिक चिंतकों में से एक थे। वे शायद पहले शिक्षक थे, जिन्होंने अपने को स्पष्ट रूप से एक पेशेवर सोफिस्ट घोषित किया। यूनान में वे नगर नगर घूमे और राजनीति की कला में युवकों को " शिक्षित " किया। उनके धार्मिक विचार इतने क्रांतिकारी थे कि उन पर अपवित्रता का आरोप लगाया गया और इस आधार पर उन्हें एथिंस से निष्कासित कर दिया गया। इतना ही नहीं, जीवन के अंतिम दिनों में उनकी एक पुस्तक को सार्वजनिक रूप से आग लगा दी गई। आज प्रोटागोरस की कोई कृति हमारे पास उपलब्ध नहीं है और इसलिए उनके विचारों को जानने के लिए हमें लगभग पूरी तरह से प्लेटो और अरस्तू के कथनों पर निर्भर करना पड़ता है।

प्रोटागोरस का विख्यात कथन–" मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदंड है।" नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

प्रोटाग्रोरस से पहले दार्शनिक जगत् में इन्द्रियजन्य ज्ञान और बुध्दि में भेद किया गया था और कहा गया था कि वास्तव में बुध्दि ही ज्ञान द सकती है। एक समद्विबाहु त्रिभुज को लें। कहा जाता हैं इसके दो कोण बराबर हैं। हम जरा हट कर एक नये कोण से इसे देखें। हमें वे दोनों कोण बराबर नहीं दिखेंगे। हमारी स्थिति हमारे बोध को बदल देती है, किन्तु बुध्दि हमें बताती है कि ऐसे त्रिभुज में दो कोणों का होना अनिवार्य है। जो कुछ सत्य है, वह सबके लिए सत्य है, और उसे जानना बुध्दि का काम है।

प्रोटागोरस ने इस दावे को अस्वीकार किया। उन्होंने इन्द्रियजन्य ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के ज्ञान को नहीं माना। हम सत्य और असत्य की बाबत व्यर्थ में झगड़ते हैं, यहां मतभेद का अवकाश ही नहीं। जो कुछ मुझे प्रतीत होता है, वह मेरे लिए सत्य है, जो मेरे साथी को प्रतीत होता है, वह उसके लिए सत्य है। मिथ्या ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं।

इसी तरह जीवन व्यवहार में हम भले–बुरे का भेद करते हैं। हम समझते हैं जो काम आदर्श के अनुकूल है, वह अच्छा है, जो काम आदर्श के प्रतिकूल है, वह बुरा है, और आदर्श सबके लिए एक ही है। प्रोटागोरस कहते हैं कि आदर्श हमारे बाहर नहीं, हमारे अन्दर है। जो कुछ मुझे शुभ लगता है, मेरे लिए शुभ है, जो मेरे साथी को शुभ लगता है, वह उसके लिए शुभ है। ऐसे शुभ की खोज करना जो सबके लिए शुभ है, समय खाना है। ऐसे शुभ का कोई अस्तित्व नहीं। इस तरह तत्त्वज्ञान और नीति में प्रोटागोरस ने व्यक्तिवाद को

मौलिक प्रत्यय बनाया। सर्वव्यापी सत्य और सर्वव्यापी–शुभ का कोई अस्तित्व नहीं है। [१४]

स्पष्ट ही प्रोटागोरस के सूत्र–मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदंड है–में 'मनुष्य' का अर्थ मनुष्य मात्र से न होकर व्यक्ति से है। यह बात प्लेटो के **थीटिटस** में सुस्पष्ट कर दी गयी है। इस कथन को जब हम आचरण के संदर्भ में प्रयुक्त करते हैं तो इसका अर्थ होता है कि शुभ वह है जो शुभ प्रतीत होता है, अर्थात् शुभ पूरी तरह से आत्मनिष्ठ है। स्पष्ट है कि यह सिध्दान्त नैतिकता के वस्तुनिष्ठ तत्त्व की अवहेलना करता है। यदि शुभ का अस्तित्व केवल उसका अनुभव कर रहे व्यक्ति में ही है तो वस्तु–निष्ठ सामाजिक शुभ हो ही नहीं सकता। लेकिन यह सूत्र एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करता है–कि व्यावहारिक दर्शन द्वारा तलाश किया जाने वाला शुभ व्यक्तिगत होता है–कि उसे किसी एक या एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा अनुभव किया जाना अन्ततः जरूरी है, अन्यथा वह अपनी अर्थवत्ता खो बैठेगा। यहां स्पष्ट ही शुभ का अनुभव मनुष्य का सामूहिक अनुभव हो सकता है, न कि किसी एक अकेले व्यक्ति का। इस प्रकार यह सिद्धान्त हमारी यह सामान्य मान्यता कि सामाजिक शुभ किसी एक व्यक्ति के शुभ से उच्चतर होता है, इसके विपरीत भी नहीं जाता। शुभ व्यक्तिगत बने रहते हुए भी वस्तुनिष्ठ हो सकता है। बेशक यह सिद्धान्त नीतिशास्त्र में आत्मनिष्ठता के नियम को अभिव्यक्ति देता है, किंतु प्रोटागोरस शायद यह भी रेखांकित करने की कोशिश करते हैं कि न केवल प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए शुभ के संबंध में स्वतंत्र निर्णय करने का अधिकार है, बल्कि विभिन्न राज्यों और समुदायों के भी–और कदाचित् इतिहास के बिभिन्न कालों के भी,–बिभिन्न नैतिक नियम हो सकते हैं जो सर्वव्यापक रूप से बाध्य नहीं हों। प्रत्येक सामाजिक समूह को यह अधिकार है कि वह एक ऐसी नैतिक नियमावली का निर्माण करे जो उसके हित में सर्वोत्तम हो। इस दृष्टिकोण से प्रोटागोरस का सिध्दान्त नीतिशास्त्र में सापेक्षता के नियम की अभिव्यक्ति है। इसका आशय है कि सामाजिक नैतिकता में भिन्नता और परिवर्तन संभव है–स्पष्ट ही, मनमाना नहीं, वल्कि सामाजिक अवस्थाओं और व्यक्तिनिष्ठ परिस्थितियों से निर्धारित परिवर्तन।

प्लेटो में हम आदर्श गणराज्य के लिए जो आग्रह पाते हैं वह अंशतः इसी सिध्दान्त को खंडित करने के आशय से है। प्लेटो के अनुसार राजनैतिक व्यवस्था की केवल एक ही आदर्श पद्धति है और शेष सभी पध्दतियां उसी के मापदंड से नापी जानी चाहिए। किन्तु यहां यह ध्यातव्य है कि जब हम आचरण संबंधी कुछ विशेष प्रकरणों पर प्रोटागोरस के सिद्धान्त को प्रयुक्त करते हैं तो सापेक्षता का नियम खरा उतरता है। इसका अर्थ यही होता है यदि एकाधिक

प्रकरण महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर वास्तव में भिन्न हैं, तो उन पर अलग तरह से ही विचार करना चाहिए। एक आदर्श गणराज्य में भी यह सिद्धान्त पूरी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। किंतु इसका दुरुपयोग भी संभव है। बाद के सोफिस्ट दार्शनिकों ने यही किया। उन्होंने प्रोटागोरस के सूत्र को एक अराजक सिध्दान्त में बदल दिया। व्यक्ति दूसरे के हित की परवाह किए बिना, चाहे जो कुछ – जो भी उसे पसंद आए – करे। शुभ और अशुभ में कोई वस्तुनिष्ठ अन्तर है ही नहीं।

प्रोटागोरस का दर्शन यह दिखा पाने में कि शुभ किस प्रकार एक साथ ही व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ, दोनों ही हो सकता है – समर्थ नहीं था। इसीलिए गोर्जियस ने आत्मनिष्ठता के नियम को एक नकारात्मक अर्थ में ग्रहण किया, कि सत्य और शुभ पूर्णतः आत्मनिष्ठ हैं। इसकी परिणति निरपेक्ष संदेहवाद में हुई। सही अर्थों में ज्ञान हो ही नहीं सकता। वह केवल किसी एक व्यक्ति के मन की विशेष भावना मात्र है। इसी प्रकार शुभ। वह भी किसी एक व्यक्ति की संतुष्टि या उसके अनुमोदन की क्षणिक भावना है। परिणामतः सामाजिक शुभ की वस्तुनिष्ठ धारणा व्यावहारिक दृष्टिकोण से भ्रमात्मक हो गई, क्योंकि किसी दूसरे का शुभ मेरे कार्य का उद्देश्य नहीं हो सकता। अतः यह बिल्कुल आश्चर्य-जनक नहीं है कि गोर्जियस के बाद का पूरा सोफिस्ट समुदाय शुद्धतः स्वार्थवादी, अथवा कहें, 'स्वहितवादी' हो गया।[१५]

नीतिशास्त्र के इतिहास में सोफिस्ट आंदोलन कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। बेशक, प्लेटो और अरस्तू ने सोफिस्ट विचारकों की कड़ी आलोचना की, और यह आलोचना इतनी प्रभावशाली थी कि बाद में वर्षों तक सोफिस्ट दर्शन का सम्यक् मूल्यांकन भी न हो सका। फिर हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उनकी वैचारिक क्रान्ति के कारण ही सुकरात की नैतिक शिक्षा हमारे सामने आयी और प्लेटो और अरस्तू के प्रौढ़ दर्शनों की सृष्टि हुई। सोफिस्टों के बिना हम सुकरात की कल्पना ही नहीं कर सकते। वस्तुतः कई विचारकों ने सुकरात को भी सोफिस्ट परम्परा से अलग माना हीं नहीं है। सद्गुण की शिक्षा के लिए वे (सुकरात) केवल कोई शुल्क नहीं वसूलते थे। सुकरात भी सोफिस्ट दार्शनिकों की भांति ही सद्गुणों के शिक्षक ही हैं। पुनः सोफिस्ट प्रथम ऐसे चिंतक थे जिन्होंने परम्परागत ज्ञान और नैतिकता के सिद्धान्तों की समीक्षा करने की राह दिखाई, परम्परा की मनमानी शक्तियों को चुनौती दी और इस तरह सच्चे अर्थ में नीति-दर्शन के विकास की भूमिका का निर्वाह किया। सोफिस्ट संप्रदाय ने पहली बार नीतिशास्त्र को सर्वोच्च मानव शुभ की विधिवत् तलाश के रूप में, अन्य शास्त्रों से अलग एक स्वतंत्र पहचान दी। इस काम को बाद में अरस्तू ने

पूरा किया। माना कि सोफिस्ट दर्शन अपने अंतिम समय में इस कदर आत्म-निष्ठ हो गया कि नैतिक-संदेहवाद और अहंमात्रवाद में इसकी परिणति हुई, किन्तु यह भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि सोफिस्ट नीतिदर्शन का व्यक्तिवाद एक महत्त्वपूर्ण सत्य की ओर संकेत करता है – और जिसे वाद की कोई भी नैतिक पध्दति अस्वीकार नहीं कर सकी। यह, वह सत्य है जिसके अनुसार समाज जिन व्यक्तियों से बना है उनके शुभ से स्वतन्त्र समाज का कोई अमूर्त शुभ नहीं हो सकता। और अन्त में हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक मानववाद पूरी तरह से प्रोटागोरस के सूत्र की विवेचना पर आधारित है। इतना ही नहीं, प्रोटागोरस का नैतिक क्षेत्र में सांस्कृतिक सापेक्षवाद भी हमारे समय की उस नीतिशास्त्रीय धारा का पूर्वानुमान है जो समाजशास्त्रियों ने विभिन्न संस्कृतियों के अध्ययन द्वारा प्रस्तुत की है और जो बडी महत्त्वपूर्ण मानी गई है।

सुकरात का नीति–शास्त्र

सुकरात (लगभग ४७० – ३९९ ई. पू.) यूनान का वह प्रथम दर्शनिक था जिसने न केवल अच्छे आचरण के लिए एक युक्तिसंगत सिध्दान्त की कमी महसूस की बल्कि ऐसा एक सिध्दान्त प्रस्तुत भी किया। सोफिस्ट दार्शनिकों ने जहां दार्शनिक चिंतन को मानवोन्मुख किया, सुकरात ने इसी मानव आचरण की तर्कसंगत विवेचना करके नैतिक सिद्धान्तों के लिए भूमि तैयार की।

सुकरात प्रमुख रूप से एक नैतिक चिंतक ही थे। किन्तु उन्होंने नीतिशास्त्र पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा। वस्तुतः उनकी सारी शिक्षाएँ मौखिक रहीं जो उन्होंने अपने संवादियों से वार्तालाप करते हुए प्रस्तुत कीं। उनकी नैतिक और अन्य शिक्षाएँ इसलिए हमें उसके शिष्यों, मित्रों और आलोचकों की कृतियों में मिलती हैं। प्लेटो, जो उसका सर्वाधिक प्रिय शिष्य था, ने अपने सभी संवादों में सुकरात को अपना प्रवक्ता बनाया है और उनमें यह तय कर पाना बड़ा मुश्किल है कि प्लेटो कब अपना मत और कब सुकरात का मत प्रस्तुत कर रहे हैं। वैसे प्रायः यह मान लिया गया है कि प्लेटो के आरंभिक संवादों में सुकरात के मुंह से उसके ही विचार व्यक्त किए गये हैं, जबकि बाद के संवादों में यह चरित्र प्लेटो का विचार, जो सुकरात के ही विचार का विकसित रूप है, प्रस्तुत करता है। प्लेटो के संवादों के अलावा सुकरात जीनोफन की कृतियों में भी प्रस्तुत किया गया है – विशेषकर इस संबंध में उसकी मेमोरेबिलिया महत्त्वपूर्ण है जिसमें, कहा जाता है, उसे जीनोफन ने पांचवी शताब्दी के डॉ. जानसन्[१६] की तरह चित्रित किया है। एरिस्टोफेनीज ने अपनी कृति द क्लाउड्स में उन्हें एक व्यंग्यात्मक (किसी कदर हास्यास्पद) रूप में एक सोफिस्ट की शक्ल में पेश

किया है । इन सबसे अलग सुकरात की प्रस्तुति अरस्तू के मेटाफिजिक्स में भी हुई। यह प्रस्तुति अलग इसलिए है कि यह एक अधिक वस्तुनिष्ठ प्रस्तुति है। प्लेटो, जीनोफन और एरिस्टोफेनीज – सुकरात से किसी न किसी रूप में भावात्मक रूप से जुडे थे और इसलिए ये लोग उन्हें निस्संग रूप से प्रस्तुत नहीं कर सके।

सोफिस्ट दार्शनिकों से सुकरात की एक ऐतिहासिक और वैचारिक निरंतरता है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। बेशक, सुकरात एक सोफिस्ट नहीं थे। एक पेशेवर शिक्षक नहीं थे। उन्होंने कभी किसी से ज्ञान के लिए पैसा नहीं लिया। फिर भी, सोफिस्ट और सुकरात दोनों ही यह मानते थे कि सद्गुणों में शिक्षित किया जा सकता है। लेकिन यह एक विरोधाभास है कि सुकरात के अनुसार सद्गुणों को सिखाने वाले शिक्षक होते ही नहीं। इन विरोधी कथनों का समाधान यह है कि सुकरात के अनुसार ज्ञान वस्तुत: हम सबमें पहले से ही विद्यमान है। उसे केवल उजागर कर किया जाना चाहिये। अत: ज्ञान को प्रकट करने के लिए किसी शिक्षक की आवश्यकता नहीं है जो ज्ञान 'दे' सके, बल्कि एक दार्शनिक दाय की जरूरत है जो निहित ज्ञान को 'प्रकट' करवा सके। सुकरात ने जीवन भर बस ऐसी ही एक दार्शनिक दाई की भूमिका निभाई।[१७] हो सकता है यह कथन थोड़ा अतिशयोक्तिपूर्ण हो, लेकिन इतना तो मानना ही होगा कि सुकरात सोफिस्टों की तरह नैतिकता के व्यापारी नहीं थे और न ही शिक्षक होने का उन्होंने कभी दावा किया। वे तो जीवन भर नैतिक शास्त्र के एक विद्यार्थी बने रहे और इसी में उनकी महानता थी।

कहते हैं, जब डेल्फाई के मंदिर में देववाणी ने यह स्पष्ट संकेत दिया कि एथिंस का सर्वश्रेष्ठ प्रज्ञामवान् व्यक्ति सुकरात हैं तो स्वयं सुकरात को यह बड़ा अटपटा लगा। इस पर उनकी प्रतिक्रिया थी कि वे केवल इस अर्थ में ज्ञानवान् हो सकते हैं कि उन्हें अपने अज्ञान का ज्ञान है। शेष तथाकथित ज्ञानवानों को तो यह भी पता नहीं है कि वे वास्तव में अज्ञानी हैं। सुकरात की यह प्रतिक्रिया उनकी विमम्रता की ओर ही संकेत नहीं करती, वरन् ज्ञान के प्रति उनकी ललक को भी प्रदर्शित करती है। उनका यह मानना था कि ज्ञान के उद्घाटन के लिए आरंभिक बिन्दु सर्वप्रथम अपने अज्ञान के प्रति सचेत होना है।

नैतिक वार्ताओं में सुकरात का सबसे बड़ा योगदान यही था कि उन्होंने लोगों को उनकी असंगत नैतिक विवेचना और अज्ञान के प्रति जागरूक किया। उन्होंने सोफिस्ट दार्शनिकों पर यह दोष लगाया कि वे न्याय, संयमन और नियमों के बारे में बात तो करत हैं लेकिन वे खुद ही नहीं जानते कि ये चीजें हैं क्या। जब उनसे इन की व्याख्या कराई जाती है तो उन्हें अंतत: यह मानना

पड़ता है कि ये विवेचनाएँ न्याय और नियमों के उनके ही द्वारा दिए गए उदाहरणों से मेल नहीं खाती। सुकरात ने अपने समकालीनों में इसी अज्ञान को खोज निकाला।

लेकिन अज्ञान को उद्घाटित करने का नकारात्मक कार्य ही सुकरात का इष्ट नहीं था। सुकरात की शिक्षा में 'ज्ञान' संबंधी भावात्मक तत्त्व है ही नहीं यह सोचना गलत होगा। सर्वप्रथम तो इस संदर्भ में हमारा ध्यान उनके विख्यात 'द्वन्द्व न्याय' (डाइलेक्टिक) की ओर जाता है। इसी के द्वारा उन्होंने अपने संवादियों के 'अज्ञान' का उद्घाटन किया और ऐसा करके साथ ही सामान्य अवधारणाओं (जैसे न्याय, शुभ, साहस आदि) की सुनिश्चित परिभाषाओं की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने बताया कि इन परिभाषाओं को हम संबंधित उदाहरणों की सावधानी पूर्वक तुलना करके प्राप्त कर सकते हैं। अरस्तू, सुकरात को दर्शनशास्त्र में आगमन और परिभाषाओं के प्रवेश के लिए श्रेय देता है, और यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अरस्तू का मत है कि सुकरात ने प्रत्ययों या परिभाषाओं को अलग से नहीं देखा, जैसा कि प्लेटो के दर्शन में हुआ है। अरस्तू की शब्दावली में उन्होंने 'सर्वव्यापी परिभाषाओं' और 'आगमनमूलक तर्कों' पर एक साथ विचार किया। सुकरात का उद्देश्य चरित्र की उत्कृष्टताओं को समझना था और इस संबंध में उन्होंने पहली बार सर्वव्यापी परिभाषाओं की समस्या को उठाया। सुकरात यदि परिभाषाओं की तलाश में पूर्णतः ग्रस्त रहे तो उसका कारण यह नहीं था कि वे परिभाषाओं से उदाहरणों को निर्गमित करना चाहते थे, बल्कि उन्होंने उदाहरणों को इकट्ठा कर के, उनकी तुलना कर के, परिभाषाओं को प्राप्त करना चाहा था।[१९]

कहना चाहिए कि सुकरात अपने द्वन्द्व–न्याय से सामान्य परिभाषाओं को प्राप्त करना चाहते थे–ऐसा केवल आभास होता है। निश्चित रूप से ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि हम यह स्पष्ट देख पाते हैं कि सुकरात ने किसी भी अवधारणा को निश्चित रूप से परिभाषित करने में पूरी दिलचस्पी कभी नहीं ली। सुकरात बार बार (जैसा कि प्लेटो के आरंभिक संवादों से स्पष्ट है) न्याय क्या है ? धर्मनिष्ठा क्या है ? साहस क्या है आदि, जैसे सवाल अपने संवादियों से पूछते हैं और अंततः उनके 'अज्ञान' को उजागर करते हैं; किन्तु उन्हें यह कभी नहीं बताते कि इन प्रश्नों का सही उत्तर है क्या। वस्तुतः कभी कभी तो सुकरात अपने संवादियों को झुंझलाहट और क्रोध की स्थिति में ला देते हैं। स्पष्ट ही यह कोई नैतिक शिक्षा देने का तरीका नहीं है। इसका अर्थ केवल यही है कि लोग नैतिक समस्याओं पर दार्शनिक चिंतन के लिए बाध्य हो सकें। अतः

सुकरात की दार्शनिक विधि के संबंध में यह शिकायत करना कि वह केवल उदाहरणों और स्थितियों को केन्द्रित करती है, निरर्थक है। उनकी दार्शनिक विधि का मुख्य मुद्दा ही यह है।[२०]

फिर भी, सिद्धान्तों के रूप में ग्रहण किए जा सकने वाले सुकरात के तीन कथन नीतिशास्त्र के क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये हैं- (१) सद्‌गुण ज्ञान है। (२) सद्‌गुण एक है और (३) जानबूझ कर कोई भूल नहीं करता। अब हम इनकी विवेचना करेंगे।

(१) 'सद्‌गुण ज्ञान है।' (वर्चू इज नॉलेज) : जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में बताया जा चुका है सुकरात का कार्य अपने श्रोताओं को दार्शनिक चिंतन के लिए उकसाना था या फिर एक दार्शनिक धाय की तरह उनके विचार-शिशुओं को प्रकट करवाना था। वस्तुतः इसी प्रक्रिया में सुकरात के नैतिक सूत्र 'सद्‌गुण ज्ञान है' को जन्म मिला। सुकरात का कहना था कि किसी भी व्यक्ति की सफल जीवनचर्या के आधार अस्पष्ट, विसंगतिपूर्ण और अस्थिर मत नहीं हो सकते, लेकिन दुर्भाग्य से केवल जन-सामान्य के ही नहीं बल्कि प्रतिष्ठित लोगों के भी नैतिक मतों में यही अस्पष्टता दिखाई देती है। नैतिक जीवन की सामान्य रूप से स्वीकृत विवेचनाएं बडी असंतोषप्रद हैं और उन्हें एक अधिक वैज्ञानिक व्याख्या की जरूरत है। केवल नैतिक जिज्ञासा को शांत करने के लिए ही नहीं, बल्कि स्वयं व्यावहारिक नैतिकता के लिए भी यह आवश्यक है। सुकरात ने इसीलिए सद्‌गुण को ज्ञान (अर्थात् विज्ञान) कहा। इसका आशय मुख्य रूप से यही प्रदर्शित करना है कि सद्‌गुण और मानव-कल्याण अपरिवर्तनीय नियमों पर आधारित हैं, न कि व्यक्तियों के स्वेच्छापूर्ण और पल-पल बदलते रहने वाले चुनावों पर।

सुकरात, इस प्रकार, प्रमुख रूप से, अपने इस सूत्र द्वारा कि सद्‌गुण ज्ञान है, गोर्जियस के नैतिक संदेहवाद के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया दर्ज करता है, वहीं दूसरी ओर नीतिशास्त्र के सर्जनात्मक विकास की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम भी है।

यहां एक बात और भी ध्यान में रखने की है। वह यह की सद्‌गुण और ज्ञान का समीकरण सुकरात पूरी तरह से एक मौलिक विचार भी नहीं है। यह सामान्यतः यूनानी नैतिक मान्यताओं से सहज रूप में विकसित हुआ है। यूनानी भाषा का शब्द, जिसे हम प्रायः 'शुभ' या 'श्रेय' कहते हैं, यूनानी दर्शन का प्रमुख नैतिक संप्रत्यय है और इस संप्रत्यय में वह जो हम चाहते हैं, जिसकी इच्छा करते हैं, जो हमारा प्राप्य या इष्ट है, ध्वनित होता है। बेशक बहुत सी चीजें ऐसी हैं जिनकी अनेक लोग अनेक देशों और कालों में इच्छा करते रहे हैं और वे श्रेय या शुभ नहीं कही जा सकती, लेकिन यह कहना भी उतना ही

असंगत प्रतीत होता है कि हम किसी विषय को श्रेय या शुभ तो कहें किन्तु उसे एषणीय न मानें, अपनी चाहत और इच्छा का विषय न समझें। अतः यदि हम इस मान्यता को स्वीकार करते हैं कि शुभ अथवा श्रेय में किसी अर्थ में वह विषय जिसकी हम इच्छा करते है, निहित है तो सहज ही हमें यह भी स्वीकार करना पडेगा कि शुभ, जो हमारा इच्छित विषय है, उसके बारे में ज्ञान हो कि वह है क्या ? अर्थात् इस सीमित अर्थ में श्रेय स्वयं ज्ञान हो जाता है।

यही बात सद्गुण के लिए भी लागू होती है। यूनानी भाषा में जिसे हम 'सदगुण' कहते हैं उसके लिए कदाचित् 'शुभ' एक बेहतर शब्द है। सद्गुण का यूनानी भाषा में अर्थविस्तार नकारात्मक (सद्गुणी वह है जो बुराइयों से बचता है) न हो कर सकारात्मक है। सद्गुण एक भावात्मक योग्यता या क्षमता है किसी काम को कर पाने की। यही कारण है कि सुकरात बडी सहजता से यह कह पाते हैं कि न्याय सदाचारित या एक कला है, अन्य कला-कौशलों की तरह सीखने योग्य एक कौशल है। स्पष्ट ही नैतिक शुभ को इस प्रकार एक कला और कौशल के रूप में स्वीकार करना उसे सहज ही ज्ञान और शिक्षा का विषय बना देना है। सुकरात का सूत्र, सद्गुण ज्ञान है, का भी यही अर्थ है।[२१]

किन्तु स्पष्ट ही इसका अर्थ यह नहीं है कि हर कौशल शुभ या सद्गुण है। वास्तव में किसी भी कौशल का सदुपयोग या दुरुपयोग दोनों ही किया जा सकता है। लेकिन सद्गुण का शुभ ऐसा नहीं होता कि उसका दुरुपयोग किया जा सके। शुभ सम्यक् अर्थों में ज्ञान है, न कि एक बाह्य निपुणता, जिसका मन माना उपयोग किया जा सके।[२२] सारांश यह है कि हमें कौशल के रूप में शुभ और 'शुभ' में भेद करना चाहिए। किसी व्यक्ति के लिए शुभ क्या है और शुभ अपने आप में क्या है, ये दोनों अलग अलग बातें हैं। सोफिस्ट दार्शनिकों कि गलती यह थी कि उन्होंने केवल व्यक्ति के शुभ को ही शुभ समझा। पुनः हमें इसमें भी भेद करना होगा कि व्यक्ति क्या चाहता है और उसका वास्तविक शुभ क्या है। व्यक्ति जो चाहता है वह अनिवार्यतः उसका शुभ नहीं होता। लाइसिस में सुकरात इस बात की ओर संकेत करता है कि किसी बच्चे को जो वह चाहता है, दिया जाना, उसे उसके वास्तविक शुभ प्रदान करने से भिन्न है।[२३] संक्षेप में, शुभ या सद्गुण बेशक कौशल है और कौशल के रूप में वह ज्ञान का विषय है, लेकिन हर कौशल सद्गुण नहीं है तथा हमें, यदि हम भारतीय दर्शन की शब्दावली का प्रयोग करें तो श्रेय और प्रेय में भी भेद करना होगा। प्रेय-जिसकी इच्छा की जाती है-आवश्यक रूप से श्रेय नहीं होता। श्रेय का ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। प्रेय इन्द्रियानुभूति पर आधारित है। श्रेय के लिए वास्तविक ज्ञान की अपेक्षा है। सद्गुण इसी अर्थ

में ज्ञान है। सुकरात ने ज्ञान का अर्थ एकरूप और निश्चित नियमों से लगाया है न कि किसी एक व्यक्ति की ऐसी भावनाओं से जो पूरी तरह आत्मनिष्ठ हैं। निस्संदेह, प्रोटागोरस के सिध्दान्त में निहित यह आशय स्वीकार्य है कि हम जिस शुभ की तलाश करते हैं वह मानव कल्याण है और इसे व्यक्तियों में ही उपलब्ध किया जा सकता है। लेकिन सिर्फ इस वजह से ही वह आत्मनिष्ठ नहीं हो जाता। सामान्य अवधारणाओं के जरिये इसको समझा जा सकना इसे वस्तुनिष्ठ सिध्द करता है।[२४]

स्पष्ट ही सुकरात ने शुभ और ज्ञान के तादात्म्य में इस बात पर बल दिया है कि नैतिक समस्या प्रमुख रूप से अभिज्ञान की समस्या ही है। हम यदि शुभ का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो हम बिना उसे (शुभ) को प्राप्त किए, बिना उसका अनुगमन किए, रह नहीं सकते। मानवात्मा पर शुभ के ज्ञान की इस कदर जबरदस्त जकड़ है कि मनुष्य को उसके अनुसार आचरण करने के लिए बस शुभ का अभिज्ञान भर होना चाहिए। सुकरात मानते हैं कि मनुष्य जिसे शुभ समझते हैं, उसी के अनुरूप वे कार्य करते हैं। वे इसके लिए मजबूर हैं क्योंकि उनकी संरचना ही इस प्रकार की है। ऐसे उदाहरण कि जिनमें मनुष्य शुभ का आगमन करने में असफल रहता है, सदैव शुभ के गलत अनुमान की वजह से संभव होते हैं। इन प्रकरणों में व्यक्ति किसी उस विषय को, जो वस्तुतः शुभ नहीं है शुभ समझ बैठता है। ऐसा समझ बैठना ही पाप है, बुराई है। पाप, इस प्रकार, शुभ का गलत अनुमान है। इसे एक प्रकार की बौद्धिक दुर्बलता कहा जा सकता है।

सुकरात ने इस प्रकार शुभ (या अशुभ) आचरण को पूरी तरह से उसके ज्ञान (या अज्ञान) पर निर्भर बना दिया है। लेकिन हमारे पास ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि शुभ का कदाचित् वास्तविक ज्ञान होने के बावजूद लोग उसके अनुरूप आचरण नहीं करते। सुकरात ऐसे उदाहरणों की पूरी और सही व्याख्या करने में सदैव असफल रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सुकरात पर टिप्पणी करते हुए अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि नैतिक सद्गुण (या शुभ) के मासले में महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि हम यह जानें कि वह क्या है, बल्कि यह है कि उसका उदय कैसे हुआ। हम साहस क्या है, यह जानना नहीं चाहते, साहसी होना चाहते हैं।[२५]

सुकरात सद्गुण और ज्ञान को पूरी तरह से अभिन्न बनाने पर क्यों तुले हुए थे, ठीक से इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु उसके समर्थन में इतना जरूर कहा जा सकता है कि सामान्यतः मनुष्य के नैतिक विश्वास, उसके कार्यों में प्रकट होते हैं। यदि कोई मनुष्य यह कहता है कि उसका यह

विश्वास है कि उसे यह करना चाहिए और अवसर आने पर न तो वह उसे करता है और न ही इसके लिए उसे कोई पश्चात्ताप होता है तो स्पष्ट ही निष्कर्ष यही निकाला जाएगा कि उसे अपने कहे पर विश्वास नहीं है। वह केवल बकवास करता है। (या शायद तब तक उसने अपना मन ही बदल लिया हो)। लेकिन इसके बाद भी एक ऐसे प्रकरण में, जहां मनुष्य अपने व्यक्त नैतिक विश्वास के अनुरूप कभी काम नहीं करता, और एक ऐसे उदाहरण में जहां मनुष्य अपने व्यक्त विश्वास के अनुरूप कभी-कभी कार्य कर लेता है-हमें भेद करना ही पड़ेगा। सुकरात ने इस अंतर को बिल्कुल नजरअन्दाज किया है। वे अपने इस मत पर दृढ बने रहे हैं कि (नैतिक) ज्ञान के अतिरिक्त भला और कौन सी शक्ति इतनी महान् हो सकती है जो मनुष्य को, जो उसे करना चाहिए; उससे रोक सके। कम से कम प्रोटागोरस में सुकरात का तर्क कुछ इसी प्रकार का है। [२६]

सद्गुण ज्ञान है यह सूत्र, यह समझ लेना बहुत आवश्यक है, सद्गुण की परिभाषा नहीं है। इसका अर्थ केवल इतना भर है कि सद्गुण ज्ञान का विषय है, या, सद्गुण एक ऐसा कौशल है जिसे सिखाया जा सकता है, आदि। किन्तु यह सूत्र यह नहीं बताता कि सद्गुण है क्या, अथवा शुभ कहते किसे हैं। गोर्जिःयस में, उदाहरणार्थ, केवल चर्चा के उद्देश्य से सुकरात इस विचार को प्रस्तुत करता है कि 'सुख' शुभ है लेकिन अंततः इसे वह निरस्त कर देता है। प्लेटो के प्रोटागोरस नामक संवाद में भी उन्होंने यही सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। जिनोफान के मेमोरेबिलिया में भी हमें यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। लेकिन फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि सुकरात ने इस संबंध में कोई स्पष्ट रूप से सुसंगत सिद्धान्त प्रतिपादित किया हो। हालांकि इस मुद्दे को लेकर विद्वानों में जबरदस्त मत-भेद है और कुछ विद्वान् सुकरात के मतानुसार सुख को ही शुभ मानते हैं। जो भी हो, यह कभी भी स्पष्ट और निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता कि सुकरात ने सुख को ही शुभ माना है। वह अपने 'श्रोताओं' तथा पाठकों को अपनी निश्चित दार्शनिक स्थिति से कभी अवगत नहीं करता।

और इसे हम सुकरात के व्यक्तित्व का मात्र एक व्यक्तिगत व्यवहार-वैचित्र्य नहीं कह सकते। सुकरात ने नीतिशास्त्र में दार्शनिक प्रश्नों को उठाया है। अपने समय की स्वीकृत अवधारणाओं के प्रति संदेह प्रदर्शित किया है। उनके लिए सही मापदण्डों की तलाश पर बल दिया है। उदाहरणों की तुलना करके उनकी असंगतता पर प्रकाश डाला है। और यह सब उन्होंने सिर्फ इसलिए किया है कि वे अपने समकालीन यूनानी जीवन के समस्याग्रस्त नैतिक जीवन को उद्घाटित कर सकें। उनका उद्देश्य केवल नैतिक जीवन के प्रति एक दार्शनिक

जिज्ञासा पैदा करना था। और अपने इस कार्य में वे पूर्णतः सफल रहे। यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि सुकरात ने जो अपनी चर्चाओं में विचार–संकेत दिए थे–उन्हें बाद के दार्शनिकों ने परिपक्व नैतिक सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया।

(२) सद्गुण एक है – (वर्चू इज वन) : जैसा कि हम देख चुके हैं प्लेटो के आरंभिक संवादों में सुकरात की मुख्य खोज विभिन्न पदों की निश्चित परिभाषा प्राप्त करना था। आचरण संबंधी प्रश्नों की चर्चा में किसी एक सामान्य पद,–जैसे, साहस, आत्मनियंत्रण, मित्रता, धर्मनिष्ठा, आदि को एक विशेष संवाद का विषय बनाया गया है और इस एक पद की निश्चित परिभाषा तय करने की कोशिश की गई है। लेकिन यहां यह भी उतना ही ध्यातव्य है कि हम किसी भी संवाद में यह नहीं पाते कि उस पद की, कि जिसकी चर्चा उसमें की गई है, कोई निश्चित परिभाषा वास्तव में उभर सकी हो। ऐसा क्यों हुआ है? जब भी किसी विशेष सद्गुण को परिभाषित करने के लिए जैसे जैसे चर्चा बढी है, उसे अन्य सद्गुणों से अलग किया गया है। अन्य से उसकी भिन्नता और अंतर को बताया गया है, और बाद में यह देखा गया है कि वह विशेष सद्गुण, सद्गुण की सामान्य अवधारणा से अभिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए हम 'साहस' को ही लें। साहस क्या है? कहा जा सकता है कि यह खतरे की अवहेलना करना है। लेकिन विचारोपरांत हम पाते हैं कि कई स्थितियां ऐसी आती हैं जब खतरे की अवहेलना नहीं की जा सकती; ऐसा करना गलत होगा। जाहिर है, जो गलत है उसे करना, सद्गुण नहीं हो सकता। साहस इसलिए खतरे की अवहेलना नहीं है, बल्कि जब खतरे की अवहेलना करना ही शुभ हो तभी उसे साहस कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। लेकिन खतरे की अवहेलना करना शुभ हो तभी उसे साहस कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। लेकिन खतरे की अवहेलना करना शुभ कब होगा? इसके लिए हमें यह जानना आवश्यक हो जाता है कि शुभ क्या है? यही तर्क अन्य सद्गुणों पर भी लागू किया जा सकता है। परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि सभी तथाकथित स्वतंत्र सद्गुण शुभ की परिभाषा पर निर्भर हैं। या यों कहें, उनकी परिभाषाएं शुभ की परिभाषा में विलीन हो जाती हैं। शुभ का ज्ञान और किसी एक सद्गुण का ज्ञान अलग अलग नहीं होता। सभी सद्गुण एक शुभ की सामान्य परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं। सद्गुण एक है। [२८]

'सद्गुण ज्ञान है' और 'सद्गुण एक है' इन दोनों कथनों को अलग अलग नहीं देखा जा सकता, क्योंकि यदि हमें सामान्य रूप से सद्गुण (या कहें शुभ) का ज्ञान है तो सभी सद्गुणों की समझ अपने आप ही आ जाएगी। सभी

विशिष्ट सद्‌गुण सामान्य सद्‌गुण से ही मानों अपना प्रकाश ग्रहण करते हैं। हम अनेक सद्‌गुणों के बारे में बात जरूर करते हैं, जैसे संयमन, दूरदृष्टि, विवेक, करुणा, दया, आदि; लेकिन इन सबका स्त्रोत एक ही है, और वह है ज्ञान। अतः ज्ञान, जो स्वयं ही सद्‌गुण है, अन्य सभी सद्‌गुणों को अपने में सम्मिलित कर लेता है।

स्पष्ट ही सुकरात का यह सूत्र कि सद्‌गुण एक है, यूनान में उनके समय में व्याप्त नैतिक अराजकता के प्रति उनका विरोध था जिसने सारी नैतिकता को ही एक निजी सनक बना कर रख दिया था। सुकरात का आशय यही था कि सभी सद्‌गुण अंततः स्वयं नैतिकता पर आधारित है और इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। विरोध तभी परिलक्षित होता है जब वे अपना आधार, जो वास्तव में 'शुभ' 'सद्‌गुण' या 'नैतिकता' है, को छोड़ देते हैं। सभी सद्‌गुण अपने परम साध्य से एक ही प्रकार का संबंध रखते हैं– यह संबंध है उन सब का उस साध्य के लिए साधन होना।

मनुष्य के कार्यों का परम साध्य क्या है, यह ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही हमें सद्‌गुणों के संबंध में भी उनका प्रयोग कैसे किया जाए, आदि बातों का ज्ञान स्वतः प्राप्त हो जाता है। विविध सद्‌गुणों की परिभाषा परम शुभ की परिभाषा का एक विशिष्ट वर्णन मात्र है।

(३)–'जानबूझ कर कोई भूल नहीं करता' (नो वन अर्स विलिंगली)– सुकरात का यह कथन 'सद्‌गुण ज्ञान है' कथन के समानान्तर है। यदि सभी नैतिक सद्‌गुण ज्ञान से कुछ इस तरह संबंधित हैं कि यदि, उदाहरणार्थ, हमें पता हो कि न्याय क्या है तो फलस्वरूप हम न्यायशील होंगे ही। इसी तरह हम कह सकते हैं कि कोई जानबूझ कर गलती नहीं करता, क्योंकि कोई भी अपने शुभ के अतिरिक्त जानबूझ कर कुछ और (अशुभ) नहीं चुनता। जिस प्रकार अच्छा कार्य करते समय व्यक्ति यह सोचता है कि वह अच्छा कार्य है और इसे करने में ही उसका शुभ है, ठीक इसी तरह बुरा कार्य करते समय भी मनुष्य यही सोचता है कि वह कार्य बुरा नहीं है, अच्छा ही है और इसी में उसका कल्याण है, ऐसा सुकरात का मत है। ऐसा इसलिए होता है कि वास्तविक शुभ क्या है, लोग उसके स्वभाव से अनभिज्ञ हैं। मनुष्य कभी भी, किसी भी परिस्थिति में, यह नहीं चाहता कि उसका कल्याण न हो, वह सदैव शुभ ही शुभ चाहता है; ऐसी स्थिति में स्पष्ट ही वह कोई ऐसी गलती नहीं करेगा जिससे उसके शुभ में हानि हो। यह बात दूसरी है कि उसे अपने शुभ का ही ठीक ठीक अभिज्ञान न हो और जिसे वह शुभ समझता हो, वह वस्तुतः उसके लिए अशुभ हो। अतः बुरे कार्यों का संपादन शुभ के मिथ्या मूल्यांकन पर आधारित है। उसे इसका भान

ही नहीं होता कि इन कार्यों को करने से उसकी आत्मा को जो पाप लगेगा वह कई गुना उसके लिए अशुभ होगा। वस्तुतः कोई भी स्वेच्छा से पाप की ओर अग्रसर नहीं होता। बुराई अज्ञान है और एक विषयासक्त व्यक्ति (जो अपने) वास्तविक कल्याण को नहीं समझता और इंद्रिय माँगों को ही शुभ जान बैठा है 'बैल की तरह जडबुद्धि होता है'। २९

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुतः सुकरात के तीनों ही उपरोक्त कथन लगभग एक ही बात पर बल देते हैं कि मनुष्य को जब तक सद्‌गुण का ज्ञान नहीं होता वह सद्‌गुणी नहीं बन सकता, नैतिक भूलें सहज ही कर सकता है और तमाम सद्‌गुणों को एक दूसरे से स्वतंत्र मान कर परम साध्य को अनदेखा कर सकता है।

सुकरात का चिंतन मूलतः उसके नैतिक सोच का परिणाम है। वह अपने देशवासियों के नैतिक पतन के प्रति बहुत चिंतित था। उसके समय की नैतिक मान्यताएँ बहुत अस्पष्ट और अयुक्तिसंगत हो गई थीं। यूनानी जीवन के इसी समस्याग्रस्त नैतिक चरित्र की ओर वह अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करना चाहता था। इसीलिए वह अपने संवादों के माध्यम से लोगों को बार बार यह अहसास कराता था कि उनकी मान्यताएँ असंगत हैं, उनके कार्यों में नैतिकता का अभाव है। वे जानते ही नहीं कि उनका वास्तविक शुभ क्या है, उनका कल्याण किस बात में है।

सुकरात के सोच का यह नकारात्मक पक्ष अवश्य है; किन्तु यह एक बहुत सशक्त आयाम है क्योंकि इससे पहली बार यूनानी दर्शन में मनुष्य को केन्द्र में रख कर 'दार्शनिक-चिंतन' को बल मिला। मनुष्य को केंद्र में तो सोफिस्ट दार्शनिकों ने भी रखा था; लेकिन उन्होंने, बजाय इसके कि वे दार्शनिक चिंतन को बल देते, अपने समय की वृत्तियों को ज्यों का त्यों अपनाया और उनके अनुरूप ही लोगों को शिक्षित किया। सुकरात ने पहली बार इस नैतिक अराजकता और स्वेच्छाचारिता पर प्रश्नचिन्ह लगाया।

जहां तक सुकरात के नैतिक-दर्शन के भावात्मक पक्ष का प्रश्न है, वह हमें कोई सुनिश्चित नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करता। उनका विख्यात सूत्र 'सद्‌गुण ज्ञान है' भी सद्‌गुण की कोई परिभाषा नहीं है। लेकिन इस कथन में उनकी यह मान्यता कि हम सही जीवन पद्धति को ज्ञान से ही प्राप्त कर सकते हैं और यह ज्ञान उचित शिक्षा द्वारा योग्य व्यक्तियों को प्रदान किया जा सकता है-बाद में विकसित हुए सभी यूनानी दार्शनिक संप्रदायों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार की गई है। केवल नैतिक क्षेत्र में ही नहीं, ज्ञान के इस सर्वोच्च महत्व को प्लेटो की तरह सुकरात ने राजनीति के क्षेत्र में भी बिना किसी

समझोते के स्वीकार किया। 'एक अच्छा सेना-नायक वह है जो युद्धनीति की कला जानता हो' ऐसा प्लेटो मानते थे। हम उसे चुनें या न चुनें, लेकिन सभी मनुष्यों के मत भी एक अज्ञानी मनुष्य को वास्तविक अर्थों में सेनानायक नहीं बना सकते। प्लेटो ने जब यह आवाहन किया कि एक आदर्श राज्य का नियंत्रण दार्शनिकों के हाथों में दिया जाए तो स्पष्ट ही यह उसकी केवल कल्पना की उड़ान मात्र नहीं थी। उसका सोच वस्तुतः उसके गुरु सुकरात के इस सिद्धान्त का ही प्रतिफल था कि वे लोग जो मनुष्य के कल्याण या अंतिम साध्य को नहीं जानते वे मनुष्यों पर शासन करने के योग्य नहीं है।[३०]

सुकरात के तुरंत बाद कम-से-कम चार दार्शनिक संप्रदायों ने अपनी पहचान बनाई। ये चारों सुकरात के दार्शनिक प्रभा-मंडल से अलग नहीं थे; इसलिए इन्हें सोक्रेटिक - संप्रदायों के नाम से जाना जाता है। प्लेटो को यदि छोड़ दिया जाए (क्योंकि प्लेटो का नीति-दर्शन सबसे महत्त्वपूर्ण है और एक स्वतंत्र विवेचना की मांग करता है) तो शेष तीन संप्रदाय हैं - सिनिक, सोरेनायक और मेगारिक। इन तीनों को कभी कभी 'अर्द्ध-सुकराती' संप्रदाय भी कहा गया है। इनमें जबरदस्त भिन्नताएं होते हुए भी, इन सबका स्त्रोत सुकरात का दर्शन ही है। ये सभी इस बात पर सुकरात से सहमत प्रतीत होते हैं कि मनुष्य की सबसे महत्त्वपूर्ण संपत्ति उसका ज्ञान या प्रज्ञान है और सबसे महत्त्वपूर्ण ज्ञान शुभ का ज्ञान होता है। किन्तु इनकी सहमति यहीं समाप्त हो जाती है और ये संप्रदाय अलग अलग मार्ग अपना लेते हैं।

मेगारी, सिनिक और सिरेनाइक संप्रदाय

सुकरात के जीवन और शिक्षा का सार संक्षेप में यह था कि जीवन का एकमात्र लक्ष्य सद्गुण है। इसके अतिरिक्त और सब कुछ, सुख-सुविधा, धन, विद्या आदि, अपेक्षाकृत निरर्थक हैं। अतः अर्ध-सुकराती संप्रदायों में एक समान बात हम यही पाते हैं कि उन्होंने सुकरात की तरह हो जीवन के अंतिम लक्ष्य को सद्गुण के रूप में ही स्वीकार किया। अब हम यह देखेंगे कि उनका वैभिन्न्य किन किन बातों में है।

यदि जीवन का एक मात्र लक्ष्य सद्गुण है तो सद्गुण ठीक ठीक है क्या? सुकरात ने इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। सद्गुण की एक मात्र परिभाषा उनकी यही थी कि सद्गुण ज्ञान है, किन्तु ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट है कि यह वस्तुतः परिभाषा है ही नहीं। सद्गुण ज्ञान है किन्तु किसका ज्ञान? यह सितारों का, गणित का या भौतिक पदार्थ का ज्ञान तो है नहीं। यह नैतिक ज्ञान है, अर्थात् सद्गुण का ज्ञान है। सद्गुण को ऐसा परिभाषित करना कि वह सद्गुण का ज्ञान है हमें सद्गुण के बारे में कुछ नहीं बताता। सुकरात ने जब

सद्‌गुण को ज्ञान बताया तो वे स्पष्ट ही सद्‌गुण को परिभाषित नहीं कर रहे थे; भले ही कथन का रूप कुछ ऐसा ही क्यों न हो। वे वस्तुतः यह कहना चाहते थे कि सद्‌गुण ज्ञान पर निर्भर करता है, याने कि ज्ञान सद्‌गुण की पहली शर्त है। अगर सिर्फ यह ज्ञान हो जाए कि सद्‌गुण क्या है तो व्यक्ति सद्‌गुणी बनेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुकरात नें सद्‌गुण क्या है, इस प्रश्न को अनुत्तरित ही छोड़ दिया।

इसका कारण अंशतः सुकरात द्वारा अपनाई वार्ता-शैली थी जिसके माध्यम से सुकरात ने दार्शनिक सोच का विकास किया। सामान्य बातचीत के जरिए हम किसी वैचारिक पद्धति को विकसित नहीं कर सकते। किन्तु अंशतः इसका कारण सुकरात की असामान्य प्रतिभा भी थी। वे कदाचित् सद्‌गुण को किसी एक सूत्र में बांधना नहीं चाहते थे। वे स्पष्टतः यह देख सके थे कि सद्‌गुण को किसी एक अवधारणा में सीमित नहीं किया जा सकता। विभिन्न परिस्थितियों में इसके प्रयोग की असीमित संभावनाएँ हो सकती हैं। सुकरात के बाद के दार्शनिक संप्रदायों ने इसीलिए शुभ को भिन्न भिन्न प्रकार से परिभाषित करने का प्रयत्न किया।

१) **मेगारी संप्रदाय** – मेगारी संप्रदाय का संस्थापक युक्लिडीस स्वयं मेगारा के निवासी थे। उन्होंने शुभ को सुकरात के चिंतन के बाद भी एक ऐसा विषय माना जिसके स्वभाव की खोज अभी पूरी नहीं हो सकी है। और इसके संबंध में उन्होंने नए सिरे से विचार करना आरंभ किया। उन्होंने इसका तादात्म्य विश्व के गूढ़ रहस्य से किया। सद्‌गुण निःसंदेह ज्ञान है, लेकिन किसका ज्ञान? यह ज्ञान केवल भाव (**बीइंग**) का ही हो सकता है। सुकरात की 'शुभ' को अवधारणा को उन्होंने इस प्रकार पारमेनिडीस की 'भाव' की अवधारणा से संयुक्त किया। भाव, ईश्वर, एक, देवत्व-ये सभी एक ही वस्तु के नाम हैं। संभवन (**बिकमिंग**), अनेक, पाप-ये विरोधी तत्त्व हैं, अभाव (**नॉट-बीइंग**) हैं। वास्तविक भाव केवल शुभ है। बस वही है। विभिन्न सद्‌गुण – जैसे उदारता, संयमन, धर्म-परायणता आदि एक ही सद्‌गुण के भाव के ज्ञान के – केवल विभिन्न नाम हैं। मेगारी संप्रदाय ने इसीलिए सद्‌गुण को दार्शनिक चिंतन-मनन में, भाव के ज्ञान में, पाया और इस तरह ये सभी दार्शनिक. नीतिशास्त्र से तत्त्व-मीमांसा की ओर अग्रसर हो गए।

२) **सिनिक**[३१] **संप्रदाय** : जहां मेगारी संप्रदाय ने सद्‌गुण को एक चिंतन-मनन-प्रधान जीवन में पाया, वहीं सिनिक संप्रदाय ने इसे वैराग्य में फलीभूत देखा।

सिनिक संप्रदाय के प्रणेता एण्टिस्थेनीज[३२] (लगभग ४४४-३६५ ई. पू.) थे। वे सुकरात की इस धारण से सहमत थे कि सद्‌गुण का आधार ज्ञान है और

उसे सिखाया जा सकता है तथा सद्गुण एक है। लेकिन सिनिक चिंतकों ने सुकरात की प्रशंसा विशेष कर उनके दृढ और स्वतंत्र चरित्र तथा उनकी जीवन-चर्या के लिए की है न कि उनकी प्रखर बुद्धि के लिए। दूसरों के मत से पूरी तरह उदासीन रह कर, सुकरात ने एक मुक्त जीवन जिया। उन्होंने न निंदा की, और न ही प्रशंसा की परवाह की। धन और संपत्ति उनके लिए बेमानी थे।

सुकरात की इस जीवन-पद्दति को आदर्श मान कर सिनिक संप्रदाय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि व्यक्ति को सांसारिक सुख-संपत्ति से मुक्त होना चाहिए। पूर्ण वैराग्य, कठिन आत्मनियन्त्रण और यतित्व ही जीवन का उद्देश्य है, और यही सद्गुण है। एण्टिस्थेनीज का कहना था, 'सुख के लिये सद्गुण पर्याप्त है और सद्गुण के लिए एक सुकरात के (आत्म) बल के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। इस बल का संबंध कार्य से है; कितने शब्दों और कितनी ही शिक्षा से इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता'।[३३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिनिक दार्शनिकों ने प्रज्ञान का तादात्म्य व्यावहारिक सद्गुण से किया। केवल सैध्दान्तिक ज्ञान सद्गुण का स्त्रोत नहीं हो सकता। 'शुभ' या सद्गुण के लिए किसी वैचारिक शोध की आवश्यकता नहीं है। सिनिक दार्शनिकों का यह मानना है कि सुकरात ने सद्गुण की कौशल-पूर्ण खोज करने की बजाय, सुख के प्रति एक बौध्दिक उदासीनता का भाव अपनाया क्योंकि उन्हें सामान्य जन की इच्छाओं आदि की निरर्थकता का स्पष्ट बोध था। एण्टिस्थेनीस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सुख को एक बुराई समझा। उनका कहना था, 'सुख से वशीभूत होने से तो पागलपन अच्छा है।'[३४]

स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता सर्वोच्च मूल्य हैं। परिस्थितिजन्य हानियों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हम पूरी तरह से परिस्थिति (के प्रभाव) से मुक्त रहें। एण्टिस्थेनीस ने इच्छाओं की संतुष्टि करनेवाले सभी विषय – यहां तक कि धन और सम्मान भी–अस्वीकार कर दिए। इच्छाओं के अभाव में ही सद्गुणों का निवास है ओर सुख के लिए यह अपने आप में काफी है। पूर्णतः निष्काम होने के अर्थ में जो मनुष्य सद्गुणी होता है उसके पास डरने या खो जाने के लिए लिए कुछ नहीं रहता। उसको तो दासता भी हानि नहीं पहुंचा सकती।[३५] वस्तुतः यदि कोई गुलाम भी सद्गुण संपन्न है तो वह स्वतः स्वतंत्र है और एक जन्मजात शासक है।

एण्टिस्थेनीज का शिष्य डियोजेनीस तो यहां तक कहता है कि वह एक ऐसे व्यक्ति के हाथ बिकना चाहेगा जिसे एक स्वामी की आवश्यकता हो। डीयोजेनीस के लिए सद्गुण का अर्थ सभी शारीरिक सुखों से बचना था। उसके अनुसार भूख

और पीड़ा शुभ की खोज में सकारात्मक रूप से सहायक हो सकते हैं। नैतिकता-सहजता और प्रकृति की ओर वापसी में निहित है।[३६]

इसमें कोई संदेह नहीं कि सुकरात ने अपनी जीवन पद्धति में एक प्रकार की निस्पृहता को अवश्य अपनाया, किन्तु यह उनका नैतिक साध्य कभी नहीं रहा। सिनिक संप्रदाय ने इसे एक नैतिक साध्य के रूप में स्वीकार कर लिया और वह यह मान बैठा कि सांसारिक सुखों और उपलब्धियों की अपेक्षा विरक्ति ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य है। सिनिक संप्रदाय का यह नैतिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो पूर्णतः निषेधमूलक है। यह हमें पीडा को वहन करने और सुख के प्रति एक तिरस्कार-भाव विकसित करने के लिए प्रेरित करता है। और यह सब यदि सुख-प्राप्ति के लिए ही किया जाता है (क्योंकि सिनिक दार्शनिक ने सद्‌गुण को सुख के लिए पर्याप्त बताया है) तो वस्तुतः सुखवाद का तथाकथित विरोध भी केवल दिखावटी रह जाता है।

पुनः सिनिक नीतिशास्त्र विशुद्धतः स्वार्थवाद का ही एक प्रकार है। इसका नैतिक उद्देश्य सामाजिक सुख न होकर, व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाना है। और इस वैयक्तिक स्वतंत्रता को सिनिक विचार ने इस कदर खींचा है कि इसमें दूसरों के उत्कृष्ट गुणों के लिए भी एक तिरस्कार का भाव घर कर गया है।

सिनिक दर्शन की इन्हीं सीमाओं ने उसे दो विपरीत दिशाओं में मोड दिया। एक विचारधारा नितांत स्वार्थवाद की ओर चली गई और दूसरी स्टोइक नीतिशास्त्र की ओर मुड गई, जो शायद सिनिक संप्रदाय का अधिक सहज विकास था। इन दो धाराओं में बट जाने का मुख्य कारण 'आत्मा' की अवधारणा के बारे में सिनिक दार्शनिकों की अस्पष्टता थी। जिन लोगों ने बाद में आत्मा को एक अलग-थलग इकाई माना उन्होंने समाज के प्रति एक तिरस्कार का भाव विकसित करके नितांत स्वार्थवादी दृष्टिकोण अपना लिया। किन्तु स्टोईक दर्शन ने आत्मा को अनिवार्यतः उसके सामाजिक आयाम में देखा और इस प्रकार आत्मनिर्भरता का अर्थ समाज और समस्त विश्व में व्यक्ति के स्थान के अनुरूप उसके कर्तव्यों के निर्वाह से लगाया।[३७]

३. **सिरेनाइक संप्रदाय**— यदि सिनिक संप्रदाय के लिए नैतिक जीवन मुख्य रूप से सुख के प्रति विरक्ति में था तो ठीक इसके विपरीत सिरेनाइक संप्रदाय ने सद्‌गुण और सुख में से, सुख को नैतिक जीवन का लक्ष्य बनाया, और सद्‌गुण को सुख से ही परिभाषित किया। सुकरात ने अक्सर सद्‌गुण की अनुशंसा यह कह कर की थी कि उससे व्यक्ति लाभान्वित होता है। सद्‌गुण सुख का एक मात्र मार्ग है ऐसा उसका मत था। किन्तु स्पष्ट ही इसका यह अर्थ नहीं था कि मनुष्य अपने कर्तव्य को सिर्फ तभी निभाए कि जब इससे उसे 'लाभ' होता

हो। उचित कार्य तो केवल इसलिए किया जाता है कि वह उचित है—सुकरात ने इसे कभी नहीं नकारा। किन्तु सुकरात ने नैतिकता का कोई निश्चित आधार भी नहीं बताया। परन्तु सुकरात को कभी कभी सुख का पक्ष लेते हुए देख; एरिस्टिप्पस [३८] ने सुख को ही समस्त नैतिकता का आधार मान लिया। बेशक सद्‌गुण ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। किन्तु सद्‌गुण का एकमात्र लक्ष्य स्वयं का लाभ ही है, अर्थात् सुख है। अत: बिना लाग–लपेट यह भी कहा जा सकता है कि सुख ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

एरिस्टिप्पस ने अपने सुखवादी निष्कर्ष के लिए प्रोटागोरस के दर्शन में एक तत्त्वमीमांसात्मक आधार भी प्राप्त कर लिया। प्रोटागोरस ने सत्य की वस्तुनिष्ठता को नकारा था। सोफिस्ट दार्शनिकों ने इसे नैतिकता पर लागू किया। और एरिस्टिप्पस ने इसे सुख पर आरोपित कर दिया। सुख बाहर की वस्तु न हो कर, मनुष्य का अपना निजी अनुभव है। इन्द्रियों की सुखद अनुभूति ही एकमात्र ऐसी अच्छाई है जिसका हमें संज्ञान है। चाहे फिर उसका स्त्रोत कुछ भी हो। इसी तरह दुःखद अनुभूति एकमात्र बुराई है। अत: विशुद्ध सुखवादी दृष्टि से (१) गत और आगत सुखों का कोई अस्तित्व नहीं है और (२) वर्तमान सुखों में कोई भी गुणात्मक भेद नहीं है। केवल तीव्रता का भेद है।

सुकरात ने बुद्धि के उच्चस्तरीय सुखों की बात कही थी। लेकिन सिरेनाइक दार्शनिकों ने सुखों में किसी भी प्रकार के गुणात्मक भेद की प्रामाणिकता को अमान्य कर दिया। उनके अनुसार केवल शारीरिक सुख ही अधिक सहज और तीव्र होते हैं और उन्हें ही इसलिए वरीयता देनी चाहिए। क्षणिक सुख; और वह भी दैहिक, मनुष्य के लिए एकमात्र शुभ है। फिर भी एरिस्टिप्पस को यह तो मानना ही पड़ा कि कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनमें तत्काल सुख प्राप्ति के समतुल्य दुःख अधिक होता है। उनके अनुसार परंपरागत उचित-अनुचित के भेद का आधार यही है और नियम और रीति–रिवाज इसी अर्थ में एरिस्टिप्पस को स्वीकार्य हैं।

सिरेनाइक दार्शनिकों के सुखवाद में इस स्वीकृति से व्यावहारिक महत्त्व का एक नया मुद्दा विकसित हुआ। एरिस्टिप्पस ने सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही इस बात पर बल दिया कि सच्चा सुख वही प्राप्त कर सकता है जो आत्मनियंत्रित हो और अपने आप पर शासन कर सके। एक सच्चे सुखी व्यक्ति में सावधानी और विवेक की आवश्यकता होती है जो उसे भावावेश का शिकार होने से बचा सके।

, इस प्रकार अंततः हम कह पाते हैं कि जिस एरिस्टिप्पस को नीतिशास्त्रीय इतिहास में शुद्धतः सुखवादी दर्शन के प्रणेता के रूप में जाना जाता है

वह कालान्तर में सिनिक दृष्टिकोण के बहुत निकट आ जाता है। साथ ही वह एपीक्यूरस और आधुनिक परिष्कृत सुखवादी विचारकों के समीप हो गया है। थ्योडोरस ने तो और अधिक बलपूर्वक यह स्वीकार किया कि क्षणिक सुख भ्रमात्मक हो सकते हैं और व्यवहार का लक्ष्य स्थाई शांति है। हेगेसियस ने तो सच्चे सुख की पूरी संभावनाओं को ही नकार दिया और दुख से मुक्ति के लिए आत्महत्या तक की वकालत की।[४०] संभवतः इस संप्रदाय का शिखर-बिन्दु गिने जाने वाले एनिसैरीज ने तो यहां तक कह डाला कि सच्चा सुख कभी कभी आत्म-बलिदान में होता है और आनंद का वास्तविक स्त्रोत सहानुभूति में है।[४१]

सिनिक और सिरेनाइक दार्शनिकों के विचार ऐतिहासिक दृष्टि से स्टोइक और एपीक्यूरस के नीतिशास्त्र के पूर्वगामी माने जा सकते हैं, जिनकी चर्चा हम यथास्थान पर करेंगे। किन्तु यहां केवल इतना कहा जा सकता है कि इन दार्शनिकों ने जिस समस्या को रेखांकित किया वह विशेष रूप से सद्गुण और सुख के परस्पर संबंध की समस्या थी। जब तक सद्गुण किसी न किसी रूप में हमें सुख नहीं देता, वह निरर्थक हो जाता है। इसी प्रकार जब तक सुख सद्गुण के अभ्यास से जुड़ नहीं जाता तब तक वह नैतिक मनुष्य के स्वभाव को, जैसा कि वह है, संतुष्ट नहीं कर सकता। सुख और सद्गुण न तो एक दूसरे से अभिन्न हैं और न ही एक दूसरे से पूरी तरह स्वतंत्र हैं। लेकिन सिनिक और सिरेनाइक दार्शनिकों की वृत्ति इनमें से किसी एक को दूसरे में विलीन कर देने की है और इस प्रकार या तो केवल सद्गुण अथवा केवल सुख को नैतिकता का परिचालक मानने की है। ऐसी स्थिति में सुख और सद्गुण दोनों की ही उपस्थिति तो बनी रहती है, लेकिन किसी न किसी एक अवधारणा की हानि भी होती है। वह दुर्बल हो जाती है और किसी हद तक अपना अर्थ ही खो बैठती है।

– सुरेन्द्र वर्मा

शासकीय महाविद्यालय,
नीमच ४५८४४१
(म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. देखें, सिजविक, हेनरी; आउट लाइन्स आफ दि हिस्ट्री आफ एथिक्स, पृष्ठ १७.

२. इसमें एक अपवाद शायद पाइथागोरस था जो न केवल सैद्धान्तिक रूप से ही प्रखर था बल्कि जिसके नाम से पूरी एक जीवन-पद्धति जानी जाती है।

३. एरिस्टोफेनीज (४४८-३८० ई. पू.) यूनान का एक हास्य नाटककार और सामाजिक व्यंग्यकार था। वह जन–नेताओं, जन–संस्थाओं और यहां तक कि समकालीन देवताओं तक की खिल्ली उड़ाता था। अपने एक नाटक **द क्लाउड्स** में उसने सुकरात तक को नहीं बक्शा। उसमें सुकरात को उसने एक तथाकथित सोफिस्ट की तरह चित्रित किया है जो अपने कुतर्क द्वारा चतुराई से दूसरों को धोखा देता है। जाहिर है, यह स्पष्ट ही उचित और न्यायसंगत नहीं था। अपने विचारों में एरिस्टोफेनीज रूढ़िवादी था।

४. देखें, मेकेंजी, जॉन, **ए मेन्युअल ऑफ एथिक्स**, पृ. १२०–१२१.

५. देखें, स्टेस डब्ल्यू टी; **ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी**; पृ. १०६.

६. देखें, दुबे श्रीप्रकाश (अनुवाद) **ग्रीक दर्शन** (जॉन बर्नेट कृत) पृ. ११५.

७ देखें, स्टेस (उपरोक्त) पृ. १०७–१०८.

८. यूनानी शब्द जिसका अनुवाद 'सद्गुण' किया गया है। वस्तुतः वह तकनीकी उपलब्धि है जिससे एक अच्छा नागरिक बना जा सकता है। यह ऐसा ही है जैसे अच्छी तरह से बांसुरी बजाने के लिए हम बांसुरी बजाने की तकनीक प्राप्त करें और वह बांसुरी बजाने का सद्गुण कहा जाए।

९. **थीएटीटस, १६७ सी.**

१०. देखें मेकिण्टायर, अलास्डेयरः **ए शॉर्ट हिस्ट्री आफ एथिक्स**, लंदनः लंदन, १९६७ पृ. १५–१६.

११. वही – पृष्ठ १६ – १७.

१२ वही, पृष्ठ – १८.

१३. पूरा सूत्र इस प्रकार है – मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है। जो वस्तुएं हैं उनके अस्तित्व के संबंध में, और जो नहीं हैं उनके अनस्तित्व के संबंध में वही निश्चय करता है – (**मन इज द मेजर आव आल थीङ्ग्ज, आल द थीङ्ग्ज देट आर, देट दे आर, आव द थीङ्ग्ज देट दे आर नाट दे आर नाट**)

थीटिटस १५२ ए। यद्यपि प्रोटागोरस के शब्द अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं, किंतु प्लेटो के वर्णन से ऐसा लगता है कि उसके शब्दों को मूल रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

१४. देखें, दीवान चन्द, डॉक्टर : **पश्चिमी दर्शन-ऐतिहासिक निरूपण**· प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९५७.

१५. प्रोटागोरस के सूत्र की नीतिशास्त्रीय विवेचना के लिए देखें, रोजर्स, आर. ए. पी. पृष्ठ—३१–३३

१६. डॉ. जानसन् (१७०६–१७८३), अंग्रेज कोषकार, निबंधकार, कवि और नैतिकतावादी थे। सुकरात से उनकी साम्यता विशेषकर उनके एक अच्छे वार्ताकार होने से की जा सकती है। दोनों का ही व्यवहार विषम और रूखा था, उनकी जीवन–शैली अजीब थी, लेकिन दोनों ही, फिर भी, उदार और दयावान् और सामाजिक थे। प्रकांड पंडित तो थे ही।

१७. कहा जाता है कि सुकरात की माता फीनारीट धाय का ही काम करती थी। सुकरात ने आध्यात्मिक स्तर पर यही काम किया।

१८. देखिए, सिजविक, हेनरी (उपरोक्त) पृ.–२३

१९. देखें, मेकिंटायर, एलास्डेयर : (उपरोक्त) पृ.–१९

२० वही, पृ.–२०

२१. यूनानी भाषा में 'शुभ' और 'सद्गुण' के निहितार्थ देखने के लिए देखें, फील्ड, जी. सी; दी फिलासफी आफ प्लेटो, आक्सफोर्ड, १९४६, पृ. १८–१६

२२. देखें, बर्नेट, जान (ग्रीक दर्शन,) पृ. १८६–१८६

२३. देखें, मेकिंटायर (उपरोक्त) पृ. २२

२४. रोजर्स, आर. ए. पी., (उपरोक्त), पृ. ३५

२५. यूडेमियन एथिक्स. १२१। ६ बी

२६. देखिए, मेकिंटायर (उपरोव) पृ. २३

२७. देखिए, मैकिंजी (उपरोक्त) पृ. १२२ तथा मेकिंटायर (उपरोक्त) पृ. २४

२८. देखें, फील्ड, जी. सी., : द फिलासफी आफ प्लेटो : (अंग्रेजी) आक्स-फोर्ड, १९४६, पृ. १६–१७

२९. देखें, रोजर्स, आर. ए. पी. (उपरोक्त) पृ. ३६

३०. सिजविक (उपरोक्त) पृ. २६

३१. सिनिक नाम संभवत: एथिंस के सिनोसर्जीस नामक भवन से लिया गया है जो इस संप्रदाय का आरंभिक स्थल था। कभी–कभी यह भी कहा गया है कि इसकी व्युत्पत्ति उस यूनानी शब्द से है जिसका अर्थ 'कुत्ता' है। यह सिनिक संप्रदाय के लोगों के असभ्य और आक्रमक रवैये की ओर संकेत करता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि स्वयं सिनिक चिंतकों ने अपना समान प्रतीक–चिन्ह कुत्ते को ही माना

था। इन लोगों में मनुष्य की अच्छाई में अविश्वास की वृत्ति और एक तिरस्कारपूर्ण दंभ पाया जाता था। आज भी इस तरह के व्यक्ति को सिनिक कहा जाता है।

३२. एण्टिस्थेनीस सुकरात के भक्त शिष्य थे। उन्होंने अपने सहज जीवन और शिक्षा से गरीब तबके के लोगों को खास आकर्षित किया था। इनके शिष्य डियोजेनीस कहते हैं कि उन्होंने दसेक कृतियाँ लिखीं थीं, किन्तु अब उनके कुछ अवशेष ही प्राप्त हैं। अरस्तू के अनुसार एण्टिस्थेनीज एक अशिक्षित और सरल हृदय के व्यक्ति थे। प्लेटो ने उन्हें बेकार ही तर्क से उलझते हुए पाया है।

३४. सिजविक (उपरोक्त) पृ. ३३–३४

३५. मेकिंटायर (उपरोक्त) पृ. १०१

३६. डियोजेनीस, एण्टिस्थेनीज की वैराग्य की शिक्षा से बहुत आकर्षित था। और उसका शिष्य बन गया था। वह शीघ्र ही प्रसिद्धि और तपश्चर्या में अपने गुरु से भी आगे निकल गया। कहते हैं उसकी भेंट सिकन्दर महान् से हुई थी और सिकन्दर ने कहा था "यदि मैं सिकन्दर न होता तो डियोजेनीस हो गया होता"।

३७. रोजर्स (उपरोक्त) पृ. ३८–३६

३८. एरिस्टिप्पस (लगभग ४३५–३५६ ई. पृ.) अपनी कम आयु में ही सुकरात के शिष्य बन गए थे और अपने नगर सिरेन से एथिंस चले आए थे। उन्होंने कई यूनानी नगरों का भ्रमण किया लेकिन अंत में अपने संप्रदाय का केन्द्र सिरेन को ही बनाया– अतः सिरेनाइक संप्रदाय। अधिक से अधिक सुख उनके जीवन का लक्ष्य रहा और इसी सिद्धान्त के अनुसार एक अत्यन्त विलासितापूर्ण जीवन बिताया। उनकी मृत्यु के बाद उनके संप्रदाय को उनकी पुत्री, अरेन्त और उसके (अरेन्त के) पुत्र एरिस्टिप्पस (शब्दशः 'अपनी माँ का शिष्य') ने इस संप्रदाय को जीवित रखा।

३६. तुलना करें, भारतीय दर्शन के चार्वाक संप्रदाय के नैतिक विचार से। वह भी इन दोनों ही बातों को स्वीकार करता है।

४०. कहते हैं, जब हेरोसियस एलेक्जेंड्रिया में भाषण देता था तो बहुतेरे श्रोता उससे प्रभावित होकर आत्महत्या कर डालते थे। अंत में उसे व्याख्यान देने की अनुमति नहीं दी गई।

४१. देखिए, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, खंड–६, पृ. ६३७

भारतीय दर्शन में कर्मवाद (१)
पूर्वपीठिका

भारतवर्ष को कर्मभूमि कहा जाता है और परम्परा से यह मान्यता रही है कि कर्मों के फल-भोगार्थ पुनर्जन्म ग्रहण करना होता है। इस विषय में वेदों तथा उपनिषदों के अनेक प्रमाण जुटाये जा सकते हैं जिनमें कर्मों और कर्मफलों के साथ भोगार्थ विविध योनियों में जन्म लेने की व्यवस्था बतायी गयी है। पुराणों में इस विषय का स्पष्ट प्रतिपादन मिलता है। पुनर्जन्म एक ऐसा सिद्धान्त है कि उससे भोगों की विविधता की व्याख्या होती है। अनादि वासनाओं पर आश्रित अनादि कर्मों तथा भोगों की व्यवस्था चार्वाकों को छोड़ कर सभी भारतीय दर्शनों में की गई। शास्त्रीय व्यवस्थाओं में जो वैमत्य पाये जाते हैं उनका कारण दार्शनिक तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा की विविधता है। जैसे, बौध्दों के मत से नित्य आत्मा नहीं; अतः भोक्ता का अनित्य स्वरूप कल्पित किया जाता है। बौध्दों के क्षणभङ्गवाद में भी एक प्रकार की सापेक्ष नित्यता या प्रवाह-नित्यता रहती है, जिसके अनुसार कर्मभोगों की व्याख्या की जाती है।

एक शरीर के अन्त और दूसरे शरीर की प्राप्ति के अन्तराल में प्रेतात्मा की मान्यता किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों की सम्पत्ति है। प्रेतयोनि भी दो जीवनों के मध्य आती है, जिसे बौध्दों के मत में प्रतिसन्धि कहा जाता है। इस प्रतिसन्धि को प्रायः सभी दर्शन स्वीकार करेंगे परन्तु नामकरण बदल सकता है।

अनीश्वरवादी दर्शनों में यह प्रश्न आता है कि कर्मों के फलों का भोग देने वाला कौन है ? इस विषय में जैनों ने जीवों को परिणामी मानते हुए व्याख्या की है। सांख्यों ने भोग देनेवाली प्रकृति को नित्य स्वीकार किया है, तदनुसार भोक्ता पुरुष है और कर्त्री प्रकृति। भोगसामग्री जुटाने का कार्य भी प्रकृति ही

करती है। जैमिनीय मीमांसा में अपूर्व या अदृष्ट ही पर्याप्त माना गया है, तदनुसार कर्मों से अपूर्व निर्मित होता है और वह फलभोग को उत्पन्न कर के स्वयं नष्ट हो जाता है – कर्म आर फल के मध्य में अपूर्व की स्थिति रहती है।

ईश्वरवादी दर्शन यह स्थापित करते हैं कि सभी जीवों के कर्मों का फलभोग देनेवाला सर्वज्ञ ईश्वर है, क्योंकि चेतन कर्ता के बिना जीवजगत् की व्याख्या नहीं हो सकती। इन वैमत्यों के रहते हुए भी पुनर्जन्म को लेकर जो मतैक्य देखा जाता है उसके विरोध में केवल एक दर्शन प्रतिष्ठा पाता है जिसे लोकायत दर्शन या चार्वाक दर्शन कहते हैं।

चार्वाक दर्शन में कर्म–व्यवस्था –

चार्वाक दर्शन, लोकायत दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ उपनिषदों में भी इस दर्शन के संकेत मिलते हैं। यह ऐसा दर्शन है जो परलोक को अमान्य करते हुए इहलोक के सुखों को सर्वस्व मानता है।[1]

मैत्रायणी उपनिषद् (७.९) में आया है कि बृहस्पति ने शुक्र का रूप धारण कर के असुरों के विनाश के हेतु लोकायत दर्शन की शिक्षा दी। **रामायण** के अयोध्याकाण्ड में चित्रकूट प्रसंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें जाबालि ने राम को अयोध्या लौटाने के हेतु लोकायत मत का उपदेश किया है।[2]

अर्थात, जो लोग अर्थ को काम से न जोड़ कर धर्मपरायण होते हैं, उनकी अवस्था शोचनीय है क्योंकि वे इस जीवन में दुःख पाते हैं और मरने के पश्चात् तो उनका विनाश अवश्यम्भावी है।

इस प्रकार इस दर्शन का मूल सिध्दान्त उच्छेदवाद है, जिसका तात्पर्य है कि मरने के पश्चात् कुछ नहीं रह जाता। पृथिवी, जल, तेज और वायु चतुर्भूत ही मान्य हैं। उन्हीं के विशेष मिश्रण से चेतना आ जाती है जिसे जीवन कहते हैं। ऐहिकतावाद और सुखवाद ही इस दर्शन का प्रतिपाद्य है। प्रत्यक्षही एकमात्र प्रमाण माना गया है। परलोक जैसा कुछ होता ही नहीं। **रामायण** के उक्त संदर्भ में पुनः आया है –

स नास्ति परमित्येतत् कुरु बुध्दि महामते।
प्रत्यक्षं यत् तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥

(२/१०८/१७)

विष्णुपुराण में इस मत की उपस्थापना करते हुए कहा गया है कि यज्ञादि धर्म-कार्य व्यर्थ हैं। यज्ञ करने वालों की अपेक्षा घास खाने वाले पशु अच्छे हैं। यदि यज्ञ में पशु मारने से स्वर्ग मिलता है तो यजमान को चाहिए कि अपने पिता का वध कर दे। यदि श्राध्द-भोजन कराने से परलोक में प्रेतात्मा को कुछ मिलता हो तो प्रवासी के लिये पाथेय का बोझ अनावश्यक है क्योंकि श्राध्द करने से प्रवास में उसे तृप्ति मिल जाएगी।[3]

अन्य दर्शनों में भी पूर्वपक्ष के रूप में चार्वाक-दर्शन को लाया है। इसको बृहस्पति का दर्शन भी कहा जाता है। मीमांसादर्शन में संक्षेपतः इसका परिचय देते हुए आचार्य प्रभाकर ने कहा है कि वेदों में व्यवहारमात्र का उपदेश है। बुध्दिमानों ने अपना स्वार्थ सिध्द करने लिये यज्ञ आदि की व्यवस्था बना दी है। यह सन्दर्भ बृहती (१/१/१३) में आया है। उसकी ऋजुविमला टीका में शालिकनाथ मिश्र ने एक उध्दरण दे कर आस्तिकों के कर्मवाद को मिथ्या बताया है -

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुध्दिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥

देखा जा चुका है कि चार्वाकों ने देहनाश के पश्चात् पूर्ण उच्छेद मान्य किया है। देखा जाता है कि कुछ प्राणी सुखी हैं, दूसरे लोग दुःखी हैं। इनके भोग के साथ कर्मों का कोई सम्बन्ध नहीं। बौध्दों ने भी पूर्वपक्ष के रूप में चार्वाकदर्शन की उपस्थापना की है -

स चेदात्मा परं मरणात् स्यादकृताभ्यागमदोषः कर्मणा भवेत्।
स चेदात्मा सर्वेण सर्वं न स्यात्, तेनोपभोगोऽपि कर्मफलानां
न भवेत्। उभयथाप्ययुज्यमानतां पश्यन्नेवंदृष्टिर्भवत्येवंवादी,
आत्मोच्छिद्यते, विनश्यति, न भवति परं मरणादिति। तद्
यथा कपालानि भिन्नान्यप्रतिसन्धिकानि भवन्ति, अश्मा
वा भिन्नोऽप्रतिसन्धिको भवति। तद्वदत्रापि नयो द्रष्टव्यः।

(योगाचारभूमि, पृ. १५१)

अर्थात्, उच्छेदवाद के अनुसार मरण के पश्चात् यदि आत्मा की सत्ता मानी जाए तो कर्मों का अकृताभ्यागम दोष आता है, क्योंकि प्राणियों को बिना किये हुए कर्मों के सुख-दुःख का भोग करना होगा। इसके अतिरिक्त वह आत्मा यदि समस्त शरीर से सम्पूर्ण न हो तो कर्मों के फलों का उपभोग भी नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त शरीर की ही भोग-साधना पायी जाती है। इस प्रकार उभयथा आत्मा की सत्ता अनुपपन्न है-शरीर से पृथक् मानने पर अकृताभ्यागम तथा शरीरव्यापी शरीरेतर मानने पर भोग की अव्यवस्था फलित होती है। अतः यह दृष्टि बनती है कि मरण द्वारा आत्मा का उच्छेदरूप विनाश हो जाता है और वह मरण के पश्चात् नहीं रहता। जिस प्रकार घट के कपाल फूट कर पुनः नहीं जुड़ते अथवा खण्डित प्रस्तरखण्ड का प्रतिसन्धान नहीं होता, उसी प्रकार देहात्मा उच्छिन्न होकर पुनः नहीं रहता।

सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाकमत की उपस्थापना में बृहस्पति का सिद्धान्त दिया गया है। तदनुसार पुनर्जन्म एवं परलोक अमान्य किये गये हैं। [४]

अर्थात, बृहस्पति ने सभी तथ्य स्पष्ट कह दिये हैं कि स्वर्ग, अपवर्ग, तथा परलोकगामी आत्मा का अस्तित्व नहीं है और वर्णों तथा आश्रमों की क्रियाएं कोई फल नहीं देती। अग्निहोत्र, त्रिवेद, त्रिदण्ड एवं भस्मधारण उन लोगों की जीविका है जिनमें अर्जन की बुद्धि एवं शक्ति नहीं होती। कर्मकाण्डियों की स्थापना है कि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जाता है। यदि ऐसा है तो यजमान अपने पिता की हिंसा ज्योतिष्टोम में क्यों नहीं करता? श्राद्ध यदि मृतकों की तृप्ति का कारण है तो ऐसा क्यों नहीं होता कि बुझते हुए प्रदीप का तैल ज्वाला संवर्धित कर दे? श्राद्ध से तृप्ति का सिद्धान्त मानने पर प्रवासयात्रियों के लिये पाथेय कल्पना व्यर्थ है क्योंकि जो घर में रह जाये उसे चाहिये कि प्रवासी के लिये श्राद्ध कर दे तो मार्ग में उसकी तृप्ति अनिवार्य होगी। यदि इस लोग में दान करने से परलोक में तृप्ति प्राप्त होती है तो अटाले के ऊपर स्थित लोगों के लिये भूतलस्थित लोग दान ही क्यों नहीं कर देते? अतः लोकायत सिद्धान्त यही है कि जब तक जीवित रहें तब तक सुखपूर्वक जीवन यापन करें और ऋण करके भी घृतपान करता रहें, क्योंकि भस्मीभूत शरीर का पुनरागमन कहाँ से होगा? यदि देह से निकल कर कोई आत्मा परलोक जाता है तो बन्धुओं के स्नेह से व्याकुल होकर वह पुनः क्यों नहीं लौट आता?

चार्वाक–दर्शन स्वर्ग, नरक आदि को ऐहिक मान लेता है जिसमें कर्मजन्य वासना इत्यादि का कोई योग नहीं होता। चतुर्भूत–संघात बनता है, फिर मिट जाता है। इन्हीं को क्रमशः जन्म एवं मरण की संज्ञा दी गई है। इस दर्शन का सारांश **सर्वदर्शन संग्रह** में दिया है।[५]

अर्थात, अङ्गना के आलिङ्गन से जन्य सुख ही पुरुषार्थ है और कण्टकादि व्यथा से जन्य दुःख को नरक कहा गया है। लोक–सिद्ध राजा परमेश्वर है, अन्य कोई ईश्वर नहीं है। देह का नाश ही मुक्ति है, किन्तु ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। इस दर्शन के अनुसार चार ही भूत हैं–पृथिवी, जल, तेज एवं वायु। जिस प्रकार वृक्षरसादि के समुदाय से मदशक्ति की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार चार समुदित भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानी गयी है। स्थूलता एवं कृशता का योग शरीर में ही पाया जाता है और मनुष्य अपने को सामानाधिकरण्यपूर्वक स्थूल एवं कृश मानता है। अतः देह ही आत्मा है, किन्तु देहेतर आत्मा असिद्ध है। 'मेरा शरीर' इत्यादि प्रयोग औपचारिक हैं।

चार्वाकों को सभी दर्शनों ने पूर्वपक्ष के रूप में लेकर प्रत्याख्यान का विषय बनाया है। परन्तु कर्मवाद को समझने के लिए इस दर्शन का प्रस्थान बिन्दु बताया जाता है। अनात्मवादी दर्शनों में बौद्ध–दर्शन पुनर्जन्मवादी, परलोकवादी

तथा कर्मविपाकवादी दर्शन है। आगे उसी का निरूपण किया जाएगा। चार्वाकों का सिद्धान्त पञ्चकारणी के अनुसार युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता। बौद्धों की पञ्चकारणी इस प्रकार है –

क– उत्पत्ति से पूर्व कार्य की अनुपलब्धि।

ख– कार्य की अनुपलब्धि में कारण की अनुपलब्धि।

ग– कारण की उपलब्धि में कार्य की उपलब्धि।

घ– कारण की उपलब्धि में कार्य की अनुपलब्धि। (जहाँ कारण के रहते भी कार्योत्पाद न हो)

ङ– कारण की अनुपलब्धि में कार्य की अनुपलब्धि।

इससे सिद्ध होता है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में जीवों के सुखभोग एवं दुःखभोग भी कार्य हैं। अतः उनकी उत्पत्ति भी आकस्मिक या अकारण नहीं हो सकती। कारण की खोज की जाए तो पुराकृत कर्म ही सामने आते हैं। अतः कर्मसिद्धान्त अविचल है। उसके बिना किसी जीवनदर्शन की समीक्षा नहीं की जा सकती।

आचार्य कुल,
कालिदास अकादेमी
उज्जैन (म. प्र.)

बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

टिप्पणियाँ

१. न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

कठोपनिषद, २.६

२. वाल्मीकी रामायण, २.१०८.३०

३. विष्णुराण, ४.१८.८४–८५

४. माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन प्रकरणे।

५. तत्रैव,

चेतना की द्वन्द्वात्मकता का वाहक- 'बुद्धिजीवी'

बुद्धिजीवी की भूमिका को लेकर अनेक प्रकार के प्रश्न समय-समय पर उठाए गए हैं कि समाज से, व्यक्ति से, ब्रह्मांड से तथा अस्तित्व के प्रश्नों से उसका क्या सम्बंध है? यदि है तो वह सम्बंध किस प्रकार का है? ऐसे कुछ प्रश्न हैं जिनको 'केन्द्र' में रख कर मैं बुध्दिजीवी की भूमिका और उसके दायित्व को एक ऐसा परिदृश्य देना चाहूँगा जिसमें स्वयं उसका अपना अस्तित्व एक 'अर्थ' प्राप्त कर सके।

यहाँ पर मैं 'बुद्धिजीवी' शब्द को एक व्यापक अर्थ में ले रहा हूँ जिसमें दार्शनिक, रचनाकार, कलाकार, समाजशास्त्री, वैज्ञानिक, भाषाविद्, इतिहासकार तथा धर्मवेत्ता आदि सभी का समावेश है, जो किसी न किसी रूप में समाज, व्यक्ति, प्रकृति और ब्रह्मांड के प्रश्नों से जूझते हैं और क्रमशः विचारदर्शन की प्रस्तावना करते हैं। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि ये 'विचार' शून्य में नहीं उपजते हैं, वरन् उनका कोई न कोई आधार इस प्रदत्त दिक् काल के संसार में होता है, जहाँ से वह वस्तुओं और चीजों को ग्रहण करता है, और उन्हें 'प्रतीक' के रूप में रूपांतरित एवं विवेचित कर नए अर्थ-संदर्भों की सृष्टि करता है। यह प्रक्रिया 'ज्ञान' और अनुभव की प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध बुध्दिजीवी से है। इस प्रकार बुध्दिजीवी किसी न किसी रूप में 'ज्ञान' का अन्वेषी है जिसका सम्बंध जगत्, जीवन, ब्रह्मांड और मनुष्य से है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी रखा जा सकता है कि बुध्दिजीवी जागतिक दिक्काल और पराजागतिक दिक्काल (अनंत) के दो स्तरों से टकराता है जो एक दूसरे के बिरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। मनुष्य की चेतना की बनावट कुछ

इस प्रकार की है कि उसमें आगे जाने की या 'संभावना' को साकार करने की इच्छा और उसकी 'उन्मुखता' एक ऐसी नियति है जो 'चेतना' द्वंद्वात्मक गति की परिचायक है। इस जागतिक और पराजागतिक (अनंत संभविता) व्यवस्था में जागतिक दिक्काल का अपना विशिष्ट स्थान है, क्योंकि इसी वर्तमान 'प्रतीति बिंदु' से वह अतीत और भविष्य या संभावना को पकड़ने का प्रयत्न करता है। इसी संदर्भ में एक बात यह उल्लेखनीय है कि जागतिक दिक्काल की वस्तुओं और प्रक्रियाओं के द्वारा ही वह अनन्त या सम्भावना को संकेतित करता है। घट, पिण्ड, सागर, लहर, बून्द, चातक आदि जागतिक दिक्काल के शब्द हैं जिनके द्वारा रचनाकार और विचारक बृहद् संदर्भों जैसे (ब्रह्मांड, परमात्मा) अनंत, ईश्वर आदि) की व्यंजना करता है। दूसरे शब्दों में, वह पिंड या लघु, (माइक्रोकाज्म) से ब्रह्मांड या विराट् (मैक्रोकाज्म) की व्यंजना करता है। इस तथ्य के द्वारा मैं जिस बात को स्पष्ट करना चाहता हूँ, वह यह है कि बुद्धिजीवी, चाहे वह किसी क्षेत्र से सम्बंधित क्यों न हो, वह किसी न किसी स्तर पर दिक्-काल को उपर्युक्त दो व्यवस्थाओं से न्यूनाधिक रूप से टकराता अवश्य है और साथ ही, अपने 'समय' के वर्तमान 'बिंदु' से जुडे वगैरे वह इतिहास और काल की गति को पकडने में असमर्थ रहेगा। अत: बुद्धिजीवी के पाँव अपने समय के गहरे यथार्थ से 'नालबध्द' जुडे रहते हैं, क्योंकि इसी स्तर से वह अतीत और संभावना का क्रमश: पुनर्विवेचन और अनुमान कर सकता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट होता है कि बुद्धिजीवी अपने समय और इतिहास की एक ऐसी 'उपज' है जो अतीत के प्रति विवेकपूर्ण दृष्टि रखता है, वर्तमान की ज्वलंत समस्याओं से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से टकराता है तथा भविष्य या संभावना का सांकेतिक प्रक्षेपण करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धिजीवी जहाँ एक ओर अपने समय के सरोकारों और ज्ञान-संवेदन के भिन्न आभासों से टकराता है, वहीं दूसरी ओर वह ब्रह्मांड और अस्तित्व के प्रश्नों से भी जूझता है, क्योंकि उसकी चेतना की संरचना इन दोनों क्षेत्रों को किसी न किसी रूप में ग्रहण करती है। इसी संदर्भ में एक बात यह भी है जो अक्सर कुछ लोगों के द्वारा उठायी गयी है कि बुद्धिजीवी का कार्य मात्र 'विचार' करना है, उसे कर्म से क्या लेना देना ? मेरे विचार से विचार-प्रक्रिया भी एक 'कर्म' है जो हवा में उत्पन्न नहीं होती है, वरन् , उसकी जडें अस्तित्व और जागतिक काल से गहरी जुडी होती हैं। यह ज्ञान या विचार-प्रक्रिया समाज में दो प्रकार से कार्य करती है-एक प्रत्यक्ष और दूसरे परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रकार में ज्ञान का सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है और इसमें विचारक या बुद्धिजीवी अपने विचारों को स्वयं कर्मरूप में परिणत करने का प्रयत्न करता है जैसे : गांधी, विवेकानंद,

मँडेला, आदि। प रोक्ष प्रकार में बुद्धिजीवी या विचारक समाज को विचार देता है जिसे वह स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं करता है, वरन्, वह विचार या दर्शन क्रमशः काल के दीर्घ आयाम में अन्य लोगों एवं वर्गों के द्वारा प्रचारित एवं कार्यान्वित किया जाता है। ऐसे विचारों का प्रभाव अपेक्षाकृत दूरगामी होता है। मार्क्स, आईस्टीन, कांट, शंकराचार्य आदि इसी कोटि के बुद्धिजीवी एवं चिंतक थे। इन दोनों प्रकार के बुद्धिजीवियों में 'विचार' का द्वन्द्वात्मक रूप प्राप्त होता है और इस दृष्टि से, विचार या ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से कर्मस्वरूप है, अधिक से अधिक उनमें गुणात्मक अन्तर माना जा सकता है। इससे एक तथ्य यह भी प्रकट होता है कि ज्ञान और कर्म का सापेक्ष सम्बंध है, इस सत्य के साथ कि कहीं वह प्रत्यक्ष है तो कहीं वह परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रकार की 'गतिशीलता' और परोक्ष प्रकार की 'गतिशीलता' में भी गुणात्मक अन्तर है, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि एक उच्चकोटि का है और दूसरा अपेक्षाकृत निम्नकोटि का, क्योंकि बुद्धिजीवी भी एक मानव है, अपनी सीमाओं और अभिवृत्तियों के साथ।

ज्ञान और कर्म के उपर्युक्त सापेक्ष सम्बंध से एक बात यह सामने आती है कि 'ज्ञान' का महत्त्व मानव एवं समाजकल्याण–सापेक्ष है, और इस दृष्टि से ज्ञान की एक एवं समाज विशिष्ट भूमिका 'परिवर्तन' को गति देने में है। यह परिवर्तन जहाँ एक ओर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन से जुड़ा हुआ है, वहाँ दूसरी ओर वह किसी न किसी मूल्यों और प्रत्ययों के विकास से भी जुड़ा हुआ है, जो किसी न किसी रूप में परिवर्तन को गति देते हैं। यह परिवर्तन गत्यात्मक एवं समय–अनूकूलित विचारों के द्वारा ही घटित होता है। पुराने विचार भी नए हो जाते हैं, जब वे समय–संदर्भ की आवश्यकता को किसी न किसी सीमा तक पूरा करते हैं। यदि गहराई से देखा जाए तो बुद्धिजीवी की जीवंतता और गतिशीलता मानव–विकास और परिवर्तन को गति देने में है।

अब प्रश्न यह है कि यह प्रगाति और परिवर्तन कैसे घटित होता है? मेरे विचार से इस परिवर्तन के दो घटक हैं, जिनका गहरा आपसी रिश्ता है। एक 'इलीट' (विशिष्ट बुद्धिजीवी समूह) और दूसरा जनमानस या जन समूह। इन दोनों के मध्य एक द्वन्द्वात्मक सम्बंध रहता है और दोनों किसी न किसी स्तर पर एक दूसरे को प्रभावित और प्रेरित करते हैं। राजतंत्रीय और सामंतीय व्यवस्था में यह सम्बंध परोक्ष रहता है, जिसे मैनहाइम ऊर्ध्वमुखी (वर्टिकल) कहता है। यहाँ पर 'इलीट' जनमानस से ऊर्ध्वमुखी 'दूरी' पर होता है और सामान्यतः व्यवस्था का अंग होता है। इस स्थिती में वह अभिजात–मूल्यों एवं सरोकारों की रक्षा करता है। यह एक सन्मान्य स्थिति है, यद्यपि उसमें अपवाद

हो सकते हैं। दूसरी ओर लोकातांत्रिक व्यवस्था में 'इलीट' और जन का सम्बन्ध अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष होता है और यह सम्बंध बहुत सीमा तक समानांतर रहता है। यही कारण है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में 'इलीट' जनचेतना से प्रेरणा ही नहीं लेता है वरन् उसके विकास में भी सहायक होता है। रचनाकार और विचारक न्यूनाधिक रूप से अपनी वैचारिकता और सृजनात्मकता को वहीं से अनुप्रेरित करते हैं। यही कारण है कि बुद्धिजीवी का एक बहुत बड़ा तबका जन-चेतना और जन-आंदोलनों से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा रहता है; और इसी ध्यातव्य से वह राजनीति और अर्थनीति को भी प्रभावित करता है। आज के संदर्भ में यह जनतांत्रिक चेतना का एक अपना आंतरराष्ट्रीय तेवर नजर आ रहा है और यह तेवर साम्यवादी खेमें में भी एक नयी ऊष्मा लेकर उपस्थित हो रहा है। इस विचार-दर्शन को मैं जन-संस्कृति का मिथक कहता हूँ जिससे विचारक एवं रचनाकार लगातार प्रेरणा और ऊर्जा ग्रहण करते रहे हैं। मार्क्स-वाद और गांधीवाद ने इस जन-संस्कृति के मिथक को इस प्रकार निर्मित किया है कि उनके द्वारा एक ऐसी जन-चेतना का विकास हुआ है जिसने शोषण; साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के खिलाफ जन-चेतना को आमने सामने लाकर खड़ा कर दिया है।

इसी संदर्भ में एक बात और है। जन-संस्कृति का 'मिथक' एक ऐतिहासिक परिवर्तन की सूचना देता है और साथ ही इतिहास के अर्थ को भी नया आयाम देता है। मध्यकालीन दैवी शक्ति का स्थान अब इतिहास ने ले लिया है और इसी के साथ इतिहास अब मात्र राजाओं और अभिजनों का ही नहीं है, वरन्, अब इतिहास की जनवादी व्याख्या सामने आयी है। इतिहास जहाँ एक ओर विचारों का इतिहास होता है, वहीं वह जनसामान्य की आकांक्षाओं; संघर्षों और उनके दमन-शोषण का भी इतिहास होता है। जब हम यह कहते हैं कि ''इतिहास' ही बताएगा या 'इतिहास' साक्षी है' तो हम एक प्रकार से 'मूल्य कथन' कर रहे होते हैं। इतिहास के प्रति यह परिवर्तित दृष्टिकोण 'जनवादी मिथक' की ही देन है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आधुनिक मिथकों का भी लगातार सृजन हो रहा है, जिनमें 'इतिवत्त' का हल्का पुट रहता है (प्राचीन मिथकों में अधिक) और वैचारिकता का अधिक प्रभाव, जिसके कारण आज के 'मिथक' सघनीकृत अधिक होते हैं। उसे और अधिक व्यापक अर्थ में कहें तो संस्कृति का जनतांत्रीकरण अपनी तीव्र प्रक्रिया में है जो न्यूनाधिक रूप से विश्व-फलक पर घटित हो रहा है। यह सारा परिवर्तन भिन्न क्षेत्रों के बुद्धिजीवी के द्वारा ही क्रमशः घटित हुआ है।

उपर्युक्त विवेचना से एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि विचार की गतिशीलता ही परिवर्तन को गति देती है जो जगत्; प्रकृति, व्यक्ति; ब्रह्मांड

आदि क्षेत्रों के रहस्यों का उद्घाटन करती है। मेरे विचार स बुद्धिजीवी यहाँ पर कोई ' वर्ग ' नहीं है, क्योंकि विचारक वर्ग से ऊपर होता है। यह दूसरी बात है कि आगे चल कर उसे वर्ग या वाद में बाँध दिया जाता है और इस स्थिति में विचार या प्रत्यय एक स्थिर रूप ग्रहण कर लेते हैं जिसकी विवेचना पुनर्विवेचना युगानुकूल होती रहती है। यह एक सतत चलनेवाली वैचारिक प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया के केन्द्र में है ' बुद्धिजीवी '।*

५ झ, १५, जवाहर नगर
जयपुर–३०२००४
(राजस्थान)

वीरेन्द्र सिंह

टिप्पणी

* प्रस्तुत लेख प्रोफेसर दयाकृष्ण जी के द्वारा राजस्थान विश्वविद्यालय; जयपुर, में आयोजित एक संगोष्ठि में प्रस्तुत किया गया था। संयोजकों के द्वारा उक्त लेख प्रकाशित करने को अनुमति मिली है। हम संयोजकों के आभारी हैं।

मंगल-फल-मीमांसा : न्याय-वैशेषिक के परिप्रेक्ष्य में

भारतीय समाज में प्रत्येक शुभ कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ईश्वरस्तुति की परम्परा प्रचलित है; क्योंकि जगत्कारणीभूत ईश्वर ही संसार के समस्त प्राणियों के क्रियाकलापों व प्रयत्नों का नियन्ता तथा संचालक है ऐसा स्वीकार किया जाता है। इसी कारण मनुष्य अपने द्वारा आरब्ध कार्य के निरापद रूप से सम्पन्न हो जाने की कामना से कार्यारम्भ से पूर्व ईश्वर की स्तुति करता है। ग्रंथ संरचना भी एक शुभ एवं महान् कार्य है, अतः उसके आरम्भ में भी ईश्वर स्तुति रूप मंगलाचरण प्रचलित है। यद्यपि ईश्वर-स्मरण मानसिक व्यापार है; परन्तु परम्परा की स्थापना तथा उसका निर्वाह इस को ध्यान में रख कर मंगल को अंकित कर दिया जाता है।

मंगल फलयुक्त होता है, इस विषय में आस्तिकों में कोई विवाद नहीं है। कारण, सदाचारयुक्त विद्वान् मंगल का आचरण करते हैं और उनका आचरण अनिन्दित समझा जाता है। अतः मंगल सफल होता है, यह निश्चित है। 'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनात् भूतितश्चेति'[1] इस सांख्य सूत्र से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। सप्त पदार्थी के मितभाषिणी टीकाकर माधवसरस्वती ने ऐसा ही विचार इन पंक्तियों में प्रकट किया है-'नमस्कारो वेदबोधितकर्तव्यताकः अलौकिकाविगीत शिष्टाचारविषयत्वात् दार्शाद्याचारवत्'[2] अर्थात्, नमस्कारादि रूप मंगलाचरण सफल होता है, क्योंकि वेद के द्वारा दर्शपूर्णमास के समान उसकी भी कर्तव्यता का कथन किया गया है और यह सदाचारयुक्त विद्वानों द्वारा आचरित भी है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ११, अंक ४, सितम्बर, १९९०

मंगल का फल क्या है ? इस विषय में प्राचीन एवं नव्य नैयायिकों में कुछ मतभेद पाया जाता है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार, मंगल विघ्नध्वंस के द्वारा कार्य की समाप्ति का कारण है। उदयनाचार्य[३] एवं शंकरमिश्र[४] आदि इसी मत के समर्थक हैं। प्राचीनमतानुयायी अपने पक्ष के समर्थन में यह तर्क देते हैं कि मंगल की कर्तव्यता को बतलाने वाला वेदवाक्य 'समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' इस रूप में प्राप्त होता है। दूसरे, आरब्धं कर्म मे निर्विघ्नं परिसमाप्यताम्' इस कामना से ही मंगल की ओर प्रवृत्ति होती है। विघ्नध्वंस की इच्छा के अधीन इच्छा का विषय होने से स्वयं पुरुषार्थ नहीं है; अतः वह मुख्य फल नहीं है। ग्रन्थ की समाप्ति स्वयं सुख का साधन है, अतः अन्येच्छानधीनेच्छा (अन्य किसी की इच्छा के अधीन न होना) का विषय होने से मंगल का फल होता है। इस मत के विरुद्ध यह आक्षेप किया गया है कि मंगल एवं कार्य की समाप्ति के मध्य कारण-कार्य-भाव किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता। इनमें अन्वय व व्यतिरेक दोनों ही दृष्टि से व्यभिचार स्पष्ट है। क्योंकि जिनमें कार्य-कारण भाव होता है, उनमें कारण के होने पर कार्य का होना देखा जाता है और कारणाभाव होने पर कार्याभाव भी पाया जाता है। किन्तु हम देखते हैं कि बाण भट्ट की कादम्बरी में मंगल रूप कारण के होने पर भी उक्त ग्रन्थ की समाप्ति नहीं हुई है। इसके विपरीत नास्तिकों के ग्रन्थ मंगल से रहित होने पर भी पूर्ण हैं।[५] इस आक्षेप का परिहार करते हुए उदयनाचार्य किरणावली[६] में लिखते हैं कि मंगलाचरण होने पर भी ग्रन्थ की समाप्ति न होने में तीन प्रमुख कारण हैं— १) कर्तृवैगुण्य—मंगलकर्ता में पर्याप्त श्रद्धा का अभाव हो या मंगल पर्याप्त मात्रा में न किया गया हो। (२) कर्मवैगुण्य – मंगल उचित व शुद्ध रीति से न किया गया हो। (३) साधनवैगुण्य – जहाँ विघ्न का निवारण स्वसामर्थ्य के द्वारा असम्भावित हो। यदि ये वैगुण्य न हों तो भी विघ्न के अत्यधिक प्रबल होने पर फल-प्राप्ति नहीं होती। कुछ विचारकों के मत में ऐसे अपूर्ण ग्रन्थों में वाचिक नमस्कार होने पर भी मानसिक नमस्कार (श्रद्धायुक्त समर्पण) का अभाव मानना चाहिये।

जहाँ मंगल के न होने पर भी कार्य की समाप्ति देखते हैं, वहाँ जन्मान्तरीय मंगल की कल्पना कर लेनी चाहिये। दूसरा तर्क यह भी दिया गया है कि ऐसे ग्रन्थों में वाचिक नमस्कार न होने पर भी मानसिक नमस्कार निश्चित रूप से किया गया होगा। इस प्रकार प्राचीन मतानुयायियों ने विविध तर्कों के आधार पर कार्य–समाप्ति को मंगल के फल के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

नवीन नैयायिक कार्य की समाप्ति में बाधा–कारक विघ्नों के ध्वंस (नाश) को ही मंगल का फल मानते हैं। तत्त्वचिन्तामणिकार गंगेश उपाध्याय[७] एवं

माधव सरस्वती ने इसी मत की प्रतिष्ठापना की है। उनका विचार है कि मंगल कार्य-सिध्दि में आने वाले प्रतिबन्धकों का विघ्वंसक है। विघ्नध्वंस हो जाने पर बुध्दि, प्रतिभादि कारणों के द्वारा समाप्ति स्वयमेव हो जाती है। इस प्रकार समाप्ति में विघ्नध्वंस भी एक कारण है और विघ्नध्वंस का कारण मंगल है। (इसका मतलब यह हुआ कि न्याय की पारिभाषिक शब्दावली में मंगल कार्य सिध्दि का व्यापार है।) चिन्तामणिकार का विचार है कि आरब्ध कर्म की समाप्ति में मंगल न तो आंगिक कारण है और न प्रधान ही। पापविघ्वंस करने वाले प्रायश्चित्त के सदृश विघ्नध्वंस ही मंगल का फल हे। मंगल के द्वारा विघ्नों का नाश निश्चित रूप से होता है, जिस प्रकार प्रायश्चित्त कें द्वारा पाप का नाश होता है। इसी सन्दर्भ मे नवीन मत में दोष दिखलाते हुए प्राचीन मतानुयायी शंकरमिश्र वैशेषिक सूत्रभाष्य 'उपस्कार' [८] में लिखते हैं कि पाप भी विघ्नरूप ही है और उसका विनाश प्रायश्चित्त से हो जाता है और वह मगलजन्य नहीं है। अतः नवीन मत में व्यभिचार स्पष्ट है।

नव्य नैयायिक इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार पाप से विघ्न उत्पन्न होते हैं, पाप स्वयं विघ्नरूप नहीं है और कृतपापस्वीकारोक्ति (प्रायश्चित्त) स पापक्षय होता है, यह सर्वाभिमत है। दूसरे, प्राचीनों का 'विघ्नरहित समाप्ति' रूप फल विशिष्ट फल है और 'नागृहीत विशेषणाविशिष्टे बुद्धिः' (याने, किसी भी विशिष्ट का हमें होनेवाला बोध विशेषण-विरहित कदापि नहीं हो सकता।) इस न्याय से विशिष्ट की सिद्धि विशेषण-सिद्धि के बिना संभव नहीं है। प्रस्तुत स्थल में 'निर्विघ्न'-पदवाच्य विघ्नाभाव ही विशेषण है और जब तक विघ्न का अभाव नहीं होगा, तब तक निर्विघ्न समाप्ति कैसे संभव होगी? विघ्नाभाव की उपस्थिति प्रथमतः होती है, अतः उसी का अन्वय मंगल के साथ हो जाता है और मंगल के आकांक्षारहित हो जाने से उसके साथ समाप्ति के अन्वित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त मंगलमात्र ही समाप्ति का कारण नहीं माना जा सकता। मंगल करने पर भी यदि बुध्दि, प्रतिभादि का अभाव हो तो कार्य-सिध्दि (समाप्ति) कथमपि संभव नहीं है। वस्तुतः मंगल के द्वारा मात्र विघ्नध्वंस होता है और तत्पश्चात् अन्य कारणों के सहयोग से समाप्ति होती है—ऐसा नव्यनैयायिकों ने प्रतिपादित किया है।

मंगल को विघ्नध्वंस का कारण मानने पर यह आशंका होती है कि जहाँ अत्यधिक पुण्य के फलस्वरूप विघ्न का अत्यन्ताभाव हो, वहाँ मनुष्य के द्वारा किया गया मंगल क्या निष्प्रयोजन होगा? इसका समाधान नव्यनैयायिकों ने यह दिया है कि ऐसे स्थल पर भी मंगल का निष्फल होना हमें अभीष्ट नहीं है। वस्तुतः ऐसे स्थल पर भी मंगल की अनुपादेयता नहीं मानी जा सकती। क्योंकि

विघ्नों के अतीन्द्रिय होने से जिस प्रकार उसके भाव का निश्चय नहीं हो सकता, उसी प्रकार उसके अभाव का निश्चय भी असम्भव ही मानना पड़ेगा। विघ्न का संशय होने पर मंगल करना न्यायसंगत ही माना जायेगा। इसलिये विघ्नध्वंस को मंगल का फल मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

आचार्य विश्वनाथ ने अपनी न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली[९] में प्राचीन एवं नवीन दोनों ही मतों की चर्चा की है, किन्तु उनका झुकाव नवीन मत की ओर ही प्रतीत होता है।

यदि हम तर्क-वितर्क को त्याग कर अनुभव को प्रमाण मानें तो मंगल का प्रयोजन 'विघ्नरहित कार्य-सिद्धि' ही है। किसी महान् कार्य को आरम्भ करने की इच्छा से युक्त व्यक्ति अपने इष्ट के प्रति इसी आशय से प्रार्थना करता है— "हे मालिक। मैंने आपकी ही प्रेरणा से इस कार्य को करने का संकल्प किया है; और आपकी अनुकम्पा से यह निर्विघ्न रूप से पूर्ण हो सकेगा। अत: आप मेहर बनाये रखियेगा।" इस प्रार्थना में 'विघ्नरहित समाप्ति' की ही कामना पूर्णतया अभिव्यक्त है।

संस्कृत विभाग — उर्मिला आनन्द
डी. ई. आई, दयालबाग
आगरा-२८२००५, (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ :-

१. सांख्यसूत्र- ५।१
२. सप्तपदार्थी की मितभाषिणी टीका-पृ. ३
३. किरणावली (बडौदा संस्करण) पृ. ३
४. वैशेषिकसूत्र की उपस्कार टीका-पृ. १०
५. शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य के आरम्भ में मंगल नहीं है।- सम्पादक
६. किरणावली-पृ. ३
७. तत्त्वचिन्तामणी-पृ. ५१
८. उपस्कार- पृ. ५
९. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली-पृ. १३

भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता का आदर्श : एक विवेचन

भारतीय सामाजिक जीवन में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की व्यावहारिक परिणति न हो पाने तथा साम्प्रदायिक तनावों और वैमनस्य की बढ़ती हुई जटिल समस्या का हल उनकी जनक स्थितियों तथा पोषक तत्त्वों की पहचान के माध्यम से ही संभव है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमें अनेक असुविधाजनक तथ्यों तथा अविश्वसनीय स्थितियों से साक्षात्कार की संभावना के लिए तैयार होना पडेगा। ऐसी तत्परता के अभाव में कारणों को पहचान कर उनका निदान करने की अपेक्षा उनके लक्षणों में ही उलझे रहने की सम्भावना अधिक रहती है। सर्व प्रथम हमें यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि धर्मनिरपेक्षता के सामाजिक आदर्श का भारतीय भूमि में प्रवेश पश्चिमी सभ्यता से आयातित समता तथा स्वतन्त्रता के आदर्शों के साथ औपनिवेशिक काल में ही हुआ। यद्यपि ऐसे दावे प्रायः किए जाते हैं कि धार्मिक सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का विशिष्ट तथा अभिन्न अंग है परन्तु ऐसे दावे करने वाले यह स्मरण रखने में संकोच करते हैं कि धार्मिक सहिष्णुता की भावना भारतीय सामाजिक परम्पराओं में इतनी गहरी और सशक्त नहीं रही जितनी समझने या मानने से हमें झूठे गौरव का अनुभव होता है। दक्षिणी भारत में शिव-भक्तों तथा विष्णु–भक्तों के शताब्दियों पुराने तनाव और संघर्ष, उत्तरी भारत में सनातन-धर्मियों के बौद्धों तथा जैनों के साथ पारस्परिक झगडे तथा कलह भी भारतीय संस्कृति के इतिहास का ही अंग हैं। इसलिए यह प्रचार कि भारतीय समाज में धार्मिक कट्टरता तथा असहनशीलता का प्रवेश इस्लाम के आगमन के कारण हुआ इतिहास की विकृत और पाक्षिक समझ पर ही आधारित हो सकता है। यह भी ध्यान रहे कि

धार्मिक सहिष्णुता की भावना धर्मनिरपेक्षता के लिए आवश्यक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। धर्म के प्रति जिस प्रकार की उदासीनता तथा विरक्ति किसी धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति के लिए आवश्यक है वैसी उदासीनता भारतीय मानसिकता के लिए सामान्य नहीं है। अलौकिक सत्ता तथा दैविक शक्तियों में आस्था, धार्मिक अन्ध विश्वास तथा दुराग्रह भारतीय मानसिकता में इतने गहरे पैठे हैं कि जन्म से ले कर मरण तक हम धार्मिक कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठानों से मुक्त ही नहीं हो पाते। किसी भी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने से पहले हम अपने पुजारियों, ज्योतिषियों, तान्त्रिकों से परामर्श करना तथा धर्मगुरुओं से निर्देश और आशीर्वाद प्राप्त करना अपने सौभाग्य के लिए अनिवार्य समझते हैं। यह प्रवृति जनसाधारण में तथा उच्चशिक्षा प्राप्त विद्वानों, वैज्ञानिकों, प्रशासकों, नेताओं, उद्योगपतियों; व्यापारियों तथा अधिकारियों के व्यवहार में समान रूप से अभिव्यक्त होती है। विडम्बनीय स्थिति तो यह है कि अणु-अनुसन्धान केन्द्रों में कई वैज्ञानिक भी प्रयोग-शालाओं के सक्रिय-आण्विक-क्षेत्रों में जाने से पूर्व **हनुमान चालीसा** का पाठ करते हुए सुरक्षित लौटने की प्रार्थना करते हैं। ऐसे व्यवहार को महज़ व्यक्तिगत निष्ठा तथा धार्मिक आस्था का मामला कह कर विरोधाभासों से मुक्ति नहीं मिल सकती। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ऐसी मानसिकता तथा व्यवहार मूलत: धर्मनिरपेक्षता विरोधी हैं। इस कथन के विरोध में कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ अपनी धार्मिक आस्थाओं को तिलांजलि देना न होकर दूसरे धर्मों के प्रति समान आदर का भाव रखना है। भारतीय संविधान में भी धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को स्वीकार करते हुए सभी नागरिकों को अपनी धार्मिक आस्थाओं, परम्पराओं तथा प्रार्थना-विधियों का पालन करने तथा उनको प्रचारित प्रसारित करने का अधिकार भी दिया गया है। उपरोक्त विवाद अथवा असहमति का आधार धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी ऐसी विपरीत मान्यताए हैं; जिनसे उत्पन्न विरोधी अपेक्षाओं को पूरा करना कठिन हो जाता है। ऐसे विवादों; असहमतियों को समुचित रूप से समझने के लिए धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं, स्थापनाओं, सिद्धान्तों की सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना उपयोगी रहेगा।

भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता तथा साम्प्रदायिकता सम्बधी अधिकांश चर्चाओं में यही समझा जाता है कि हिन्दी भाषा में प्रचलित शब्द 'धर्मनिरपेक्ष' अंग्रेजी भाषा के 'सैक्युलर' (Secular) तथा 'सैक्युलरिज्म' (Secularism) शब्दों के पर्यायवाची शब्द ही हैं। परन्तु भारतीय संदर्भ में इन शब्दों के अर्थ वैसेही नहीं समझे जाते जैसे इन्हें पश्चिमी वैचारिक परम्परा में समझा गया है। अंग्रेजी भाषा में इन शब्दों का प्रयोग एक विशिष्ट धार्मिक तथा साँस्कृतिक

परिवेश में विकसित जीवनदृष्टि, राजनैतिक आंदोलनों तथा आर्थिक-प्रक्रियाओं से निष्पादित सामाजिक लक्ष्यों को इंगित करने के लिए होता है। इस प्रकार 'धर्मनिरपेक्षता एक वैचारिक प्रत्यय होने के साथ ही साथ विवरणात्मक तथा मानक प्रत्यय भी है। यदि विवरणात्मक प्रत्यय के नाते धर्मनिरपेक्षता एक विशिष्ट जीवन-दर्शन का परिचायक है तो एक प्रतिमान के तौर पर कुछ विशेष सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समुचित नीतियों को मान्यता भी देता है। चूंकि प्रत्येक वैचारिक धारणा का उदय किन्हीं विशिष्ट ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों में होता है तथा यह परिस्थितियाँ सतत परिवर्तनशील रहती हैं, इसलिये अलग अलग समय पर विभिन्न समाजों में धर्मनिरपेक्षता के दृष्टिकोण, प्रतिपादित लक्ष्यों तथा नीतियों को विविध अर्थों में समझा या स्वीकार किया गया है। इस विविधता से उत्पन्न वैभिन्य तथा उसकी महत्ता, प्रासंगिकता तथा विशिष्टता को समझने के लिए यह उपयुक्त रहेगा कि भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी विवादास्पद मान्यताओं का विश्लेषण करने से पूर्व पश्चिमी युरोपीय समाज में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श के उद्भव तथा विकास की ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त अवलोकन किया जाए।

युरोपीय समाज में धर्मनिरपेक्षता के विकास की यात्रा की बडी लम्बी कहानी है। शताब्दियों तक युरोप में संगठित ईसाई धर्म का प्रभुत्व था। सामन्तवादी राज्य–व्यवस्था तथा गिरिजे के धर्माधिकारी पारस्परिक रूप में इतने जुडे हुए थे कि राजसत्ता की वैधता ही दैनिक अधिकारों पर आधारित समझी जाती थी। ध्यान रहे कि युरोप की स्थिति भारतीय स्थिति से इस तरह बहुत भिन्न थी कि न तो भारत की तरह युरोप में धार्मिक-सम्प्रदायों की विविधता थी और न ही युरोप की भाँति भारत में एक संगठित शक्तिशाली धार्मिक गिरिजा है जिससे राज्य-व्यवस्था को अपनी वैधता की स्वीकृति लेनी पड़ती हो। इन बन्दुओं को नज़र-अन्दाज करने से कई निरुत्तर कर देने वाले प्रश्नों से हम व्यर्थ में ही अपना सिर फोड़ने बैठ जाते हैं। १३ वीं शताब्दी में युरोप में नव जागरण (Renaissance) का आरम्भ हुआ। इस प्रक्रिया में परोक्ष रूप से यूनानी विवेकवाद का प्रभाव, आधुनिक विज्ञान का उद्भव तथा विकास; गिरिजे के धर्माधिकारियों तथा सामन्तों में होने वाले आपसी विरोधों तथा मानवतावादी दृष्टिकोण के उद्भव का महत्त्वपूर्ण योगदान मिला था। इस काल में गिरिजे तथा धर्माधिकारियों की प्रभुसत्ता पर प्रश्नचिन्ह लगा कर उन्हें राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में प्रभावहीन करने के प्रयास किए गए। तदोपरान्त, धार्मिक सुधार-आंदोलन (Reformation) के दौरान सामाजिक,

राजनैतिक तथा आर्थिक गतिविधियों को इह–लौकिक तथा सार्वजनिक समझते हुए उन्हें धार्मिक प्रभावों से सिर्फ मुक्त रखने पर ही बल नहीं दिया गया, बल्कि धार्मिक निष्ठाओं, आस्थाओं तथा अनुष्ठानों को पारलौकिक सत्ता से सम्बन्धित घोषित करते हुए सार्वजनिक क्षेत्र से उन्हें खदेड़ कर निजी व्यक्तिगत क्षेत्र में सीमित कर दिया गया। इसी काल में ईसाई मत के विभिन्न सम्प्रदायों में आपसी सहिष्णुता की भावना का भी विकास हुआ। राष्ट्र–राज्यों के उद्भव तथा विकास, वैज्ञानिक सिद्धान्तों, स्थापनाओं तथा मान्यताओं तथा धार्मिक निष्ठाओं के पारस्परिक संघर्ष में वैज्ञानिक विधि की उत्कर्षता की सिद्धि, लोकतान्त्रिक क्रान्तियों, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा औद्योगीकरण की आवश्यकताओं, तथा नियमानुसार वैधानिक शासन की व्यवस्था के परिणामस्वरूप युरोप में एक ऐसे नए जीवन–दर्शन का विकास हुआ जिसे धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार परम्परागत धार्मिक निष्ठाओं, आस्थाओं, मूल्यों की आलोचना तथा अस्वीकृति के परिणामस्वरूप ही धर्मनिरपेक्षता की भावना का विकास हुआ। पश्चिमी संस्कृति में पनपी इस आधुनिक जीवनदृष्टि के अनुसार सांसारिक अथवा सामाजिक गतिविधियों का संचालन अथवा नियन्त्रण किसी भी प्रकार की दैविक या परलौकिक सत्ता के हाथ में न हो कर मानव के ही वशमें है। सामाजिक व्यवहार में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, मानवीय समता तथा सामाजिक न्याय के आदर्शों की महत्ता स्वीकार करते हुए नागरिकों की धार्मिक निष्ठा को उनका निजी व्यक्तिगत मामला समझते हुए सामाजिक तथा राजनैतिक नीतियों के निर्धारण में उसे अप्रासंगिक तथा महत्त्वहीन माना गया। इसीलिए आधुनिक पश्चिमी समाजों में राज्य–प्रशासन द्वारा किसी भी नागरिक के साथ उसकी धार्मिक निष्ठाओं के कारण किसी भी प्रकार का भेदपूर्ण व्यवहार करना अनुचित माना जाता है।

पश्चिमी समाजों में धर्मनिरपेक्ष नीति का मुख्य लक्ष्य धर्म, राज्य तथा शिक्षा के क्षेत्रों में विभाजन–रेखा खींच कर उन में आपसी घुसपैठ अथवा हस्तक्षेप को रोकना है। यही समझा जाता है कि यदि किसी समाज में शिक्षा तथा शोध संस्थानों पर किसी प्रकार का धार्मिक दबाव अथवा नियन्त्रण नहीं है तथा कानून में सभी नागरिकों को बिना किसी धार्मिक भेदभाव के समान अधिकार उपलब्ध हैं तो ऐसी सामाजिक व्यवस्था को धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था कहा जा सकता है। उपरोक्त अवलोकन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि युरोप में धर्मनिरपेक्षता के दृष्टिकोण के विकास में निम्न धारणाएं अथवा मान्यताएं निहित हैं:

१) धार्मिक निष्ठा अथवा आस्था की प्रभुसत्ता की समाप्ति तथा विवेक अथवा तर्क को विश्वासों तथा निर्णयों के मूल्यांकन की कसौटी के रूप में स्वीकार किया गया। नैतिक मूल्यांकन को धार्मिक निर्णयों, आस्थाओं से पृथक् करने का प्रयास किया गया।

२) इहलौकिक तथा पारलौकिक गतिविधियों तथा जीवन के सार्वजनिक (बाह्य) और व्यक्तिगत (निजी, आन्तरिक) क्षेत्रों में स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचने का प्रयास किया गया।

३) सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा कलाविषयक गतिविधियों में धार्मिक संस्थाओं (गिरिजों तथा धर्माधिकारियों) की प्रभुसत्ता तथा हस्तक्षेप को समाप्त करने का प्रयास किया गया।

४) धर्मनिरपेक्षता का मूल उद्देश्य, नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की महत्ता पहचानते हुए, धार्मिक आस्थाओं के चयन तथा पालन का अधिकार प्रदान करना ही नहीं बल्कि उन्हें किसी भी या सभी धर्मों के प्रभाव अथवा प्रतिबन्धों से मुक्ति दिलाना भी है।

५) सामाजिक जीवन की वास्तविक समस्याओं का हल किसी काल्पनिक पारलौकिक क्षेत्र में ढूंढने की अपेक्षा इसी वास्तविक ऐतिहासिक समाज में राजनैतिक, आर्थिक तथा नैतिक व्यवस्था की पुनर्रचना के प्रयासों में ही निहित है। इस लिए प्रचलित सामाजिक मूल्यों, आर्थिक-राजनैतिक व्यवस्था के मूल्यांकन के लिए धार्मिक निष्ठाओं की अपेक्षा मानवीय विवेक का उपयोग करना प्रोत्साहित किया गया।

६) धार्मिक विश्वासों, निष्ठाओं, अनुष्ठानों को सार्वजनिक सामाजिक जीवन के लिए अप्रासंगिक अथवा महत्त्वहीन समझते हुए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, मानवीय समता तथा सामाजिक न्याय के आदर्शों पर आधारित नियमानुसार शासन की लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्रावधान किया गया। धर्मनिरपेक्षता केवल राज्य की प्रशासनिक, वैधानिक, न्यायिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक नीतियों तक ही सीमित न रहते हुए नागरिकों के आपसी सम्बन्धों तथा व्यवहार में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा मानवीय गरिमा के आदर की भावना में भी अभिव्यक्त हुई।

उपरोक्त मान्यताओं तथा धारणाओं के अवलोकन से धर्मनिरपेक्षता के आदर्श का बहुलक्षीय तथा बहुआयामी चरित्र स्पष्ट रूप से प्रस्तुत होता है। इन विविध आयामों तथा विभिन्न लक्ष्यों की सिद्धि एक साथ ही संभव न होने के कारण लक्ष्यों की वरीयता तथा आयामों की प्राथमिकता की समस्या उठ

खडी होना स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थितियों में व्यावहारिक स्तर पर धर्म-निरपेक्षता के आदर्श से प्रतिबद्ध व्यक्तियों तथा समुदायों में भी आपसी तनाव तथा विरोध उत्पन्न हो सकते हैं। इसी विविधता, विभिन्नता, असहमतियों; विवादों, तनावों तथा विरोधों के परिणामस्वरूप पश्चिमी समाजों में भी धर्म-निरपेक्षता के आदर्श का व्यावहारिक रूप एक सा नहीं है। उदाहरणतया, ब्रिटेन में 'चर्च आफ इंग्लैंड' ही राज्य के द्वारा एकमात्र प्रतिष्ठित चर्च है जिसके धार्मिक मुखिया ब्रिटेन के राजा अथवा रानी ही हो सकते हैं। इस स्थिति से संकीर्णता तथा धार्मिक दुराग्रह के शिकार कई भारतीय यह निष्कर्ष निकालने में सन्तोष का अनुभव करते है कि धर्मनिरपेक्षता की नीतियों का पालन करने के लिए राज्य का सभी धर्मों से एक समान दूरी रखना आवश्यक नहीं है। परन्तु ऐसा निष्कर्ष निकालने वाले यह भूल जाते हैं कि ब्रिटेन में बडी देर से चली आ रही आयरिश समस्या की पृष्ठभूमि में भी कैथोलिक ईसाईयों तथा 'चर्च आफ इंग्लैंड' की प्रतिष्ठित स्थिति से उत्पन्न हुए साम्प्रदायिक वैमनस्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यह ब्रिटिश धर्मनिरपेक्षता के लिए कोई गौरव की बात नहीं कि व्यावहारिक स्तर पर धार्मिक निष्ठाओं के कारण नागरिकों के प्रति किसी भी प्रकार का भेदपूर्ण व्यवहार न होते हुए भी किसी कैथोलिक अथवा अन्य धार्मिक सम्प्रदाय के व्यक्ति के लिए ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चुने जाने की संभावना कोरी कल्पना ही है। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका जैसे बहुजातीय, बहुधर्मीय धर्मनिरपेक्ष देश में भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा राजनैतिक निर्णयों को प्रभावित करने के प्रयास निरन्तर किए जाते हैं। मृत्युदण्ड, गर्भपात, समाधिमरण तथा कई अन्य विषयों पर विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों के अनुयाइयों द्वारा वैधानिक निर्णयों को प्रभावित करने के सक्रिय प्रयास किए जाते हैं। मतदान में भी धार्मिक तथा साम्प्रदायिक समर्थन और विरोध के उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि किसी गैर–ईसाई अथवा अश्वेत के लिए संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति पद का चुनाव जीत सकना निकट भविष्य में तो संभव नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यहूदियों पर किए गए अत्याचारों तथा नरसंहार से धार्मिक सहिष्णुता का सतही स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमी युरोप तथा अमरीका में वर्तमान समस्या सिर्फ धार्मिक सहिष्णुता की ही नहीं बल्कि जातिवाद तथा वर्ण पर आधारित भेदभाव को समाप्त अथवा नियन्त्रित करने की भी है। पूर्वी युरोप के समाजवादी देशों तथा सोवियत संघ में नागरिकों को धार्मिक निष्ठा की स्वतन्त्रता का अधिकार संविधान के कागजों में तो प्रदान कर दिया गया था, परन्तु इन राज्यों द्वारा अपने नागरिकों की धार्मिक गतिविधियों में किए गए अनुचित हस्तक्षेप तथा अघोषित गुप्त प्रतिबन्ध

हाल ही में हुए राजनैतिक परिवर्तनों के उपरान्त तो सर्वविदित ही हुए हैं। इस प्रकार विविधता तथा विषमता की सूचक स्थितियों से इस निष्कर्ष के लिए कोई संदेह नहीं है कि शताब्दियों से चले आ रहे लम्बे राजनैतिक और वैचारिक आंदोलन तथा लोकतान्त्रिक व्यवस्था के बाद भी धर्मनिरपेक्षता के आदर्श तथा यथार्थ में अनिवार्य खाई कहीं अधिक गहरी और कहीं उथली है। इस खाई को भरना उन समुदायों तथा नागरिकों का दायित्व है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, मानवीय समता तथा सामाजिक न्याय के आदर्शों का दम भरते हैं। पश्चिमी समाजों में इस संदर्भ में घटित हो रही प्रक्रियाओं, चल रहे आन्दोलनों, वृद्धिगत होती अपेक्षाओं तथा उद्भूत होने वाली आशंकाओं की चर्चा करने की अपेक्षा यह उपयुक्त रहेगा कि उपरोक्त अवलोकन के आधार पर हम भारतीय संदर्भ की विशिष्ट स्थितियों तथा समस्याओं की ओर ध्यान दें।

भारतीय संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यही है कि भारतीय धर्मनिरपेक्षता का उद्भव और विकास पश्चिमी समाज की भांति धार्मिक विश्वासों तथा आस्थाओं के प्रति किसी प्रकार के संदेह जगने या तार्किक प्रश्न उठने के कारण नहीं हुआ। हमारे यहाँ संगठित धार्मिक संस्थाओं की अनुपस्थिति के कारण धर्मसत्ता तथा राज्यसत्ता में कोई सीधा विरोध अथवा संघर्ष भी नहीं हुआ। संभवतया इसी लिए हमारी धर्मनिरपेक्षता न तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा मानवीय समता के लक्ष्यों को ही समर्पित है और न ही धार्मिक निष्ठाओं के प्रति किसी प्रकार के संदेहों अथवा अस्वीकृति पर आधारित है। हमारी धर्मनिरपेक्षता तो एक बहुसाम्प्रदायिक विषम समाज में विभिन्न समुदायों तथा व्यक्तियों द्वारा अपनी अपनी विशिष्ट धार्मिक अस्मिताओं को दूसरों के आक्रमण से सुरक्षित रखने के प्रयास का ही फल है। सुरक्षा के लिए किए जाने वाले ऐसे प्रयासों की पृष्ठभूमि में किसी न किसी प्रकार की आशंकाओं, भय, संदेहों तथा अविश्वास की सक्रिय भूमिका रहती है। यह एक विचारणीय तथ्य है कि भारतीय उपमहाद्वीप के सभी धार्मिक सम्प्रदायों में – चाहे वे सिक्ख, ईसाई, मुसलमान, हिन्दु कोई भी क्यों न हो – में आर्थिक स्थिति, खानपान, वेशभूषा, भाषा, जातीयता इत्यादि तत्त्वों की इतनी विविधता तथा विषमता है कि उनमें निष्ठाओं, कर्मकाण्ड तथा प्रार्थना–विधियों की समानताएँ भी एकात्मता या एकता की भावना को चिरस्थाई नहीं होने देती। इसलिए सभी सम्प्रदाय अपनी आन्तरिक विषमताओं से उत्पन्न तनावों के कारण कितने भी विभाजित तथा खण्डित क्यों न हों दूसरे सम्प्रदायों के मतावलम्बियों के लिए एक संगठित विरोधी का ही आभास देते हैं। इसी आभास के कारण वे एक दूसरे से आशंकित तथा भयभीत होते हुए पारस्परिक संदेहों तथा अविश्वास को और भी गहरा करते हैं। औपनिवेशिक काल में विदेशी

शासकों द्वारा किया गया दमन और शोषण विभिन्न समुदायों में संकट तथा असुरक्षा की भावना को तो जगाता ही था, अपने हितों की पूर्ति के लिए उनको एक दूसरे के विरुद्ध भड़काने में भी कोई संकोच नहीं किया गया।

औपनिवेशिक काल में भारतीय इतिहास के लेखन में भी विभिन्न कालों का विभाजन करते समय भी अंग्रेजी इतिहासकारों ने अपने हितों को दृष्टि से ओझल होने नहीं किया। यदि इस्लाम के आगमन से पूर्व-काल को हिन्दु सभ्यता का स्वर्णयुग घोषित किया गया तो इस्लाम के आगमन के बाद के काल को मुस्लिम अत्याचार तथा हिन्दु दासता के नारकीय काल के रूप में प्रस्तुत किया गया। परिणामस्वरूप भारतीय इतिहास का अत्यन्त विकृत तथा पाक्षिक चित्र भारतीय मध्यमवर्ग में प्रचलित हुआ। मुसलमानों में भी यह भावना जागृत की गई कि अंग्रेजों के आगमन से पहले भारत का शासन उन के हाथ में था और अंग्रेजों के चले जाने के बाद अल्पसंख्यक होने के कारण उनकी सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति बहुसंख्यक हिन्दुओं की कृपा पर ही आश्रित होगी। इस प्रकार की भ्रामक धारणाओं का दुष्प्रभाव स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय आंदोलन पर पड़ना अनिवार्य ही था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित भारतीय मध्यमवर्ग में राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। इस भावना की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति तो कुछ समय पहले सीखी गई उस नई आधुनिक शब्दावली में हुई जिसमें राजनैतिक हितों तथा धार्मिक निष्ठाओं को एक दूसरे से अलग ही रखा जाता है। परन्तु यह विचारधारा पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित रही, क्योंकि जनसाधारण के लिए ऐसी नई जीवनदृष्टि बिलकुल ही अजनबी थी। भारतीय सामाजिक जीवन में पारलौकिक तथा इहलौकिक, सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत, धार्मिक तथा राजनैतिक के मध्य सीधी विभाजन-रेखा खींच कर राजनैतिक कार्यक्रमों को धार्मिक गतिविधियों से बिलकुल अलग तथा असम्बद्ध रखना सरल नहीं था। संभवतया इसी कारण राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने वालों के लिए साम्प्रदायिक आग्रहों से मुक्त हो पाना या उनसे ऊपर उठ सकना एक दुष्कर चुनौती था। भारतीय मध्यम वर्ग के लिए ऐसी अप्रत्याशित तथा कठिन स्थिति में दुर्गम मार्ग की अपेक्षा सुविधाजनक दिशा की ओर आकर्षित हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि कांग्रेस में यदि एक वर्ग राष्ट्रीय प्रश्नों को हिन्दु पुनर्जागरण की शब्दावली में उठाते हुए हिन्दु राष्ट्रवाद के प्रवक्ता के रूप में उभरने लगा तो मुस्लिम लीग की स्थापना के साथ मुसलमानों का अलग स्वर भी प्रखर होने लगा। अंग्रेजी प्रशासन के लिए यह अनिवार्य और स्वाभाविक ही था कि उभर रही राष्ट्रीय

चेतना के विकल्प के रूप में साम्प्रदायिक विचारधारा को प्रोत्साहित किया जाए। ऐसी परिस्थितियों में भी कांग्रेस के कई नेताओं की मान्यता थी कि यदि विभिन्न सम्प्रदायों के सदस्यों को समान समस्याओं तथा मांगों पर संगठित रखने का प्रयास जारी रहे तो यदि साम्प्रदायिक मतभेदों को समाप्त नहीं तो कम अवश्य किया जा सकता है। परन्तु हिन्दु राष्ट्रवाद तथा मुस्लिम राष्ट्रवाद का अलग अलग नारा बुलन्द करने वाले नेताओं की ऐसे दृष्टिकोण की ओर कोई विशेष सहानुभूति नहीं थी। वास्तव में दोनों सम्प्रदायों के उग्रपन्थी नेता अपनी स्थापनाओं के माध्यम से एक दूसरे की स्थितियों को ही सशक्त बनाने में सहायक सिद्ध हो रहे थे। जनसाधारण से कांग्रेस के इस धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को विशेष समर्थन या सहयोग न मिले पाने का एक मुख्य कारण कांग्रेसी नेताओं द्वारा सम्पन्न वर्ग तथा शोषित जनसाधारण के पारम्परिक विरोधों में सीधे और स्पष्ट रूप से जनसाधारण के साथ न जुड़कर मध्यमवर्गीय अपेक्षाओं को ही अपने कार्यक्रमों में केन्द्रीय महत्त्व देना भी था। राष्ट्रीय आंदोलन की ऐसी स्थिति में गांधीजी ने अफ्रीका से लौटने के पश्चात प्रवेश किया। जैन, वैष्णव तथा ईसाई धर्म की परम्पराओं तथा आस्थाओं से प्रभावित गांधीजी के लिए न तो सार्वजनिक बाह्य जीवन और व्यक्तिगत आंतरिक निष्ठाओं के मध्य खींची गई विभाजन रेखा ही उचित थी और न ही धर्म और राजनीति को एक दूसरे से अलग रखना ही मान्य था। गाँधीजी का विश्वास था कि सभी धर्मों का चरम लक्ष्य तथा मर्म एक ही होने के कारण किसी भी सच्चे धार्मिक व्यक्ति के लिए दूसरे धर्मों के प्रति आदर तथा सम्मान की भावना स्वाभाविक ही है। मूलभूत प्रश्नों पर धार्मिक असहमतियाँ तथा विवाद सिर्फ उथलेपन, अहंकार तथा भ्रामक धारणाओं का ही परिणाम थे। गाँधीजी का विश्वास था कि विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों में एक दूसरे के प्रति सहयोग तथा सहनशीलता की भावना विकसित की जाती है। गांधीजी के अनुसार एक धार्मिक व्यक्ति के लिए धर्मनिरपेक्ष होने का अर्थ ही "सर्वधर्मसमभाव" के दृष्टिकोण को अपने जीवन में व्यावहारिक रूप देना था। गाँधीजी की व्यक्तिगत निष्ठा तथा धार्मिक मान्यताओं के बारे में बिना कोई प्रश्न-चिन्ह लगाए भी "सर्वधर्म समभाव" के आदर्श की बिवेचना की जा सकती है। परन्तु इस ओर ध्यान देने की अपेक्षा गाँधीजी द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन को दिए गए नेतृत्व तथा उनकी व्यावहारिक राजनीति के परिणामों को पहचानना अधिक प्रासंगिक रहेगा।

गांधीजी ने जनसाधारण की धार्मिक आस्थाओं तथा संवेदनाओं का उपयोग उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रेरक के रूप में किया। धार्मिक परम्पराओं से उपलब्ध शब्दावली का प्रयोग करते हुए उन्होंने सत्याग्रह,

अहिंसा, रामराज्य, हरिजन, दरिद्रनारायण, अन्त्योदय इत्यादि के नए अर्थ राष्ट्रीय आंदोलन में जनसाधारण को सम्बोधित करते हुए दिये। गांधीजी का दृढ़ विश्वास था कि धार्मिक आस्था तथा प्रतिबद्धता पर आधारित जन-आंदोलनों में जो राष्ट्रीय भावना उभरेगी वह इतनी सशक्त होगी कि प्रचलित भ्रामक धारणाएं तथा साम्प्रदायिक मतभेद राष्ट्रीय संघर्ष की भट्टी में अपने आप ही समाप्त हो जाएंगे। गांधीजी के नेतृत्व में जनसाधारण को संगठित करने के लिए किए गए प्रयासों को सक्रिय समर्थन तथा सहयोग मिला। गांधीजी ने जनसाधारण की परिचित शब्दावली के उपयोग के साथ ही साथ अल्पसंख्यकों का सहयोग तथा समर्थन प्राप्त करने के लिए उन्हें बार बार आश्वासन दिया कि उनके हित काँग्रेस के नेतृत्व में पूर्णतया सुरक्षित हैं। खिलाफत आंदोलन तथा गुरुद्वारा आंदोलन को पूर्ण समर्थन दे कर गांधीजी ने राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेसी कार्यक्रमों के लिए मुसलमानों तथा सिक्खों का सहयोग प्राप्त करने में भी सफलता प्राप्त की। परन्तु राष्ट्रीय आंदोलन के लिए की गई इस योजना का मुख्य आधार एक प्रकार साम्प्रदायिक तथा जातीय स्तर तक ही सीमित रहा, क्योंकि जनसाधारण को एक संघर्षशील राष्ट्र के नागरिकों के रूप में संगठित करने की अपेक्षा उन्हें विभिन्न संप्रदायों तथा जातियों के अंग के नाते ही राष्ट्रीय आंदोलन में सम्मिलित होने के लिए प्ररित किया गया। गांधीजी की लोकप्रियता तथा सफलता का मुख्य कारण जनसाधारण की समस्याओं को उनकी भाषा में स्वर दे कर जन-मानस में व्याप्त गहरी धार्मिक सम्वेदनाओं को समाज सुधार तथा राजनैतिक परिवर्तन के लिए अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से जगाना था। गांधीजी कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन को जनस्वीकृति दिलाने में तो सफल रहे, परन्तु उनका यह विश्वास सही नहीं निकला कि स्वतन्त्रता-आंदोलन के समान संघर्ष में "सर्वधर्मसमभाव" का सिद्धान्त साम्प्रदायिक दरारों को अपने आप ही समाप्त कर देगा। १९४७ में कांग्रेस नेताओं की सहमति के साथ—इस सहमति में जवाहर लाल नेहरू भी सक्रिय तौर पर शामिल थे—साम्प्रदायिक आधार पर भारतीय उपमहाद्वीप का विभाजन हुआ। इस सारे घटनाचक्र में विभाजन की परिस्थितियों की अनिवार्य परिणति कह देने मात्र से अथवा सारा दोष मुस्लिम लीग तथा अंग्रेजों के सिर मढ़ देने से हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के धर्म-निरपेक्षता से प्रतिबद्ध नेतृत्व का दायित्व सम्पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाता। यद्यपि महात्मा गांधी इस विभाजन के लिए वैसे तत्पर तो नहीं थे जैसी तत्परता तत्कालीन कांग्रेसी नेतृत्व ने दिखाई थी, फिर भी उन्हें इस विभाजन का मूक दर्शक तो बनना ही पड़ा। राष्ट्रीय आंदोलन की इस परिणति से चार निष्कर्ष निकाले जा सकते है: (i) पहला यह कि धर्मनिरपेक्षता की भी ऐसी व्याख्या – जिसके अनुसार समाज के सदस्यों को स्वतन्त्र व्यक्ति (नागरिक) के रूप में देखने की अपेक्षा विभिन्न

तथा विशिष्ट सम्प्रदायों तथा जातियों के अंग के रूप में अधिक महत्ता दी जाती है – के लिए रचनात्मक राजनीति को जन्म देना कठिन ही है। (ii) दूसरा यह कि जब भी धर्मनिरपेक्ष लक्ष्यों अर्थात् राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक संरचनाओं, व्यवस्था तथा व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए किसी भी आंदोलन का संगठन साम्प्रदायिक अथवा जातीय आधार पर किया जाता है तो उस आंदोलन की सफलता-असफलता जैसी भी हो—का अनिवार्य परिणाम यही है कि साम्प्रदायिक तथा जातीय वैमनस्य में वृद्धि ही होगी (iii) तीसरा यह कि स्वतन्त्रता के लिए भारतीय राष्ट्र–आंदोलन के नेता अपनी साम्प्रदायिक विचार-धारा, विवादों असहमतियों, पूर्वाग्रहों तथा दुराग्रहों से पूर्णतया मुक्त हो कर धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता के आदर्श को सशक्त व्यावहारिक रूप दे पाने में सफल नहीं हो सके भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन के इतिहासकारों में से अधिकांश विद्वान् साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति के दो रूपों में से एक को तो विभाजन के लिए जिम्मेवार ठहराते हुए उसकी आलोचना भी कर लेते हैं; लेकिन दूसरे रूप के बारे में अक्सर मौन ही रह जाते हैं। मुखर और स्पष्ट रूप में साम्प्रदायिकता की अभिव्यक्ति हिन्दु और मुस्लिम राष्ट्रवाद में हुई। यदि हिन्दु राष्ट्रवाद का लक्ष्य भारत में हिन्दु राज्य की स्थापना कर के मुसलमानों को बाहर खदेड़ना था तो यह कार्यक्रम मुसलमानों की ही उस मांग को समर्थित करता था जिसकी अन्तिम परिणति एक अलग देश पाकिस्तान के अस्तित्व में हुई। परन्तु साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के सूक्ष्म तथा जटिल रूप को समझना सुसंस्कृत स्वरूप में अपनी धार्मिक मनोवृत्तियों तथा आग्रहों पर पर्दा डालते दूसरे सम्प्रदायों के समर्थन तथा सहयोग के लिए सुविधानुसार समझौते करने की नीति को और कोई भी नाम दिया जा सकता है परन्तु उसे धर्मनिरपेक्षता का नाम देना अपने ही बनाए सब्ज़बाग के बहकावे में आना है। याने इससे बढ़ कर आत्मवंचना का और कोई बेहतर मिसाल न होगा। (iv) इन तीन निष्कर्षों के आधार पर चौथा निष्कर्ष भविष्य में सावधानी की नीति अपनाने का सुझाव है। भारत में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को तब तक व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता जब तक राजनैतिक दल तथा अन्य सामाजिक संगठन अपनी गतिविधियों तथा लक्ष्यों को जातीय तथा साम्प्रदायिक हितों की सुविधाजनक राजनीति से सम्पूर्णतया अलग कर के जनसाधारण की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं तथा अपेक्षाओं को स्थानीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर नितान्त गैर-साम्प्रदायिक आर्थिक–राजनैतिक शब्दावली में प्रस्तुत करने का संकल्प नहीं कर लेते। यदि हमारा समाज ऐसे व्यवहार के लिए तैयार नहीं होता तो धर्म-निरपेक्षता एक संवैधानिक मिथक के रूप में शायद सुरक्षित न रह सकेगा।

गाँधीजी के द्वारा प्रमाणित धर्मनिरपेक्षता की देशी व्याख्या की विवेचना हमें भारतीय संविधान में प्रतिपादित धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी नीतियों तथा प्रावधानों की सीमाओं को पहचानने में सहायक रहेगी।' 'सर्वधर्मसमभाव' की धारणा से प्रभावित धर्मनिरपेक्षता की व्याख्याओं में सिर्फ धार्मिक सहनशीलता अथवा सहिष्णुता को अपर्याप्त समझते हुए 'सभी धर्मों के लिए समान आदर' की भावना को सर्वाधिक महत्ता दी जाती है। ऐसे दृष्टिकोण से प्रभावित होने के कारण हमारे संविधान–निर्माताओं ने संविधान में कई ऐसे प्रावधानों का समावेश किया जिनसे धर्मनिरपेक्षता को बल मिलने की अपेक्षा साम्प्रदायिक शक्तियों को अधिक लाभ हुआ है। प्रश्न सिर्फ पाश्चात्य सांस्कृतिक परम्परा से आयातित आदर्श की प्रासंगिकता का ही न हो कर धर्मनिरपेक्षता के भारतीय संस्करण की प्रामाणिकता, सामंजस्यता तथा व्यावहारिकता का भी है।

भारत में कई धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों तथा विभिन्न भाषाओं के लोग रहते हैं। इनमें से मुस्लिम, सिक्ख, बौद्ध, जैन, हिन्दु, ईसाई, पारसी प्रमुख कहे जा सकते हैं। इन सभी सम्प्रदायों अथवा मतों में भी अनेक प्रकार की आन्तरिक विविधता के परिणामस्वरूप इतने विवाद और असहमतियाँ हैं कि इनको अपने आप में सम्पूर्णतया संगठित, अखंड, निर्भेद, धार्मिक इकाईयाँ मानना भ्रामक ही है। यदि मुसलमानों में सुन्नी और शिया, ईसाईयों में सीरियन, कैथोलिक, तथा प्रोटेस्टैण्ट इत्यादि मतों में तीव्र मतभेद है तो हिन्दुओं में भी शैवों, वैष्णवों, सनातनों, आर्यसमाजियों, दुर्गा के उपासकों, तान्त्रिकों तथा अन्य मतानुयाइयों में कई प्रकार के विवाद हैं। आपसी मतभेदों तथा विवादों को स्वीकार करते हुए भी कई हिन्दु, बौद्धों, जैनियों तथा सिक्खों को विशाल हिन्दुत्व के आंतरिक पंथ या समुदाय घोषित करने में ही अपने हिन्दुत्व की महानता समझते हैं। प्रश्न यही उठता है कि यदि इन सभी धर्मों, सम्प्रदायों में इतने आंतरिक तथा पारस्परिक मतभेद और विरोध हैं तो इन सब का हृदय अथवा मर्म एक कैसे हो सकता है ? इस विविधता में एकता देखने वालों का कहना है कि ईश्वर, अल्लाह, वाहे गुरू, गॊड, ब्रह्म, राम, रहीम, परमात्मा, पिता, माता–नाम कोई भी दिए गए हों–सभी एक ही अलौकिक दैविक शक्ति को सम्बोधित करने के ढंग हैं। निर्गुण परम्पराओं में तो नाम–रूप को भी विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। कई लोगों का तो यह भी विचार है कि बिना किसी अलौकिक अथवा दैविक सत्ता में विश्वास किए, सिर्फ इस विश्व के अस्तित्व, प्रक्रियाओं तथा घटनाओं की मूलभूत रहस्यात्मकता को स्वीकार कर लेना भी धार्मिक मनोवृति के लक्षण हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्राकृतिक विपत्तियाँ, महामारी, भूकम्प, असामयिक मृत्यु, दुर्घटनाएं, निराशा, दुख, पीडा, वैमनस्य, विरह, अनपेक्षित

अलगाव, भ्रामक विश्वास इत्यादि मानव जीवन के शाश्वत अंग हैं। मानवीय अस्तित्व के इस अनिवार्य बेसुरेपन तथा कड़ुवाहट को मानवीय सीमा स्वीकार कर अनुगृहीत तथा संतुष्ट रहने की प्रेरणा सभी धर्मों द्वारा दी जाती है। यही धार्मिक चेतना का सार अथवा मर्म है जो सहिष्णुता, सहयोग, करुणा, विनम्रता तथा अनासक्ति की भावनाओं को प्रोत्साहित करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि धार्मिक चेतना के मूल स्वरूप में व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्तर पर मानवीय अक्षमताओं तथा निर्बलताओं की अनुभूति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इस साम्यता के होते हुए भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का स्वतन्त्र अस्तित्व तथा पहचान इस अनुभव की केन्द्रीयता पर आश्रित नहीं है। प्रत्येक धर्म की अपनी विशिष्ट मान्यताएं तथा सिद्धान्त हैं जिन के प्रति असंदिग्ध अखंड आस्था रखना उस धर्म के अनुयायी होने की मूल और प्रभावशाली शर्त है। इन मान्यताओं तथा सिद्धान्तों में विश्व के उद्भव तथा विकास के बारे में विशिष्ट दृष्टिकोण तथा स्थापनाओं के अतिरिक्त मानवीय अस्तित्व के चरित्र, मानवों में पारस्परिक सम्बन्धों के निर्देशक सिद्धान्त, प्रार्थना तथा अन्य अनुष्ठानों की विधियाँ, ज्ञान का स्वरूप, दैवी कृपा सम्बन्धी धारणाएं तथा स्थापनाएं भी समाविष्ट रहती हैं। इन स्थापनाओं, धारणाओं को इतना पावन और पवित्र समझा जाता है कि उन को अस्वीकार करना अथवा उनके बारे में कोई संदेह प्रकट करना नितान्त अशुभ कर्म समझा जाता है। विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में ऐसे अशुभ कर्मों के लिए दण्ड-विधान भी प्रयोजित हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि विभिन्न धर्मों की व्यवस्था में कभी कोई परिवर्तन ही नहीं हुए या हो ही नहीं सकते। धार्मिक परम्पराएं भी परिवर्तनशील हैं; परन्तु संगठित संस्थात्मक स्तर पर स्वीकृत धार्मिक निष्ठाओं तथा व्यवहार के साथ असहमति अथवा उनकी आलोचना धार्मिक दृष्टि से अपधर्मिता ही समझी जाती है। विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों, उनकी व्याख्याओं, प्रार्थना-विधियों तथा कर्मकाण्ड में इतने विरोध हैं कि कई स्थितियों में दूसरे धर्म की स्थापनाओं, मान्यताओं के साथ सहमति ही—उनका आदर करना तो और भी गहरी और दूर की बात है—अपनी धार्मिक निष्ठाओं को त्याग बिना संभव नहीं है। क्या एक यहूदी के लिए ईसा को प्रभु का पुत्र स्वीकार कर पाना संभव है? श्री गुरु ग्रन्थ साहिब को ही दस गुरुओं के बाद गुरु मानने के आदेश के बाद किसी भी सिक्ख के लिए किसी अन्य व्यक्ति या पुस्तक को गुरु स्वीकार कर पाना संभव है? ऐसे और भी कई प्रश्न उठाए जा सकते हैं जिन के उत्तरों से स्पष्ट हो जाएगा कि अमूर्त स्तर पर सभी धर्मों के लिये समान आदर की बात कहना भी उन्हीं लोगों के लिए संभव है जो विशिष्ट धार्मिक परम्पराओं के अन्धभक्त नहीं हैं। परन्तु असंदिग्ध अखंड आस्था तथा अन्धभक्ति में क्या कोई अंतर किया जा सकता है?—इस प्रश्न के उत्तर में यही

कहा जा सकता है कि एकधर्मीय समाज में स्वीकृत धारणाओं के साथ असहमति प्रकट करने का साहस करना तथा बाद में कभी विरोधी स्वर बोलने वाले सभी लोग समान रूप से सौभाग्यशाली नहीं होते–प्रारम्भिक समस्याओं, यातनाओं विरोधों को सहन करने के उपरान्त अपने धार्मिक समुदाय में प्रतिष्ठित स्थान भी प्राप्त कर लेने का अर्थ यह नहीं है कि विवेकपूर्ण आलोचना परम्परागत धार्मिक दृष्टिकोण के लिए मान्य अथवा स्वीकार्य है। किसी भी संगठित, संस्थागत धर्म की परम्परा में पले व्यक्ति के लिए अपनी आस्थाओं को विरोधी मान्यताओं का आदर करना तो दूर, आपातत: स्वीकार कर पाना भी असंभव है। विरोधी धार्मिक आस्थाओं के प्रति सहिष्णुता की भावना भी तभी विकसित हो सकती है यदि हम धार्मिक आस्थाओं को सामूहिक अस्मिता के प्रश्न से तोड़ कर उन्हें व्यक्तिगत निष्ठा तथा निजी जीवन के क्षेत्र में सीमित करने में तनिक भी झिझक अनुभव नहीं करते हैं।

सर्वधर्मसमभाव के सिद्धान्त को मानने वालों के लिए धर्मपरिवर्तन का विषय भी कई टेढी समस्याएं प्रस्तुत करता है। यदि सभी लोग सभी धर्मों का समान आदर करते हैं तो क्या बिना दूसरे धर्म को अस्वीकृत तथा अपमानित किए अपने धर्म के पक्ष में दूसरे धर्म के अनुयायियों को धर्मपरिवर्तन के लिए कहा जा सकता है ? यदि दूसरे धर्मों के मतावलम्बियों को धर्मपरिवर्तन के लिए सहमत करना अथवा प्रोत्साहित करना दूसरे धर्मों के प्रति समान आदर का सूचक नहीं है तो धर्मप्रचार अथवा प्रसार की गतिविधियों तथा कार्यक्रमों का क्या कोई और अर्थ भी संभव है ? सभी धर्मों के प्रति समान आदर करने वाले व्यक्ति के लिए क्या धर्मपरिवर्तन का कोई अर्थ या महत्त्व भी हो सकता है ? धर्म के हृदय अथवा मर्म को पहचान लेने वाले व्यक्ति के लिए यदि सभी धर्मों के प्रति सम्यक् भाव है तो उसके लिए यह एक नैमित्तिक मात्र बात है कि उसके पूर्वज तथा अन्य सम्बन्धी किस मत को प्राथमिकता देते थे और किस सम्प्रदाय की आस्थाओं के साथ उसका परिचय पहले हुआ था। धार्मिक स्वभाव के व्यक्तियों के लिए सर्वधर्मसमभाव का लक्ष्य व्यक्तिगत स्तर पर आकर्षक आदर्श तो हो सकता है, परन्तु एक बहुधर्मीय समाज में सामाजिक नीतियों के निर्धारण के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। इस दृष्टिकोण की एक महत्त्वपूर्ण सीमा (अथवा त्रुटि ?) यह भी है कि अप्रत्यक्ष तथा अव्यक्त स्तर पर 'सभी धर्मों के लिए समान आदर' का सिद्धान्त धर्म की प्रभुसत्ता को चुनौती देने से बचता है। धार्मिक दृष्टिकोण के समर्थकों का तर्क है कि पश्चिमी सभ्यता में विकसित धर्मविरोधी वैज्ञानिक जीवनदर्शन में अन्तर्निहित मानवीय अहंकार तथा दम्भ की अनावृति के बाद जिस प्रकार का मोहभंग समकालीन पश्चिमी संस्कृति में स्पष्ट

झलक रहा है उससे विज्ञान की सीमा तथा धर्म की उत्कृष्टता के बारे में कोई संदेह नहीं रहा है। इस प्रकार की स्थापनाओं तथा दावों से संस्थागत पारम्परिक धर्मों की मान्यताओं, सिद्धान्तों तथा कर्मकाण्ड की वैधता-अवैधता, औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी विवादों, असहमतियों में परम्परागत दृष्टिकोण को किसी भी प्रकार का वैचारिक लाभ नहीं होता, तात्कालिक संतोष भले ही मिलता हो।

वास्तविक स्थिति तो यही है कि सभी परम्परागत धर्मों तथा उनके निष्ठावान् मतावलम्बियों के लिए धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को स्वीकार कर पाना अत्यन्त कठिन है – विशेषकर बहुधर्मीय समाजों में। परम्परागत सामाजिक जीवन में धर्मगुरुओं तथा धर्मग्रन्थों से प्राप्त निर्देशों के अनुसार अपने जीवन को नियोजित कर लेना अधिक सुविधाजनक है, क्योंकि इसमें चयन और निर्णय की समस्याएं कभी भी नितान्त व्यक्तिगत स्वरूप नहीं ले सकतीं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपना आकर्षण तो हो सकता है, परन्तु उस के साथ जुड़े हुए व्यक्तिगत दायित्व का बोझ हमें असहनीय भी लगता है। इसलिए दायित्व के बोझ के तले कुचले जाने की अपेक्षा यह अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है कि परम्परा से उपलब्ध पावन और पवित्र सिद्धान्तों, आदेशों पर बिना कोई संदेह किए उन का पालन करते जाओ। परम्परागत समाजों में धार्मिक-निष्ठाओं की जकड़ इतनी मजबूत होती है कि अधिकांश व्यक्तिगत स्थितियों में भी स्वतन्त्र चयन की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता। सारा जीवन पूर्वनिश्चित स्थापनाओं, मान्यताओं द्वारा इस प्रकार व्यवस्थित रहता है कि अनपेक्षित स्थितियों में भी स्वयं निर्णय लेने की अपेक्षा सयानों की राय लेना अधिक उचित प्रतीत होता है। और यदि किसी दूसरे सम्प्रदाय के लोगों की आस्थाएं तथा व्यवहार अपनी भिन्नता के कारण आकर्षक भी प्रतीत होते हैं तो लोकापवाद, निन्दा तथा बहिष्कृत किए जाने के भय से अपनी परम्परागत निष्ठाओं का पालन करना ही अधिक सुरक्षित प्रतीत होता है। बहुत विरले और असाधारण लोग ही बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रहों अथवा स्वार्थों के दूसरी व्यवहार-परम्परा से खुले मन से सीखने के लिए तैयार होते हैं। आधुनिक संचार-साधनों तथा आवागमन की सुविधाओं के कारण संकीर्णता तथा कट्टरता में जो कमी आई भी है उसके पीछे धार्मिकता नहीं, बल्कि आधुनिक उदारवादी दृष्टिकोण का प्रभाव ही प्रतिबिम्बित होता है। व्यक्तिगत स्तर पर धर्मनिरपेक्षता के मार्ग में जो बाधाएं आती हैं उनका एक मुख्य आधार संस्थात्मक-संरचनात्मक भी है। सामूहिक स्तर पर भी यह धर्माधिकारियों, धर्मगुरुओं तथा यथास्थिति से लाभान्वित वर्ग के हित में कदापि नहीं हो सकता कि जनसाधारण परम्परागत नियन्त्रणों तथा प्रभावों से मुक्त हो कर अपनी समस्याओं को अपने व्यक्तिगत निजी मामले समझते हुए अपने लिए निर्णय स्वयं

लेने लगें। धर्मनिरपेक्षता के विवेकशील आदर्श की व्यावहारिक सिद्धि या अनिवार्य परिणाम सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में धार्मिक नियन्त्रणों तथा धार्मिक प्रभाव की समाप्ति है। ऐसा होने पर धर्मगुरुओं, धर्माधिकारियों तथा साम्प्रदायिक नेताओं की महत्ता, सत्ता और वैभव में क्षीणता आने तथा निहित स्वार्थों की पूर्ति न हो पाने की आशंका निराधार नहीं है। संभवतया धर्मनिरपेक्षता के मूल आदर्श की अपेक्षा इस के विचित्र भारतीय संस्करण को सहज स्वीकृति और मुखर समर्थन उन तत्त्वों तथा शक्तियों से ही प्राप्त हुए हैं जिनसे धर्म-निरपेक्षता का सर्वाधिक विरोध अपेक्षित था।

हमारे संविधान निर्माताओं ने धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की स्वीकृति तथा समर्थन के लिए भारतीय समाज के सभी वर्गों की सहमति प्राप्त करने का प्रयास किया। साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद के दबाव में आ कर देश का विभाजन स्वीकार कर लेने के बाद शेष भारत के और खंडित तथा विभाजित होने की आशंका-जनक परिस्थितियों ने संविधान निर्माताओं के लिए कई प्रकार के समझौते के लिए भी विवश किया होगा। यह भी एक परिस्थितिजन्य विवशता ही थी कि बहुसंख्यकों की धर्मनिरपेक्षता सिद्ध करने के लिए अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों को किसी न किसी प्रकार पूर्णतया संतुष्ट रखा जाए। लेकिन ऐसा तभी संभव था यदि बहुसंख्यकों भी कुछ रियायतें दी जाएं। इसलिए संविधान-निर्माताओं ने एक नहीं बल्कि कई प्रकार के समझौते किए। देश के सभी नागरिकों के लिए एक-समान नियम व्यवस्था का निर्धारण करने की अपेक्षा विभिन्न सम्प्रदायों के मतावलम्बियों के लिए अलग अलग प्रकार की कानून-संहिताऐं की गईं। यह भी नहीं किया गया कि जो नागरिक अपनी परम्परागत धार्मिक संहिताओं से मुक्ति चाहते हैं कम-से-कम उनके लिए तो धर्मनिरपेक्ष समान नियम व्यवस्था उपलब्ध की जाए। धार्मिक निष्ठा की स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ ही साथ धार्मिक प्रचार तथा प्रसार के अधिकार की भी व्यवस्था की गई। यदि कानून-संहिता में नागरिकों की धार्मिक निष्ठाओं की महत्ता को स्वीकार करते हुए धर्मनिरपेक्षता के आदर्श में असंगत तत्त्वों को जोड़ा गया तो राज्य को आवश्यकता-नुसार प्रचलित धार्मिक निष्ठाओं तथा संस्थाओं को नियन्त्रित करने के लिए कानून बनाने की शक्ति भी प्रदान की गई। इस प्रकार राज्य और धर्म को एक दूसरे के क्षेत्रों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त को लगलग तिलांजलि ही दे दी गई। एक अन्य समझौते के अन्तर्गत सभी अल्पसंख्यकों को अपने धार्मिक हितों की रक्षा तथा प्रचार हेतु शिक्षा संस्थाओं के संचालन तथा प्रबन्ध करने का विशेषाधिकार भी दिया गया। तथाकथित बहुसंख्यक सम्प्रदाय के उपसम्प्रदायों ने भी इस व्यवस्था का अपनी सुविधानुसार प्रयोग किया है। परिणाम यही निकला कि कई

शिक्षा-संस्थाओं में धर्म-प्रचार के नाम पर धार्मिक हठधर्मिता तथा साम्प्रदायिक वैमनस्य को ही प्रोत्साहित किया जा रहा है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक विषमताओं से उत्पन्न हुई टकराहट को साम्प्रदायिक रंग दे कर साम्प्रदायिक विरोध, प्रतिद्वंद्विता, प्रतियोगिता तथा शत्रुता की भावना को प्रोत्साहित करने में धार्मिक प्रचार की स्वतन्त्रता के अधिकार का दुरुपयोग हो रहा है। यद्यपि प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को अपनी धार्मिक निष्ठाओं तथा रीति-रिवाजों को बनाए रखने का अधिकार है परन्तु धर्मनिरपेक्षता का यह अर्थ बिल्कुल नहीं कि इस उद्देश्य के लिए धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा चलाई गई शिक्षा संस्थानों का भार अपने सिर पर उठा कर उन्हें अन्धविश्वास, असहिष्णुता, हठधर्मिता, संकीर्णता इत्यादि को प्रोत्साहित करने में सरकार सहायता दे। साधारण नागरिकों में यह आशंका कभी भी जगाई जा सकती है कि उनकी परम्पराएं, निष्ठा तथा धार्मिक अस्मिता संकट में है। धार्मिक प्रचार के माध्यम से ऐसी भावना जगाना कठिन नहीं – विशेषतया नई पीढी के आरम्भिक वर्षों में, जब वह किसी भी प्रकार के प्रभावों के लिए बडी तत्परता से प्रस्तुत होती है। यह विचारणीय प्रश्न है क्या नन्हे कोमल हृदयों में किसी को भी साम्प्रदायिक दुराग्रह आरोपित करने का अधिकार है ? विद्यार्थियों को पढ़ाई जाने वाली पाठ्य पुस्तकों में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को महत्ता देने का सिर्फ यही प्रयास किया गया है कि भारतीय संविधान में प्रदान किए गए अधिकारों को बार बार दुहरा दिया जाता है। ऐसा करते समय भी धर्मनिरपेक्षता के आदर्शों तथा परम्परागत धर्मनिष्ठता में संगति बिठाने की समस्याओं की ओर ध्यान दिलाने का कोई प्रयास नहीं किया जाता।

भारतीय जन-जीवन में धर्मनिरपेक्षता की भावना के विकसित न हो पाने का एक कारण धर्मनिरपेक्षता के नाम पर "सब धर्मों के लिए समान आदर की भावना" को अधिक महत्त्व देना है। इसके परिणामस्वरूप प्रचलित अन्ध विश्वासों, विषमताओं, अन्याय, प्रतिबन्धों, कुरीतियों की आलोचना भी नहीं हो पाती, क्यों कि ऐसी आलोचना पर धर्मविरोधी होने का आरोप लगाया जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति भी धार्मिक कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाने से हिचकिचाते हैं। हमारी धर्मनिरपेक्षता की वास्तविकता का अनुमान तो इस आवश्यकता से लगाया जा सकता है कि हिन्दु साम्प्रदायिकता की आलोचना के लिए हिन्दुओं, मुस्लिम साम्प्रदायिकता की आलोचना के लिए मुसलमानों तथा सिक्ख साम्प्रदायिकता की आलोलना के लिए सिक्खों को ढूंढना पड़ता है, क्यों कि दूसरे धर्म या मत के द्वारा उठाए गए विषयों या मांगों की आलोचना या विरोध करने पर ऐसे आलोलक पर ही

सम्प्रदायवादी होने का आरोप लग जाने की आशंका बनी रहती है। यह सही है कि किसी भी धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह किसी की भी धार्मिक भावनाओं को चोट नहीं पहुँचाए। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि इस दायित्व की पूर्ति के नाम पर सभी प्रकार की कुरीतियों, प्रतिबन्धों, अन्याय, विषमताओं, दमन इत्यादि को न स्वीकृति दे दी जाए। विवेकपूर्ण आलोचना को धर्म के प्रति अनादर नहीं समझना चाहिए। धर्म के आदर के तथाकथित सिद्धान्त के पीछे मुंह छिपा कर विवेचना, आलोचना पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ धर्मनिरपेक्षता को ही नहीं लोकतन्त्र को भी कमजोर करता है, क्योंकि लोकतन्त्र का मूल आधार सम्वाद की समान जमीन पर सबके खडे होने का अधिकार है। इस सम्वाद के अभाव में ही हिन्दु धर्मान्धता, मुस्लिम असुरक्षा तथा सिक्ख युयुत्सा को बल मिला है। 'सर्वधर्मसमभाव' के आदर्श ने हमारे नागरिक जीवन में साम्प्रदायिक तथा जातीय अस्मिता की पहचान और बोध को अप्रासंगिक अथवा महत्त्वहीन करने की अपेक्षा केन्द्रीय बना दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे अधिकांश नेताओं तथा शिक्षित मध्यम वर्ग की ओढी हुई धर्मनिरपेक्षता सतही, औपचारिक तथा शाब्दिक ही है। सामाजिक जीवन के विभिन्न अवसरों पर एक दूसरे को "ईद मुबारक," "हॅप्पी क्रिसमस," "गुरु पर्व दी लक्ख बधाई होवे' और "शुभ दीपावली" कहना याद रखने के अतिरिक्त इस का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि सामाजिक जीवन को विवेक की कसौटी पर कसने से इस तथाकथित धर्मनिरपेक्षता का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी सम्बन्ध के अभाव में हमारे राजनैतिक दलों के नेता, मन्त्री, प्रशासक अपने निहित स्वार्थों तथा राजनैतिक हितों की पूर्ति के लिए विभिन्न सम्प्रदायों, जातियों के हितों की सुरक्षा का दम भरते हुए उनके धार्मिक अनुष्ठानों, त्योहारों तथा समारोहों में उपस्थित हो कर अपनी धर्मनिरपेक्षता का प्रदर्शन भी कर लेते हैं और साम्प्रदायिकता को बल भी प्रदान कर देते हैं। भारतीय राजनैतिक दलों के लिए धर्मनिरपेक्षता एक सुविधाजनक आकर्षक नारे से अधिक महत्त्व नहीं रखती। यद्यपि अधिकांश राजनैतिक दल धर्मनिरपेक्षता का ढिंढोरा पीटने और साम्प्रदायिकता का खाल उतारने में एक दूसरे से होड़ लगाते दीखते हैं–विधान सभाओं तथा सांसदीय चुनावों के समय पर अपने दलों के प्रत्याशी खडे करते समय, दूसरे दलों के साथ गठबन्धन की नीति निर्धारित करने, प्रतिव्दन्व्दी दलों तथा प्रत्याशियों के विरुद्ध किए जाने वाले प्रचार में जनता का ध्यान वास्तविक समस्याओं से हटाने के लिए साम्प्रदायिक संगठनों तथा नेताओं की सहायता लेने तथा साम्प्रदायिक प्रचार करने से कभी नहीं हिचकिचाते। ऐसी जटिल स्थिति में यही कहा जा सकता है कि जब तक इस सारे आडम्बर को अनावृत्त करते हुए धर्मनिरपेक्ष सामाजिक जीवन की निम्न शर्तों को पूरा नहीं किया जाता तब तक भार-

तीय राजनीति से साम्प्रदायिकता के संकीर्ण दृष्टिकोण से उठने वाली समस्याओं से मुक्ति मिलना असंभव ही है।

(१) नियमानुसार शासन के सिद्धान्त को सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का वास्तविक निर्देशक सिद्धान्त होने के लिए देश के सभी नागरिकों के लिए एक समान-कानून व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों के सदस्यों को दी गई विविध सुविधाएं समाप्त होनी चाहिए। सभी के लिए समान कानून व्यवस्था विभिन्न सम्प्रदायों को संतुष्ट रखने के लिए साम्प्रदायिक समझौतों पर आधारित न हो कर सभी नागरिकों की समानता तथा स्वतन्त्रता का आदर करते हुए सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को समर्पित होनी चाहिए।

(२) शिक्षा संस्थाओं को साम्प्रदायिक प्रभावों से मुक्त करने के लिए उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में ला कर किसी भी ऐसी प्रबन्धक व्यवस्था के नियन्त्रण में न रहने दिया जाए जिसका मूल चरित्र साम्प्रदायिक है। ध्यातव्य है कि सार्वजनिक क्षेत्र में लाने का अर्थ सिर्फ सरकारीकरण न हो कर पूरे समाज के सामूहिक लोकतान्त्रिक नियन्त्रण की व्यवस्था करना है।

(३) धार्मिक प्रचार के अधिकार को समाप्त किया जाए। किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय के सदस्यों को व्यक्तिगत तथा सामुदायिक स्तर पर अपनी धार्मिक निष्ठाओं में विश्वास रखने तथा उनका पालन करने का अधिकार उनकी आस्था की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए पर्याप्त है। इस अधिकार का उपयोग करते समय किसी भी व्यक्ति या समुदाय को अन्य नागरिकों के लिए किसी भी प्रकार की असुविधा खडी करने का कोई अधिकार नहीं है।

(४) सामाजिक जीवन की धर्मनिरपेक्ष समस्याओं को साम्प्रदायिक रंग में प्रस्तुत करने वालों के लिए कड़े प्रतिबन्धों की व्यवस्था की जाए; तथा इस प्रकार की व्यवस्था का सार्वत्रिक अनुशासन रहे।

(५) साम्प्रदायिक त्योहारों पर दी जाने वाली सार्वजनिक छुट्टियों को समाप्त किया जाए। प्रत्येक सम्प्रदाय के सदस्यों को अपने अपने परम्परागत उत्सवों में भाग लेने के लिए वर्षभर में पांच आकस्मिक छुट्टियों का प्रावधान किया जाए, जिनका वह अपनी इच्छानुसार उपयोग कर सके। ध्यातव्य है कि इसका अर्थ यह है कि केवल स्वतन्त्रता दिवस और गणतन्त्र दिवस ही दो राष्ट्रीय छुट्टियां बनती हैं।

(६) चुनावों में साम्प्रदायिक तथा जातीय आधार पर प्रचार करने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाते हुए उल्लंघन करने वालों के लिए कड़ दण्ड की व्यवस्था की जाए। ऐसे दलों, संगठनों तथा व्यक्तियों को निर्वाचन प्रक्रिया से ही निष्कासित करते हुए चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित कर दिया जाए।

उपरोक्त सुझावों के बारे में इनके अव्यावहारिक होने, पुरानी परम्पराओं को नष्ट करने, देश की वास्तविक स्थितियों को न समझने, जन साधारण द्वारा समर्थित न किए जाने, मानसिकता में परिवर्तन की अपेक्षा नियमों पर अधिक बल देने इत्यादि की कई त्रुटियाँ हो सकती हैं। इन त्रुटियो के बारे में यही कहा जा सकता हैं कि यदि जनसाधारण को लोकतान्त्रिक माध्यम से जागृत करते हुए इनके रचनात्मक पक्ष को प्रस्तुत किया जाए तो इन सुझावों को व्यावहारिक रूप देना असंभव नहीं है। प्रश्न यही है कि क्या हम यथास्थिति को बनाए रखने के पक्ष में हैं या परिवर्तन लाने के लिए अपने दायित्व को पूरा करने के लिए प्रस्तुत धर्मनिरपेक्षता भी, अन्य मानसिकताओं की भांति, सिर्फ शब्दों में ही नहीं बल्कि अन्ततः व्यवहार में ही अभिव्यक्त होती है और होनी भी चाहिये इस पक्ष में। उपरोक्त शर्तें धर्मनिरपेक्षता की सामाजिक स्तर पर व्यावहारिक अभिव्यक्ति के साथ अभिन्न रूप से सम्बन्धित हैं। ■

— सत्यपाल गौतम

दर्शन विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय
चंदीगढ़ – १६००१४.

टिप्पणी

■ डॉ. सत्यपाल गौतम के लेख पर साक्षेपी तथा विवेकपूर्ण प्रतिक्रियाओं का स्वागत होगा।

— संपादक

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१६)
विषयता (ii)

विषयता के अनेक प्रकार होते हैं। जैसे, प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता आदि। प्रकारता और विशेष्यता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। याने, प्रकारता से निरूपित जैसे विशेष्यता होती है, उसी प्रकार विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होती है। किसी सविकल्पक ज्ञान की दो विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय-मतानुसार किसी भी सविकल्पक ज्ञान में प्रकारता और विशेष्यता भासित होनी ही चाहिये, नहीं तो वह ज्ञान सविकल्पक हो ही नहीं सकता।) जैसे, 'यह पुस्तक है' इस ज्ञान की एक विषयता जो पुस्तकत्व इस धर्म में है वह प्रकारता-रूप है, तथा जो विषयता पुस्तक में है वह विशेष्यतारूप है। इसलिये पुस्तक में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित पुस्तकत्व में रहने वाली प्रकारता वाला ज्ञान; या; पुस्तकत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित पुस्तक में रहने वाली विषयता वाला ज्ञान ऐसा कहने पर एक ही प्रकार के '(यह) पुस्तक है' इस ज्ञान का बोध होता है।

इसके विरुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान की जो विषयता होती है वह प्रकारता और विशेष्यता से भिन्न तरह की होती है। वह किसी अन्य विषयता से निरूपित नहीं होती। (संभवत: इसी बात को बौद्ध नैयायिकों ने यह कह कर प्रस्तुत करना चाहा कि निर्विकल्पक ज्ञान का विषय हमेशा स्वलक्षण हुआ करता है। क्योंकि किसी भी निर्विकल्पक ज्ञान में न प्रकारता का बोध होता है, न ही विशेष्यता का। तथापि उक्त प्रकार के ज्ञान में बोध ही नहीं होता है ऐसा कहना अनुभव के विरुद्ध होगा। अस्तु। प्रस्तुत प्रकरण में इस मुद्दे की अधिक चर्चा करना अप्रस्तुत है।) निर्विकल्पक ज्ञान प्रकार एवं विशेष्य से रहित होता है। '

विशेषण को ही प्रकार कहते हैं। इसलिये प्रकारता यह विशेषणता नामक विषयता का ही एक प्रकार कहा गया है। निर्विकल्पक ज्ञान की विषयता उसी ज्ञान से निरूपित होती है। (इस सन्दर्भ में बौद्ध नैयायिकों के द्वारा प्रयुक्त 'स्व-लक्षण' यह पारिभाषिक शब्दप्रयोग कितना सार्थक है इसकी ओर ध्यान देना संभवतः उपयुक्त होगा।) विषयता के बारे में यह पहले ही कहा जा चुका है कि विषयता ज्ञान, इच्छा, कृति इत्यादि पदार्थों में से किसी न किसी से अवश्य निरूपित होती है।

विषय में विषयता स्वरूप-सम्बन्ध (दैशिक विशेषणता) से रहती है। 'अमुक विषय है' इस व्यवहार का नियामक सम्बन्ध दैशिक विशेषणता सम्बन्ध ही माना जाता है।

एक ही ज्ञान के ही विषय में अनेक विषयताएँ होती हैं। 'जैसे, 'बन्दूक-धारी सवार से युक्त अश्व है' इस ज्ञान में प्रकार होने वाले सवार में जिस प्रकार प्रकारता नामक विषयता है, उसी प्रकार बन्दूक-धारी सवार में बन्दूक विशेषण के रूप में प्रतीत होने से सवार में विशेष्यता नामक विषयता भी है। अतः एक ही वस्तु में प्रकारता भी है और विशेष्यता भी है। इस प्रकार एक ही विषय में भासित होने वाली प्रकारता और विशेष्यताओं में क्या सम्बन्ध है इसके विषय में नैयायिकों में मतभेद है। इसी तरह के मतभेद से प्रस्तुत होने वाले कुछ बिन्दुओं की चर्चा इस लेख में आगे उपस्थित कर रहे हैं।

जगदीश तर्कालङ्कार [२] आदि कुछ नैयायिक एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता के बीच अभेद सम्बन्ध मानते हैं। उनके मतमें समानाधिकरण (एक ही स्थान में रहने वाली) विषयाताओं में एकरूपता होती है। उन्हें भिन्न-भिन्न मानने में गौरव है, तथा उन्हें एक मानने में ही लाघव है, और लाघव गौरव की अपेक्षा वरीय है।

गदाधर भट्टाचार्य [३] के मत में एक वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव सम्बन्ध है। 'दण्डिमान् अश्वः' इस ज्ञान में भासित होने वाली दण्ड में रहने वाली विशेष्यता से निरूपिता प्रकारता से अवच्छिन्न (नियमित) होती है। एक ही वस्तु में रहने वाली दो विषयताओं में अवच्छेदकावच्छेद्यभाव मानने वालों का मन्तव्य यह है कि उक्त दोनों विषताओं में अभेद स्वीकार करने पर 'रक्तदण्डवान्' बुद्धि (ज्ञान) की 'दण्डाभाववद्रक्तरूपम्' यह बुद्धि प्रतिबन्धक हो जायगी, क्योंकि 'रक्तदण्डवान्' यह बुद्धि भी दण्ड-प्रकारता से निरूपित रक्त-रूप विशेष्यता वाली है। इसका कारण यह है कि एक वस्तु में भासित होने वाली प्रकारता और विशेष्यता में अभेद है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है -

'रक्तदण्डवान्' इस ज्ञान में भासित होने वाली रक्त में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता एक ही है। इस ज्ञान के प्रतिबन्धक 'दण्डाभावद्रक्तम्' इस में रहने वाली विशेष्यता है और प्रतिबध्य ज्ञान में रक्त में प्रकारता है और विशेष्यता भी है। तथापि ये दोनों एक ही हैं और इसलिये उक्त ज्ञान समान प्रकारता वाला होने से उनमें प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव होना चाहिये। परन्तु उनमें इस प्रकार का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव नहीं है यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। अतः एक ही वस्तु में रहने वाली दो विषयताओं मे अभेद मानना समीचिन नहीं है। इस प्रकार की कठिनाई को दूर करने के लिये ऐसे स्थान पर गदाधर दो पदार्थों में भासित होने वाली प्रकारता और विशेष्यता रूप विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव स्वीकार करते हैं। इस तरह अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव स्वीकार करने पर दण्ड में रहने वाली प्रकारता विशेष्यता-रूप न होने से 'दण्डाभाववद्रक्तम्' इस ज्ञान से प्रतिबद्ध नहीं होगी।

' इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध से 'पुरुषाभाववान् दण्ड है' इस बुद्धि के लिये संयोग सम्बन्ध से दण्डवान् पुरुष है यह निश्चय जैसे प्रतिबन्धक होता है वैसे ही 'रक्तदण्डवान् अयं' यह निश्चय भी प्रतिबन्धक होना चाहिये, क्योंकि इसमें भी संयोग सम्बन्ध से नियमित पुरुष में रहने वाली प्रकारता से निरूपित दण्ड में विशेष्यता है। पुरुष में रहने वाली दण्ड-प्रकारता से निरूपित विशेष्यता और देश में रहने वाली विशेण्यता से निरूपित प्रकारता दोनों एक ही हैं। अतः उनमें समान प्रकारता होने से 'पुरुषवान् दण्डः' इस ज्ञान की तरह ही 'रक्तदण्डवत्पुरुषवान् देशः' यह ज्ञान भी प्रतिबन्धक होना चाहिये।

(आकृति १ तथा आकृति २ पृष्ठ २७२ पर देखिए)

क्रमाङ्क २ की आकृति देखने पर तथा उसकी आकृति क्रमाङ्क १ से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार क्रमाङ्क १ की आकृति में प्रस्तुत ज्ञान में पुरुष में प्रकारता और दण्ड में विशेष्यता है वैसे ही द्वितीय ज्ञान
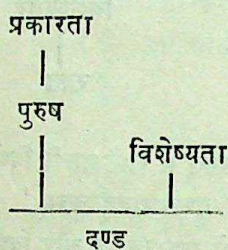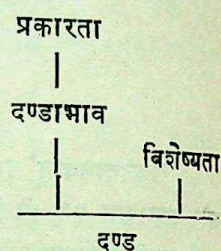
आकृति १

रक्तदण्डवत्पुरुषवान्देश:
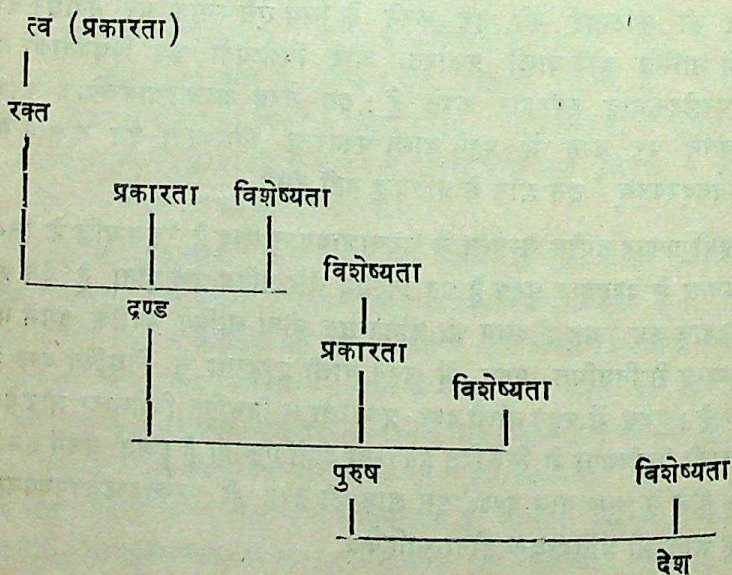
आकृति २

में भी पुरुष में प्रकारता और दण्ड में प्रकारता और विशेष्यता दोनों भी हैं, तथा एक ही स्थान में वे दोनों होने से अभेदवादियों के मत में उनमें अभेद है। इसलिये दोनों ही ज्ञान समान प्रकारता वाले होने से दोनों भी उक्त प्रतिबध्य ज्ञान के प्रतिबन्धक होने चाहिये, जो कि अनुभव के विरुद्ध है। अतः एकत्र विद्यमान प्रकारता और विशेष्यताओं में अभेद मानना उचित नहीं है। अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव स्वीकार करने पर दोनों ज्ञानों में भेद स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि द्वितीय ज्ञान में प्रकारता से अवच्छिन्न विशेष्यता है, जबकि प्रथम ज्ञान में विशेष्यता प्रकारता से अवच्छिन्न नहीं है।

लेकिन इस विषय में एक वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं में अभेद मानने वालों का कथन है कि यद्यपि 'पुरुषवान् दण्ड' इस ज्ञान में भासित होने वाली पुरुष में रहने वाली प्रकारता और दण्ड में रहने वाली विशेष्यता के समान ही 'रक्तदण्डवत्पुरुषवान् देशः' इस ज्ञान में भी पुरुष में प्रकारता और दण्ड में विशेष्यता मालूम होती है, तथा उसमें इसके अलावा पुरुष में प्रतीत होने वाली विशेष्यता और दण्ड में प्रतीत होने वाली प्रकारताओं में अभेद होने से उक्त ज्ञान भी प्रतिबन्धक होना चाहिये। परन्तु जब 'पुरुषवान् दण्डः' यह ज्ञान प्रतिबध्य होता है तो वह दण्ड में रहने वाली विशेष्यता के धर्म (विशेष्यतात्व) से युक्त, पुरुष में रहने वाली प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से नियमित (प्रकारता) से निरूपित, दण्ड में रहने वाली विशेष्यता वाले ज्ञान के रूप में प्रतिबध्य होता है। 'रक्तदण्डवत् पुरुषवान् देशः' इस ज्ञान में भासित होने वाली दण्ड में रहने वाली विशेष्यता, पुरुष में रहने वाली प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से अवच्छिन्न प्रकारता से निरूपित नहीं है। दण्ड में रहने वाली विशेष्यता, रक्तनिष्ठ प्रकारतात्व से नियमित प्रकारता से निरूपित है। इसका तात्पर्य यह है कि दण्ड में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता एक होने पर भी उनमें होने वाली निरूप्य-निरूपक-भाव भिन्न है। क्रमांक १ की आकृति में प्रस्तुत ज्ञान में भासित होने वाली पुरुष में रहने वाली प्रकारता में रहने वाली निरूपकता पुरुष-प्रकारतात्व से अवच्छिन्न है और उस प्रकारता से निरूपित विशेष्यता क्रमांक २ की आकृति में प्रस्तुत ज्ञान में नहीं है। इस ज्ञान में भासित होने वाली दण्ड में रहने वाली विशेष्यता पुरुष में रहने वाले प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से नियमित प्रकारता से निरूपित नहीं है। यहाँ 'दण्ड' में रहनेवाली विशेष्यता 'रक्त' में रहने वाली प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से नियमित प्रकारता से निरूपित है। अतः उक्त ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होता है।

उक्त रूप से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव स्वीकार करने में गौरव दोष होता है।[४] इसलिये पदार्थ में प्रतीत होने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप

विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव मानना ही उचित है। इसी मत को उत्तरवर्ती नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है।

विषयता विषय के भेद से भिन्न-भिन्न होती है। जैसे-'घटपटौ'- घट और पट-इस ज्ञान के विषय दो हैं, घट और पट (वस्त्र)। यदि उन दोनों में एक ही विषयता मानेंगे तो यह ज्ञान भ्रम हो जायगा। 'घटपटौ' यह समूह-विषय वाला ज्ञान भ्रम नहीं है। परन्तु दोनों वस्तुओं में एक ही विषयता मानने पर यह ज्ञान 'घट' में न रहने वाले धर्म पटत्व से नियमित घट में रहने वाली विषयता वाला होने से शुक्ति में रजत के ज्ञान के समान ही होगा। यदि घट, पट, पुस्तक आदि एक-एक अलग विषय वाले ज्ञान की एक-एक विषय में रहने वाली विषयता से समूह विषयक ज्ञान की विषयता भिन्न प्रकार की होती है ऐसा माना जाय तो गौरव दोष होता है।[५] एक-एक विषय के ज्ञान की एक-एक विषय में रहने वाली विषयता से भिन्न प्रकार की समूह विषयक (घटपटौ) ज्ञान की विषयता समूह में होती है। यह एक भिन्न कल्पना होने से कल्पना-मूलक गौरव दोष होता है। अतः एक-एक ज्ञान की एक-एक विषय में रहने वाली विषयता के समान ही समूहालम्बन ज्ञान की भी विषयता एक-एक में भिन्न-भिन्न मानना ही उचित है। गदाधर ज्ञान के भेद से विषयताओं में भेद नहीं मानते। समूहालम्बन-ज्ञान में भी पूर्व-स्वीकृत प्रत्येक ज्ञान की विषयताएँ ही होती हैं। भिन्न विषयताओं की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

कुछ नैयायिक 'घट है' या 'घटः' इस घटत्व से युक्त घट के ज्ञान में घट इस विशेष्य तथा घटत्व इस विशेषण में प्रतीत होने वाली एक ही प्रकार की विषयता मानते हैं। वे विशेष्य में अलग और विशेषण में अलग विषयता नहीं मानते। उनके मत की गदाधर ने आलोचना की है। गदाधर का कथन है कि विशेष्य में रहने वाली विषयता और विशेषण में रहने वाली विषयता को एक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विशेषण और विशेष्य में रहने वाली विषयता को एक मानने पर 'घटः' इस ज्ञान को घटत्व विशेष्य और घट-प्रकार-वाला मानना पड़ेगा,[६] जो कि अनुभव के विरुद्ध है। 'घटः' यह ज्ञान घटत्व प्रकार तथा घट विशेष्य-वाला ही माना जाता है।

कुछ नैयायिक[७] एक वस्तु में रहने वाली एक ज्ञान की प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध मानते हैं। जैसे, 'नीलघटवद्-भूतलम्' इस ज्ञान में विषय होने वाले घट में दो प्रकार की विशेषताएँ प्रतीत होती हैं। यहाँ भूतल का घट विशेषण होने से उसमें (घट में) प्रकारता या विशेषणता है और घट का नील विशेषण होने से नील में रहने वाली प्रकारता

से निरूपित विशेष्यता है। इस प्रकार घट में जो दो विशेषताएँ प्रकारता और विशेष्यता के रूप में प्रतीत होती हैं इनमें परस्पर निरूप्य–निरूपक–भाव होता है–प्रकारता से निरूपित विशेष्यता और विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होती है। इस मत में उनमें अभेद नहीं है।

जिस प्रकार विषय की भिन्नता के कारण विषयता भिन्न होती है, उसी प्रकार ज्ञान के भेद से भी विषयता भिन्न–भिन्न होती है ऐसा भी कुछ नैयायिक मानते हैं।[८] परन्तु गदाधर ज्ञान के भेद से विषयता में भेद नहीं मानते। उनके मत में समानाकारक ज्ञानीय विषयताओं में ऐक्य होता है। समान आकार वाले अनेक ज्ञानों की विषयताएँ भिन्न–भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[९] अतः अनेक ज्ञानों का यदि एक ही आकार है तो उन सब ज्ञानों की विषयता एक ही होगी, जबकि अन्य नैयायिक[१०] समान आकार वाले ज्ञान की विषयताओं में निरूप्य–निरूपक–भाव मानते हैं। जैसे, 'संयोगेन अभावो नास्ति' यहाँ अभाव पद से जैसे उपस्थिति (ज्ञान) होती है वैसे नास्ति पद से भी होती है। अतः 'नास्ति' पद से प्रतीत होने वाली उपस्थिति (ज्ञान) और अभाव पद से होने वाली अभाव की उपस्थिति समान आकार (विषय) वाली होने से, उन दोनों विषयताओं में निरूप्य–निरूपक–भाव होता है।

विषयता आदि पदार्थ कभी धर्म रूप से तो कभी सम्बन्ध रूप से प्रतीत होते हैं। जब वे सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होते हैं तो उनमें रहने वाली संसर्गता का नियामक सम्बन्ध विशेषणता (स्वरूप) सम्बन्ध ही होता है।

ये विशेषताएँ लौकिक और अलौकिक भेद से भी दो प्रकार की होती हैं। लौकिक सन्निकर्ष (उदाहरणार्थ, संयोग, समवाय, संयुक्त समवाय आदि) से होने वाले ज्ञान की विषयताएँ लौकिक कहलाती हैं, तथा अलौकिक–सामान्य लक्षण, ज्ञानलक्षण या योगजलक्षण – सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान की विशेषताएँ अलौकिक होती हैं।

प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता आदि जो भेद माने गये हैं वे विषयता के ही भेद हैं या स्वतन्त्र पदार्थ हैं? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में गदाधर का विचार यह है कि विषयों में प्रकारता और विशेष्यता–रूप स्वतन्त्र पदार्थ मानने की अपेक्षा विषयता के प्रकारों के रूप में ही विषयों में वर्तमान प्रकारता और विशेष्यताओं को विषयता के प्रकार के रूप में स्वीकार करना उचित है।[११]

कुछ नैयायिकों[१२] का कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान की जो विषयता, प्रकारता और विशेष्यता से भिन्न होती है याने निर्विकल्पक ज्ञान जैसे निष्प्रकारक और निर्विशेष होता है – वही विशिष्टज्ञान (उदाहरणार्थ घटः यह घटत्वविशिष्ट

घट का ज्ञान) की भी विषयता है। उसे प्रकारता या विशेष्यता के रूप में मानने की क्या आवश्यकता है ? उसी विषयता के आधार पर विशिष्ट ज्ञान सविषयक हो सकता है। विषयता के स्वतन्त्र प्रकारता आदि भेद स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? उसी विषयता के आधार पर विशिष्ट ज्ञान सविषयक हो सकता है। विषयता के स्वतन्त्र प्रकारता आदि भेद स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? जब निर्विकल्पक ज्ञान में ये भेद नहीं होते तो वे वैसे ही विशिष्ट ज्ञान में भी न हों, और प्रकारतादि के भेद के बिना भी विषयता के भेद के आधार पर ज्ञान में भेद किये जाने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु गदाधर के अनुसार यह मत त्याज्य ही है। प्रकारता और विशेष्यता को विषयता के रूप में स्वीकार न करने पर 'वह्निव्याप्यधूमः पर्वते' (वह्नि का व्याप्य धूम पर्वत पर है। और 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' (पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है) इन दोनों परामर्शों में यही भेद है कि एक में व्याप्य धूम विशेषण है तथा पर्वत प्रकार है, जबकि दूसरे में पर्वत विशेष्य है और वह्निव्याप्य धूम प्रकार (विशेषण) है। इन दोनों परामर्शों का व्याप्य-विषयता से निरूपित पक्ष-विषयता वाले ज्ञान के रूप में एक ही प्रकार से अनुगम कर के अनुमिति के कारण (परामर्श) के रूप में स्वीकार किया जाता है। लेकिन वह प्रकारता और विशेष्यता को विषयता के प्रकारों क रूप में स्वीकार न करने पर सम्भव नहीं होगा। अतः उपर्युक्त दोनों परामर्शों को अलग-अलग रूप में कारण मानना पडेगा, जिससे गौरव दोष होगा।

दूसरी बात यह है कि निर्विकल्पक ज्ञान की जो (प्रकारता और विशेष्यता से भिन्न) विषयता होती है वही विषयता (विशिष्ट-बुद्धि) सविकल्पक ज्ञान की भी होती है ऐसा मानने पर जिस प्रकार घटत्व के निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् स्वरूपतः घटत्व-विशिष्ट घट का ज्ञान होता है, वैसे ही जातित्वेन घटत्व के ज्ञान के पश्चात् भी 'घटः' यह विशिष्ट ज्ञान होना चाहिये। घटत्व के निर्विकल्पक ज्ञान की विषयता के समान जातित्वेन घटत्व के ज्ञान की भी विषयता है। स्वरूपतः (किसी धर्म-ज्ञान के बिना) घटत्व-विशिष्ट घट के ज्ञान के लिये घटत्व विशेष्यक ज्ञान को कारण मानने पर उक्त दोष सम्भव नहीं है यह कहना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'जातिःघटश्च'– जाति और घट–इस ज्ञान के पश्चात् घटः यह विशिष्ट बुध्दि उत्पन्न नहीं होगी, जो कि अनुभव–सिद्ध है।

जो लोग विशिष्ट बुध्दि की विषयता केवल विशेष्य में ही मानते हैं, विशेषण में नहीं मानते, उनके मत की आलोचना गदाधर ने की है।[13] विशिष्ट बुध्दि की विषयता विशेष्य में मानने वालों का तर्क यह है कि घट के ज्ञान के बाद जब 'घटं जानामि' (मैं घट को जानता हूँ) इस प्रकार का अनुव्यवसाय

होता है तब यह स्पष्ट है कि 'घट' इस विशेष्य के साथ ज्ञान के सम्बन्ध का बोध होने से घट के साथ का ज्ञान का विषयता सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ता है। घट के ज्ञान के बाद मैं घटत्व को जानता हूँ इस प्रकार का साक्षात्कार नहीं होता है, क्योंकि वह घटत्वत्व-विशिष्ट घटत्व के वैशिष्टय को व्यक्त करने वाला होने से उसके पूर्व घटत्वत्व का ज्ञान हुआ होना आवश्यक है। विशिष्ट-वैशिष्टयावगाहि बुद्धि में विशेषणतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान कारण होता है। याने, जब हमें किसी विशिष्ट के वैशिष्टय का ज्ञान होता है तब उक्त विशिष्ट के विशेषण को नियमित करने वाला प्रकारक ज्ञान उसका कारण होता है। 'घटः' यह ज्ञान बिना किसी घटत्वत्वादि धर्म के स्वरूपतः ही घटत्व प्रकारक होने से घटत्वत्व प्रकार वाला नहीं होता है। क्योंकि विशेषण (प्रकार) को विशिष्ट-ज्ञान का विषय न मानने पर उस धर्म (घटत्व) से युक्त के ज्ञान के पश्चात् उस धर्म से युक्त का ज्ञान नहीं होना चाहिये। क्योंकि विशिष्ट-ज्ञान के लिये विशेषण (घटत्व) का ज्ञान कारण होता है। जो लोग उस धर्म से युक्त धर्मि-ज्ञान (विशिष्ट-ज्ञान) को धर्म-विषयक ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं करते उनके मत में प्रथम विशिष्ट-ज्ञान में विशेषण का ज्ञान नहीं होता। अतः उक्त विशेषण-ज्ञान-रूप कारण के न रहने से द्वितीय बिशिष्ट ज्ञान रूप कार्य नहीं उत्पन्न होना चाहिये।

उसी प्रकार यदि विशिष्ट ज्ञान की विषयता विशेषण में न मानें तो विशिष्ट ज्ञान के पश्चात् विशेषण का ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से होने वाला प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार के उपनीत भान-रूप ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष के लिये तद्विषयक ज्ञान (याने विशेषण विषयक ज्ञान) कारण होता है। जैसे, 'सुरभि चन्दनम्' इस प्रकार के भान के लिये सौरभ का ज्ञान कारण होता है। अतः विशेषण को बिशिष्ट-ज्ञान का विषय मानना आवश्यक होने से उक्त विशेषण (प्रकार) में रहने वाली प्रकारता को भी लाघवात् विषयता के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

प्रकारता और विशेष्यता के समान संसर्गता भी विषयता का एक प्रकार है।[१४] उसकी चर्चा तथा प्रकारता और विशेष्यताओं के स्वरूपों के विषय में मतभेदों की चर्चा अगले निबन्धों में की जायगी।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे-४११००७.

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. गदाधर; निर्विकल्पकीया प्रकारता विशेष्यताभिन्नत्वेनोभयमतसिद्धा या विषयता। विषयतावादे

२. रामरुद्र; इदं च प्रकारताविशेष्यतयोरभेदवादिमताभिप्रायेण। रामरुद्रयां; अनुमानखण्डस्य परामर्श प्रकरणे।

३. भट्टाचार्य मते तु व्याप्तिप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छिन्न प्रकारता निरूपित पक्षविशेष्यताशालित्वेन वक्तव्यम्। एकनिष्ठ प्रकारताविशेष्य-तयोर (भेदवादिना) वच्छेद्यावच्छेदकभावस्वीकारात्, विशेष्यताप्रकार-तयोर्भेदास्वीकारे रक्तदण्डवान् इति बुद्धौ रक्तरूपविशेष्यक दण्डाभाव-निश्चयप्रतिबध्यत्वापत्तेः दण्डप्रकारतानिरूपित रक्तरूपनिष्ठ विशेष्यता शालित्वात्तादृशबुद्धिरिति ध्येयम्। वहीं

४. गदाधर; तत्र गत्यन्तरानुसरणे च गौरवादिति। अनुमिति प्रकरणे

५. गदाधर; विषयता च विषयभेदात् भिद्यते, अन्यथा घटपटावित्यादि-समूहालम्बनीय घटपटादिनिष्ठ विषयताया ऐक्ये पूर्वोक्त युक्त्या तादृशज्ञानस्य भ्रमत्वापत्तेः। विषयतावादे

६. तादृशबुद्धौ घटप्रकारकत्व घटत्वविशेष्यकत्वयोरापत्तेः। वहीं

७. एकनिष्ठैकज्ञानीय प्रकारताविशेष्यतयो (विशेष्यप्रकारतयो) र्भेदवादिमते निरूप्यनिरूपकभाववत् धर्मितावच्छेदकत्व विषयितानिरूपकतावच्छेदक-तयोरपि निरूप्यनिरूपकभावोऽभ्युपेयते। रामरूद्रयां, हेत्वाभासप्रकरणे।

८. शिवदत्त मिश्र; धीभेदस्य विषयताभेदकत्वात्। सामान्यनिरुक्ति-टीकायाम्। पृ, ४८.

९. गदाधर; ज्ञानभेदेन विषयताभेदे मानाभावात्। विषयतावादे।

१०. शिवदत्त मिश्र; नञ्पदाभावपदजन्योपस्थित्योः समानाकारकत्वेन तदीय विषयतयोर्निरूप्यनिरूपकभावादितिचेन्न। व्युत्पत्तिवादटी-कायाम्।

११. गदाधर; विषयेऽतिरिक्त विषयतानां तत्र च विषयतात्वस्य कल्पना-मपेक्ष्य विषयवृत्तित्वेन क्लृप्तानां प्रकारताविशेष्यानां विषयतात्वक-ल्पनस्यैव व्याप्यत्वात्। विषयतावादे

१२. निर्विकल्पकीया प्रकारताविशेष्यताभिन्नत्वेनोभयमतसिद्धा या विषयता विशिष्टज्ञानस्यापि सैव विषये सम्बन्धः। वहीं

१३. विशेषणस्य विशिष्टज्ञानाविषयत्वे तद्धर्मविशिष्टज्ञानानन्तरं तद्धर्म-विशिष्टज्ञानानुपपत्तेः। वहीं

१४. विशेष्यताप्रकारतावत् संसर्गत्वस्यापि विषयताविशेषात्मकत्वम्। वहीं

ग्रन्थ-समीक्षा

१

वीरेन्द्र सिंह, (डॉ.) (संपा.) **समकालीन आलोचना**, पञ्चशील प्रकाशन, जयपुर, १९८९; पृष्ठ सं. vii + २००; मूल्य: १५० /– रुपये (सजिल्द)

आलोचना इस शताब्दी में एक ऐसा अनुशासन हो गया है जिसने प्राच्य और पाश्चात्य सिद्धांतों, विचारों तथा मापदण्डों के कहीं तालमेल और कहीं घालमेल के द्वारा हिन्दी में एक नया शास्त्र विकसित कर लिया है। हिन्दी के इस आलोचना शास्त्र ने पृष्ठभूमि तो संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों से पायी है, जिसमें आनन्द वर्धन और अभिनव गुप्त से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ जैसे समीक्षकों के सिद्धान्त मूलाधार प्रस्तुत करते हैं, किन्तु शेष सारी संरचना पाश्चात्य या विदेशी समीक्षकों के विचारों, सिद्धान्तों विशेषकर संज्ञाओं और अभिधानों से निर्मित हुई है जिनमें इंगलिस्तानी, अमेरिकी, मार्क्सवादी सभी प्रकार के समीक्षक शामिल हैं। हिन्दी आलोचना को मिला यह व्यापक विस्तार अपने आप में अध्ययन का विषय है। इसकी एक सहज परिणति यह भी हुई है कि आलोचना के ऐसे अनेक खेमे या वर्गीकरण विकसित हो गये हैं, जैसे मार्क्सवादी, जनवादी, रूपवादी, सौन्दर्यवादी आदि। इसके अतिरिक्त आलोचना कर्म का जो अभिगम रहा उसने भी अनेक ब्राण्डें पैदा कर दी। एक शैली-वैज्ञानिक आलोचना इन दिनों चर्चित है। एक संरचनावादी आलोचना भी पश्चिम में विकसित हुई। रिचर्डस् आदि की मनस्तात्त्विक आलोचना का समन्वय कर रामचन्द्र शुक्ल ने जो नई समीक्षा-दृष्टि दी थी उसे हिन्दी के आलोचकों ने एक युग का सूत्रपात माना। इससे आलोचना के नये युग की शुरूआत हुई थी। इन सब आलोचना-सिद्धान्तों का ऐसा सर्वांगपूर्ण शास्त्रलेखन तो शायद अब तक नहीं हुआ है, जिसे शास्त्र की तरह पढ़ा जा सके; किन्तु ऐसे प्रयत्न अवश्य हुये हैं जिनसे इन विभिन्न आयामों को संकलित रूप में प्रस्तुत कर अध्येताओं को तथा विचारकों को आज के आलोचना कर्म का एक परिदृश्य प्रस्तुत किया जा सके। आज के आलोचक के लिये अब बीसवीं सदी के प्रारम्भ के पुराने विवाद प्रासंगिक नहीं रहे, जिनमें यह पूछा जाता था कि आलोचक को केवल विवेचना ही करनी चाहिए या निर्णय भी। उसे रचनात्मक होना चाहिए या केवल आलोचनात्मक? क्या सर्जक हुये बिना भी आलोचना की जा सकती है? अब तो हिन्दी आलोचना ने पाश्चात्य मापदण्ड और जार्गन सीधे अपना

लिये हैं जिन पर हम साहित्य को परखते हैं। मिथक, प्रतीक, बिम्ब, आद्यप्ररूप आदि ऐसे अभिधान हैं जिन्हें आज की कविता को मूल्यांकन में प्रयुक्त किया जाता हैं। समकालीन कविता की आलोचना के लिये समकालीन मापदण्ड होने ही चाहिये।

समकालीन आलोचना के इन विभिन्न अभिगमों और शैलियों का स्वरूप-विधान एक ही जगह प्रस्तुत करने का एक अच्छा प्रयत्न **समकालीन आलोचना** नामक संकलन में इसके सम्पादक डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने किया है । इसमें विभिन्न समकालीन आलोचना अभिगमों पर सोलह विद्वानों के आलेख संकलित हैं। समकालीन कविता पर इसी प्रकार के निबन्धों का संकलन कर डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने समकालीन काव्य प्रवृत्तियों पर इसी प्रकार का एक ग्रन्थ **समकालीन कविता** शीर्षक से प्रस्तुत किया था। उसी प्रकार का यह दूसरा सकलन आलोचना-कर्म के विभिन्न आयामों का अच्छा विवेचन करता है । समकालीन आलोचना में आलोचना-कर्म के मूल उद्देश्यों पर डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर के निबन्ध के बाद आचार्य शुक्ल और शुक्लोत्तर आलोचना, साहित्य का समाज शास्त्रीय अध्ययन; मार्क्सवादी आलोचना आदि पर आलेख हैं। आज की बहुचर्चित आलोचना-प्रक्रिया भी विवेचित हैं। रचनात्मक शैली, विज्ञान-शैली वैज्ञानिक आलोचना और संरचनावादी आलोचना पर आलेख हैं। अन्त में अन्तः-अनुशासनीय समीक्षा के एक नये अभिगम पर भी दो निबन्ध है, जिनमें विज्ञान, इतिहास, राजनीति; मनोविज्ञान आदि सभी दृष्टिकोणों से समन्वित समीक्षा का एक नया अभिगम प्रस्तुत किया गया है। कहना न होगा कि आज के बहुआयामी जीवन के युग में हमारा समूचा दृष्टिकोण, न केवल साहित्य के प्रति, बल्कि जीवन की सभी स्थितियों के प्रति, अंतः-अनुशासनीय होता जा रहा है। आलोचना का भी यह अभिगम देने का दृष्टिकोण उल्लेखनीय है। इन निबन्धों से योरोप, इंगलिस्तान, अमरीका आदि सभी देशों के आलोचना शास्त्रियों के दृष्टिकोणों का परिचय मिल जाता है। डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने 'साहित्य का समाज-शास्त्रीय अध्ययन' में मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी विवेचकों की समाज-चेतनात्मक आलोचना पर एक दृष्टि डाली है। डॉ. हरिमोहन का निबन्ध 'संरचनावादी आलोचना' बहुत व्यापक परिप्रेक्ष्य में, पश्चिम में विकसित हुई नई समीक्षा (न्यू क्रीटीसीजम) के प्रायः सभी आलोचना-शास्त्रियों के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुये भारत के काव्य-शास्त्रियों के सिद्धान्तों से उसकी तुलना करता है। इसमें भामह से लेकर जगन्नाथ पंडितराज तक के मूल सिद्धान्तों के साथ पाश्चात्य आलोचना-शास्त्रियों के प्रतिमानों की जो तुलना की गयी है वह बहुत प्रत्यायक लगती है और सिद्ध करती है कि कवि-कर्म के प्रति समीक्षकों की

दृष्टि जिन मापदण्डों को ले कर चलती है उन्हें हर युग में हम चाहे नया नाम दे दें, मूलभित्ति एक ही रहती है। इस दृष्टि से समस्त नूतनता नये जार्गनों की 'भाषा क्रीडा' ही है।

मिथकीय समीक्षा पर डॉ. अनिल कुमार तिवाडी का तथा प्रतीकवादी; समीक्षा पर डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय का आलेख भी पाश्चात्य आलोचना-शास्त्रियों की विवेचना के साथ भारतीय काव्य-शास्त्रियों का भी उल्लेख करते चलते है।

विभिन्न खेमों के अधिकृत विवेचकों द्वारा लिखे गये इन लेखों में आधुनिक आलोचना के सभी प्रकारों का परिचय पाठकों को मिल जाता है। कुछ निबन्धों से आज के अध्येता आलोचना का वह विश्वजनीन परिप्रेक्ष्य भी हृदयंगम कर सकते हैं जिसके तहत पाश्चात्य देशों में आलोचना-शास्त्र विकसित हो रहा है, और जिसकी संज्ञाओं (शैलीविज्ञान, संरचनावाद आदि) का आतंक हिन्दी में फैला हुआ है। इस संकलन के लिये सम्पादक, जो स्वयं अच्छे विवेचक और समीक्षक हैं, बधाई के पात्र हैं। आलोचना के विभिन्न अनुशासनों का परिचय उनके अधिकृत लेखकों की कलम से प्रस्तुत करवा कर उन्होंने स्वयं एक अन्तः-अनुशासनीय पहल की है। ■

कलानाथ शास्त्री

निदेशक,
भाषा विभाग
अहिंसा सर्किल
जयपुर-३०२००४.
(राजस्थाय)

टिप्पणियाँ

■ उक्त लेख-संग्रह का सोलहवाँ अध्याय 'अन्तः अनुशासनीय आलोचना की प्रस्तावना' इस शीर्षक के साथ परामर्श (हिन्दी) के ग्यारहवें खण्ड के द्वितीयांक में प्रकाशित हुआ था।

—सम्पादक

परामर्श (हिन्दी)

खण्ड ११ के योगदाता

अंक १, दिसम्बर, १९८९

अंक २, मार्च, १९९०

अंक ३, जून, १९९०

अंक ४, सितम्बर, १९९०